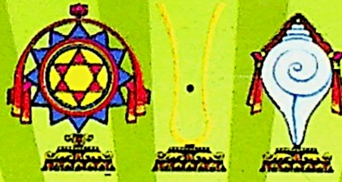
।। श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ।।



।। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ।।

उपदेश दर्शन

ग्रन्थ प्रणेता

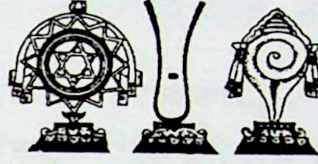
अनन्त विभूषित जगद्‌गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य

श्री "श्रीजी" महाराज

उपदेश-दर्शन

* श्रीसर्वेश्वरो जयति *



॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ॥

उपदेश-दर्शन

ग्रन्थ प्रणेताः--

अनन्त श्रीविभूषित जगद्‌गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य

श्री ''श्रीजी'' महाराज

प्रकाशक--

विद्वत्परिषद्

अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, निम्बार्कतीर्थ

सलेमाबाद, पुष्करक्षेत्र जि. अजमेर (राज०)

श्रीगुरुपूर्णिमा महोत्सव

वि० सं० २०६६ श्रीनिम्बार्काब्द ५१०५

पुस्तक प्राप्ति स्थान--

अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ

निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद)

तृतीयावृत्ति--२०००

मुद्रक--

श्रीनिम्बार्क - मुद्रणालय

निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद)

न्यौछावर

40) रुपये

॥ श्रीसर्वेश्वरो जयति ॥

॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ॥

समर्पण

सर्वेश्वर श्रीकृष्ण-कर, कंज-चक्र अवतार ।
श्रीनिम्बार्काचार्यप्रभु, चरणकमल चित धार ॥१॥

सद्-विवेक-अनुराग का, मदीय चित्त अभाव ।
कृपादृष्टि अभिषिक्त कर, भरदें शुभ सद्भाव ॥२॥

लघु लेखात्मकरूप है, लघु भावात्मक सार ।
शास्त्र विहित लघु ग्रन्थ यह, लघु-लघु निगम-विचार ॥३॥

'उपदेश-दर्शन' पुस्तिका, श्रीमत्कृपा-प्रसाद ।
श्रीपदपकंज समर्पित है, पुनि-पुनि है अभिवाद ॥४॥

आश्विन शुक्ल शरत्पूर्णिमा
शनिवार, वि० सं० २०५०

समर्पक-
श्रीभगवनिम्बार्काचार्य-कृपापिपासु
श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य

''कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते''

अनन्त कृपापयोधि भगवान् श्रीराधासर्वेश्वर उन अनन्य शरणापन्न साधक-भक्तों को अपनी अहैतुकी कृपा-कादम्बिनी से अभिषिक्त करते हैं जिनका कि निर्मल पवित्रान्तःकरण दैन्य-सारल्यादि सद्‌गुणों से ओत-प्रोत हो। जीवन की प्रत्येक क्रिया श्रीभगवद्भक्तिरस से सम्पृक्त हो। वस्तुतः वही जीवन परम सार्थक है जिसकी गति-मति सर्वस्व सर्वाधार परमाराध्य युगलकिशोर श्रीराधामाधव हो । और यह सब होता तब है जब उत्तम-श्लोक आप्त-पुरुषों का पावन सङ्ग मिले । देवर्षिप्रवर श्रीनारदजी ने ''नारद भक्तिसूत्र'' में ''यो महानुभावं सेवते'' अर्थात् पुण्यश्लोक महानुभावों का जो सङ्ग करता है वह भवार्णव से सरलता से तर जाता है। श्रेष्ठ पुरुषों के सङ्ग से श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादि उत्तमशास्त्रों के सतत अनुशीलन से साधक भक्त श्रीसर्वेश्वर-पराभक्ति एवं दैन्यादि गुण प्राप्त कर लेता है तब सहज ही में श्रीभगवत्कृपा की पात्रता स्वाभाविक है।

इसी दृष्टि से ही प्रस्तुत ''उपदेश-दर्शन'' के आलेखन का प्रमुख लक्ष्य रहा है । यदि भावुक जनों ने इसका यत्किञ्चित् भी मनन करके सत्प्रेरणा प्राप्त की तो ग्रन्थ की उपादेयता सार्थक होगी । जीवन क्षणभङ्गुर है पता नहीं कब यह अकस्मात् विलय हो जाय । अतः वही उत्तम मानव है जो सद्धर्म परायण होकर श्रीप्रभु भक्ति में अपने अमूल्य समय को समर्पित करे । जिसकी परिणति परम सुखावह होगी ।

मिति-आश्विन शुक्ल १५
शरद्पूर्णिमा वि. सं. २०५०

--श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य

* प्राक्कथन *

मानव जीवन को उज्ज्वल तथा व्यवस्थित बनाने के लिए उपदेश की आवश्यकता रहती है । माता, पिता, गुरु, विशिष्ट महानुभाव एवं धर्माचार्यों से उपदेश ग्रहण कर मनुष्य सन्मार्ग पर अग्रसर होता है । इसके अभाव में प्रायः लोगों का स्वभाव व आचरण पवित्र नहीं रहता । ''श्रुत्वा धर्मं विजानाति श्रुत्वा पापं परित्यज्येत्'' महापुरुषों के उपदेश श्रवण करके ही मनुष्य धर्म के रहस्य को जानता और उस ओर प्रवृत्त होता है एवं उपदेश श्रवण करके ही पाप के स्वरूप को जानता है और उससे निवृत्त होता है । अतएव सुदर्शनचक्रावतार श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यजी ने 'वेदान्त दशश्लोकी' के अन्तिम पद्य में उपास्य-उपासक के स्वरूप, कृपाफल एवं भक्तिरस के साथ इनके विरोधी तत्त्व को भी आवश्यक रूप से जानने का उपदेश दिया है। धर्म विरोधी तत्त्वों के परिज्ञान के बिना धर्माचरण सुदृढ नहीं बन सकता।

कोटि-कोटि जनों के हृदयाराध्य अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज ने अपने ५० वर्षों के आचार्यत्वकाल में लोक कल्याण हेतु भारत के विभिन्न अञ्चलों में अपनी ऐतिहासिक यात्राओं, सम्मेलनों, विविध धार्मिक आयोजनों, कुम्भ पर्वों तथा यज्ञानुष्ठानादि कार्यक्रमों में सदुपदेशों द्वारा मानव समाज को महत्वपूर्ण दिशा दी है । आपश्री ने अपनी साहित्य साधना के अन्तर्गत विविध प्रसङ्गों पर अपने उपदेशात्मक निबन्धों का ''उपदेश-दर्शन'' नामक ग्रन्थ का रूप दिया है । भारत की धर्मप्राण जनता इस ग्रन्थ के माध्यम से धर्म के रहस्यों, कर्तव्यों, धर्मानुष्ठान की विधियों को जानकर कृतकृत्य होगी ऐसा हम दृढ विश्वास करते हैं । यह उपदेशावली पुष्पवत् कोमल शब्दावली के कारण वनमाला एवं रत्नवत् उज्ज्वल शब्दावली के कारण वैजयन्ती की तरह शोभायमान है । अतः इन उपदेशों को कण्ठहार की तरह धारण करके भावुक जनों को अपना जीवन सार्थक बनाना चाहिए।

विदुषां वशंवद--

वासुदेवशरण उपाध्याय
प्राचार्य-श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय
निम्बार्कतीर्थ-सलेमाबाद जि० अजमेर (राजस्थान)

* निवेदन *

जब यह जीव प्रभु-विमुख होकर इस संसार में आता है, तब उसे विविध योनियों में पूर्व संचित कर्मानुसार भ्रमण करना ही पड़ता है। जीव का स्वरूप शास्त्रों में आनन्दमय बताया है, इसलिये वह सर्वत्र आनन्द की खोज में लगा रहता है, किन्तु इस जागतिक जगत् में उसे आनन्दोपलब्धि नहीं हो पाती है जन्म-जन्मान्तरों का उसका प्रयास व्यर्थ हो जाता है क्योंकि वह आनन्द प्रभु-स्मरण-चिन्तन में ही है, और वह खोजता हैं इस संसार में और वह आनन्द प्रभु-स्मरण-चिन्तनादि सच्छास्त्रानुशीलन एवं सत्पुरुषों के सङ्ग से ही प्राप्त होता है, यह सब प्रभु कृपा साध्य हैं । जब कृपामय श्रीयुगलकिशोर श्यामा-श्याम प्रभु जिस पर कृपा करते हैं तब अनायास ही सत्संग, सत्-शास्त्र चिन्तन में उनकी प्रवृत्ति हो जाती है । सत्संग, स्वाध्याय आदि की शास्त्रों में अपार महिमा वर्णित है। यह शास्त्रीय वचन भी इसी का द्योतक है, यथा--

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।

अर्थात्-एक क्षण के सत्संग की तुलना न तो स्वर्गादि वैभवों से होती है और न मोक्ष से ही उसकी बराबरी की जा सकती है, यह सब प्रभु का ही परम कृपा प्रसाद है, और जब जिस प्राणी पर प्रभु प्रसन्न होते हैं, तभी उसे देव-दुर्लभ मानव-देह प्रदान करते हैं, जिससे अनायास ही वह प्राणी भवसिन्धु को एक साधारण अल्प जलाशय की भाँति सहज में ही पार कर जाता है, श्रीभागवतजी का स्पष्ट उद्‌बोधन है कि--

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ।।

अर्थात्-जीवात्मा के लिये यह नर-देह भवसिन्धु-संतरण की सुदृढ नौका है, तथा इसके कर्णधार अर्थात् (केवट) कृपावतार श्रीगुरुदेव ही है,

तदपि स्वयं श्रीप्रभु भी सत्संग-स्वाध्याय आदि का सुयोग सतत प्रदान करते ही रहते हैं, इतने विपुल कृपा प्रसाद पर भी प्रमादी जीव भवसागर पार नहीं कर पाता है, उसे शास्त्रों में आत्महा कहा गया है ।

अतः इसी पावन सत्संग सदुपदेश लाभार्थ ही हमारे पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) ने ''उपदेश-दर्शन'' नामक दिव्य ग्रन्थरत्न की सुललित मधुर रचना कर इसे प्रकाशित कराने की महती अनुकम्पा की है ।

अतः सभी साधक पाठकवृन्दों को इसक पठन-मनन-स्वाध्याय-अनुशीलन आदि से अनुपम मार्ग-दर्शन होगा और मानव जीवन के लिये परम उपादेय सिद्ध होगा ।

निवेदक :--

पं० मुरलीधर शास्त्री

प्रेमसरोवर (बरसाना)

मथुरा (उ० प्र०)

* विषय - सूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.

क्र.सं. विषय पृष्ठ सं.

*

॥ श्रीसर्वेश्वरो जयति ॥

॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ॥

* मङ्गलाभिवन्दनम् *

राधासर्वेश्वरं देवं हंसरूपं परात्परम् ।
सनन्दनादिकं वन्दे देवर्षिं नारदं मुदा ॥१॥

निम्बार्काचार्यवर्यञ्च प्रियाचार्यं जगद्गुरुम् ।
श्रीमन्मुकुन्दकृष्णस्य चक्रावतारमाश्रये ॥२॥

राधाकृष्णपराभक्ति - द्वैताद्वैत-प्रदर्शकान् ।
पूर्वाचार्यान्हृदा वन्दे सर्वेशसमुपासकान् ॥३॥

श्रीगुरुचरणाम्भोजं प्रणम्य श्रद्धया मया ।
वितन्यते प्रबोधाय शुभोपदेश - दर्शनम् ॥४॥



श्रीकृष्णाह्लादिनी महानन्दरूपा श्रीराधा

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, ब्रह्मरुन्द्रादिदेववन्दित, परात्परतत्त्व, रसपरब्रह्म, आनन्दकन्द नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की अनन्त आनन्द-शक्ति समूह में सर्वोपरि प्रधान शक्ति आह्लादिनी भक्तिरस प्रदायिनी नित्यनिकुञ्जेश्वरी वृषभानुतनया श्रीराधा है । ये अखिल रस समूह की एकमात्र निधि हैं । सर्वेश्वर नित्यनिकुञ्जविहारी श्रीश्यामसुन्दर जिन्हें सतत अपनी लोकोत्तर ललित लीलाओं से समुल्लसित कर दिव्य रसामृत का प्रतिक्षण आस्वादन करते हैं। जिनके श्रीयुगलपदकमल के दिव्य नव नूपुर की महामङ्गलमयी परम मधुर झङ्कृति ध्वनि से निमिष में ही अनन्त ब्रह्माण्डों का सृजन और तिरोधान हो जाता है। उपनिषदों, पुराणतन्त्रादि ग्रन्थों रसिकाचार्यों की सरस वाणियों के ये ही सर्वस्व आराध्य तत्त्व हैं । आद्याचार्य श्रीमन्निम्बार्क भगवान् ने तो ''वेदान्त कामधेनुदशश्लोकी'' एवं ''श्रीराधाष्टक'' में इन्हीं को अपना परम इष्ट और सर्वोपरि परम तत्त्व निर्दिष्ट कर अतिशय कमनीयता से अनिर्वचनीय वर्णन किया है ।

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमाना-मनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ।।

(वेदान्त कामधेनु)

यदङ्कावलोकं महालालसौघं मुकुन्दः करोति स्वयं ध्येयपादः ।
पदं राधिके ते सदा दर्शयान्तर्हृदिस्थं नमन्तं किरद्रोचिषं माम् ।।
सदा राधिकानाम जिह्वाग्रतः स्यात् सदा राधिकारूपमक्ष्यग्र आस्ताम् ।
श्रुतौ राधिका कीर्तिरन्तः स्वभावे गुणा राधिकायाः श्रिया एतदीहे ।।

इसी प्रकार श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने भी 'श्रीमहावाणी' ग्रन्थ में अनेक पद समूह से श्रीकृष्णवल्लभा, रसिकहृदयाराध्या, नित्यनवसखीजन सेविता, परम प्रियतमा श्रीराधिकाजी के असमोर्द्ध्व स्वरूप का मनोहर दर्शन कराया है। ''श्रीमहावाणीजी'' से समुद्धृत निम्नाङ्कित एक पद से रसिक भक्तजन श्रीप्रिया पद पङ्कज पराग का पान कर अपने अन्तर्मानस को श्रीराधासुधासिन्धु में आप्लावित करें।

जय श्री राधिका रसभरी ।
रसिक सुन्दर साँवरे की प्रान-जीवन-जरी ।।
गौर अंग अनंग अद्‌भुत सुरति-रंगनि-ररी ।
सहज संग अभंग जोरी सुभग-सांचे-ढरी ।।
परम प्रेम-प्रकाश-पूरन परपयोधिनि परी ।
हितू 'श्रीहरिप्रिया' निरखत निकट निज सहचरी ।।

व्रज के सर्वस्व श्रीश्यामाश्याम

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक सर्वनियन्ता श्रीसर्वेश्वर जो निखिल विश्व ब्रह्माण्ड के एकमात्र कारण हैं, जिनके सामान्य सङ्कल्प मात्र से ही अखिल ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है, ब्रह्मेन्द्रादि देव जिन सर्वेश्वर की अनवरत स्तुति गान करते हैं वे ही परात्पर सर्वान्तरात्मा व्रजवृन्दावनविहारी श्रीश्यामाश्याम के रूप में व्रज की मञ्जु निकुञ्जों में व्रजगोप एवं व्रजललनाओं के साथ ललित केलि विलास कर व्रज रस रसिकों को दिव्य रसामृत सिन्धु में अवगाहन करा अपरिमितानन्द का पान कराते हैं। ये नित्य नवनिकुञ्ज विहारी श्रीयुगलकिशोर जिनके एक-एक रोम कूप से कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का सृजन होता है, वे ही व्रज रस रसिक प्राणधन श्रीप्रिया प्रियतम व्रज वसुन्धरा की परम रमणीय पावन वीथियों में व्रज गोप-गोपी-गो-यूथ ही नहीं अपितु शुक-पिक-सारिका-मयूर-वानरादि पशु-पक्षी समूह से अनिर्वचनीय रसमयी लोकोत्तर चित्र-विचित्र लीलाओं का आस्वादन लेते हैं । वस्तुतः ये नव-दम्पति श्रीश्यामाश्याम व्रज के सर्वस्व और सर्वाधार हैं जिन युगल प्रियालाल की दिव्यातिदिव्य अनुपम मुखचन्द्र-माधुरी का प्रतिपल पान कर व्रज के ये यावन्निखिल व्रजवासी-जन अपने जीवन की सार्थकता और परम कृतार्थता का अनुभव करते हैं ।

इसी अपरिमेय दिव्य भाव की अभिव्यक्ति श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यपादपीठाधिरूढ श्री श्रीभट्टदेवाचार्यजी महाराज ने अपने 'युगलशतक' ग्रन्थ में बड़ी ही मनोहरता और सरसता से की है ।

निशिदिन लगिय रहौ यह लालस ।

श्यामाश्याम चरण की सेवा, बिना आन सों उपजो आलस ।।
कहत सुनाय सुमन वच क्रम करि, उरझि रहौ जिय जुग-जुगजास।
जय 'श्रीभट्ट' प्रघट घटना में, ढरौ सदा मन मोर सुढालस ।।१।।
गौर श्याम अभिराम विराजैं ।
अति उमंग अंग अंग भरे रंग, सुकर मुकुर निरखत नहिं त्याजैं।।
गंड सों गंड वाहु ग्रीवा मिलि, प्रतिबिम्बत तन उपमा लाजैं ।
नैन निचोल विलोकि वदन शशि, आनन्द सिन्धु मगन भये भ्राजैं।।
नील निचोल पीत पट के तट, मोहन मुकुट मनोहर राजैं ।
घटा छटा आखंडल को दँड, दोउ तन एक देश छवि छाजैं।।
गावत सहित मिलत गति प्यारी, मोहन मुख मुरली सुरवाजैं ।।
(जै) 'श्रीभट्ट' अटकि परे दम्पति, दृग मूरति मनहुँ एकही साजैं।।

तीर्थ सेवन से अनन्त फल की प्राप्ति

जिस प्रकार व्रत, नियम, आचार, उपवास, तप, नाम-कीर्तन, स्वाध्याय, सत्कर्मानुष्ठान, धर्माचरण, दया, दान, परोपकार, दीन-सेवा, सत्यपालन, पितृ-सेवा, गुरु-सेवा, देव मन्दिर दर्शन आदि-आदि इन पावन सत्कर्मों का जो असीम सत्फल प्राप्त होता है । उसी प्रकार तीर्थ-यात्रा तीर्थ सेवन से भी परम फल की प्राप्ति होती है । भारतवर्ष अगणित तीर्थों का महान् पावन स्थल है। सृष्टि के आदि से ही ऋषि, मुनि, तपस्वी, योगी, यति, सती एवं महान् सन्तों ने, उत्तमश्लोक महापुरुषों ने तीर्थों का अनुसवेन किया एवं वे तीर्थ यात्रायें करते रहे हैं। वैदिककाल के वामदेव, अगस्त्य, विश्वामित्र, प्रभृति अनेकानेक महर्षि-मुनीश्वरों ने पुष्करादि दिव्य तीर्थ स्थलों पर दीर्घकाल पर्यन्त तपोनिरत रहकर इष्ट आराधना पूर्वक दिव्य फल की उपलब्धि की है। चारों धाम सप्तपुरी, द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग, गंगा-यमुना-सरस्वती-सरयू-कृष्णा, कावेरी, गोदावरी-नर्मदा-मन्दाकिनी-क्षिप्रा-चन्द्रभागा-ताप्ती, अलकनन्दा-गण्डकी-चर्मण्वती-नन्दा-प्राची इत्यादि पुण्य सलिलाओं एवं रत्नाकर महोदधि आदि महासागरों की पवित्र वसुधा पर हमारा भारत देश परम सुशोभित है । जहाँ पर जिज्ञासु साधकों ने इन परम

पवित्र तीर्थों में सतत तपःसाधना करते हुए अपने मानव जीवन को चरितार्थ एवं कृतार्थ किया है । वस्तुतः इन तीर्थों की महिमा ही ऐसी है, जिनके मंगलमय क्रोड में अनवरत निवास रत रहकर परमानन्दानुभूति की है। यथार्थ में तीर्थों का स्वरूप ही ऐसा है ।

तीर्थ निवास काल में अपनी चर्या को सात्विक रूप से रखते हुए श्रीहरि की आराधना में संलग्न रहे । किसी के अहित-अमङ्गल की कामना मनसा, वाचा, कर्मणा भी न करे । सर्वदा अमलात्मा महात्माओं श्रेष्ठ पुरुषों का ही सत्सङ्ग करे । किसी भी प्राणी को कभी भी कष्ट पहुँचाने की अन्तःकरण में सोचे तक भी नहीं ।

जो साधक कदाचित् ज्ञाताज्ञात किसी भी अवस्था में यदि तीर्थों में पवित्र धामों में किसी भी प्रकार का पापाचरण करले तो उसका निवारण बड़ा ही कठिन हो जाता है ।

अन्य क्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति ।
तीर्थ-क्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥

इस शास्त्रीय वचन से स्पष्ट है कि अन्य किसी स्थान पर किया गया पाप तीर्थ स्थल के सेवन से विनष्ट हो जाता है । परन्तु तीर्थ-धाम आदि पावन स्थलों पर किया गया पाप वज्र तुल्य अर्थात् उसका परिहार अतीव कठिन हो जाता है । अतः श्रद्धालु भावुकों को साधकजनों को तीर्थ निवास काल में बड़ी ही सावधानी से दुष्कृत्यों से अपने को सुरक्षित रखना अतीव अभीष्ट है। तीर्थ निस्सेवन के अवसर पर सात्त्विक आहार, सत्य पालन, सदाचार, स्वाध्याय, अतिनिद्रात्याग, मौनालम्बन अर्थात् अल्पभाषण, सत्सङ्ग, श्रीभगवन्नाम संकीर्तन, मन्त्र-जपानुष्ठान, अपरिग्रह इत्यादि नियमों का अनुपालन बड़ी ही दृढता से करे । जिससे सहज ही में करुणार्णव श्रीसर्वेश्वर परम प्रमुदित होकर अपने सरल प्रपन्न जनों पर अपनी अकम्पानुकम्पा से उस परमानन्द को प्रदान कर देंगे, जिसको प्राप्त कर लेने पर फिर क्लेशमय इस भवाटनी के भीषण सञ्चंक्रमण का सर्वदा के लिये परिहार हो जायेगा। 'न स पुनरावर्तते' 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' इत्यादि इन श्रुति-सूत्र-श्रीमद्भगवद्गीता के वचनों से नितान्त निर्णीत है। अतः भक्तिनिष्ठ भगवज्जनों को श्रीभगवत्प्राप्ति के साथ

तीर्थों का अनुसेवन कर मनुज-जीवन को चरितार्थ करना परम अभीष्ट कर्तव्य होना चाहिये ।

व्रज और व्रजवासी

प्रथम तो भारत की कमनीय वसुन्धरा ही परम पावन है और उसमें भी उस पर अवस्थित अनेकानेक अतिशय सुरम्य वनोपवन विशालतम नगर, ग्राम, ग्रामवाटिका एवं अतिशय मनोहर असंख्य तीर्थ और अनेक पुनीत धाम अपनी अनिर्वचनीय महामहिमा को लिए हुए लोक-लोकान्तरों को भी आनन्दित करते हैं । इन सभी तीर्थ धामादिकों में सर्वोपरि सर्वोत्कृष्ट परम दिव्य धाम श्री व्रजधाम है । स्वर्ग ब्रह्मलोक वैकुण्ठादि लोकों को विलज्जित करने वाला यह व्रजधाम अपनी अपरिमेय सच्चिदानन्दमयता से नित्यनिकुञ्जविहारी युगलकिशोर श्रीश्यामाश्याम को भी सतत अपनी ओर आकृष्ट किये हुए रहता है । जिसकी अतुलनीय गरिमा श्रुति-स्मृति-पुराण-तन्त्रादि शास्त्रों रसिकाचार्य सन्त-महात्माओं एवं विशिष्ट भगवद्भक्तों की सरस वाणियों में विस्तृत रूप से वर्णित है।

इस व्रजधाम के एक-एक रजःकण की प्राप्ति के लिए विधि-शेष-महेश-गणेश-स्वर्गेश-गन्धर्व-किन्नर प्रभृति देववृन्द एवं व्यास-शुक-शौनक-सनक-नारदादि देवर्षि महर्षि मुनिजन भी प्रतिपल उत्कण्ठित रहते हैं । उसी व्रज की अनुपम रजरेणु में अनवरत लुण्ठित होने वाले वे व्रजवासी परम धन्य-धन्य एवं सौभाग्यशाली हैं जो निखिलदेव वन्दित इस व्रज की चिन्मय अवनि पर निरन्तर निवास करते हुए अपने प्रेमास्पद हृदयाराध्य नित्य नवकिशोर श्रीप्रियालाल की ललित रूप माधुरी का निर्निमेष दृष्टि से अनवरत पान करते हैं । इनके सौभाग्य का इस प्राकृतिक जगत् में प्राकृत भाषा में किस माध्यम से प्राकृत मानव के द्वारा किस प्रकार यह अवर्णनीय वर्णन संभाव्य है ।

श्रीमद्भागवत में पितामह ब्रह्मा ने सर्वेश्वर श्यामसुन्दर श्रीगोविन्द का स्तवन करते हुए ''अहो भाग्य-महोभाग्यं नन्दगोप व्रजौकसाम्'' कहकर व्रजैकजीवन इन व्रजजनों के सौभाग्य का कितना अद्भुत भाव अभिव्यक्त

किया है । और ''तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां, यद्गोकुलेऽपि कतमाऽङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्'' इस वचन से स्वयं के व्रजवास की अभिलाषा प्रकट की है। इसी प्रकार श्रीश्यामसुन्दर के प्रियसखा श्रीउद्धव का मनोरथ भी ''आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां, वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्'' इस वाक्य से स्पष्ट है। एवंविध शास्त्रान्तरों के विविध वचन यही प्रतिपादित करते हैं ।

श्रीमन्निम्बार्क भगवान् के परवर्ती पूर्वाचार्य श्रीविलासाचार्यजी महाराज ने व्रज वृन्दावन के महत्व को अपने 'श्रीकृष्णस्तवराज' में बड़े ही मनोरम रूप से संदर्शित किया है ।

पारशून्य-परधाम तेऽद्भुतं, चिद्घनं जयति लोकमूर्द्धनि ।
व्यापकं च परिखा सरिद्वराऽचिन्त्यशक्ति नवमङ्गलध्वनि ।।

आदिवाणी युगल-शतककार श्री श्रीभट्टदेवाचार्यजी महाराज ने तो अपनी परम मधुर पदावली से व्रज का कितना मनोहर वर्णन किया है। जिसे अवलोकन करते ही व्रज की दिव्य छवि हृदयस्थल में आविर्भूत हो उठती है। 'श्रीयुगलशतक' के इस निम्नांकित पद से ही रसिक भावुक भक्तजन व्रज रस का आस्वादन प्राप्त करें ।

व्रजभूमि मोहनी मैं जानी ।
मोहन कुञ्ज मोहन श्री वृन्दावन, मोहन यमुना पानी ।।
मोहनी नारि सकल गोकुल की, बोलत मोहनी बानी ।।
''श्रीभट्ट'' के प्रभु मोहन नागर, मोहनि राधा रानी ।।

श्री प्रभु को दैन्य भाव ही प्रिय है

जो मानव अपने को अतिशय दैन्य भाव युक्त मान कर अपने आराध्य के ध्यान में संलग्न रहता है, वह सहज ही में श्री भगवत्कृपा का अधिकारी बन सकता है । जगन्नियन्ता श्रीसर्वेश्वर जो दीन हैं, सरल हैं, दम्भ रहित होकर सत्कर्म में प्रवृत्त हैं, उन प्राणियों को अपनी अहैतुकी कृपावृष्टि से अभिसिञ्चित कर उन्हें आनन्दसुधा रस का दिव्य आस्वादन प्रदान कर परितृप्त करते हैं । वे कृपामय प्रभु अभिमान युक्त प्राणी को कभी

भी अपने कृपा-कटाक्ष से नहीं निहारते अपितु उसे भवाटवी के भयङ्कर दुःख-पङ्क में निमग्न कर शिक्षा प्रदान करते हैं । देवर्षिवर्य श्रीनारदजी ने अपने 'नारद भक्ति सूत्र' में ''ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च'' उपदेश कर दैन्यभाव की ही पुष्टि की है । श्रीमद्भगवद्-गीता में जब अर्जुन ने अत्यन्त दीन होकर शिष्य भाव से जब यह कहा ''शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'' तभी सर्वेश्वर श्रीश्यामसुन्दर ने-

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोमध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।।

प्रसन्न होकर 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' से गीता का उपदेश प्रारम्भ किया है।

सुदर्शनचक्रावतार श्रीनिम्बार्क भगवान् ने भी अपने 'वेदान्तकामधेनु ग्रन्थ में ''कृपास्य दैन्यादियुजिप्रजायते'' अर्थात् दैन्यादि लक्षणयुक्त प्राणी ही श्री भगवत्कृपा का पात्र बन सकता है । यह बड़ा ही सारगर्भित आपका उपदेश है । आपके ही परवर्ती आचार्यपादो ने भी ''त्वां प्रयामि शरणं शरण्यकम्'' शरण शब्द से दैन्य भाव ही व्यक्त किया है । ''चेरो करि राखो घर जायो'' इस पद वाक्य से भी श्रीभट्टदेवाचार्यजी महाराज ने दैन्य भाव पर ही बल दिया । सम्पूर्ण शास्त्रों, प्राचीन-अर्वाचीन समस्त सन्त महात्माओं एवं धर्माचार्यों का भी यही उपदेश है । महाप्रभु श्री चैतन्य ने तो स्पष्टतः-

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ।।

वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु, तृण से भी अधिक विनम्र (दीन), दूसरों का सम्मान-पूर्वक स्वयं अमानी रहकर सतत श्रीहरि का स्मरण करे। यह अति मार्मिक वचन कहा है ।

इसी प्रकार सभी महापुरुषों के यही उपदेश प्राणीमात्र को इसी ओर इङ्गित करते हैं कि सदा दीन बनकर अपने परमाराध्य के चिन्तन में अग्रसर हों । वे अकारणकरुणावरुणरलय श्रीहरि केवल विशुद्ध दैन्यभावयुक्त भक्ति ही चाहते हैं । इसीलिए तो अर्जुन को ''मामेकं शरणं व्रज'' का सर्वोपरि आदेश दिया। अतएव भक्तजनों को सदा इस सर्वश्रेष्ठ दैन्य भाव का आश्रय लेकर अपने प्रेमास्पद के आराधन में संलग्न रहना चाहिए ।

श्रीभगवद्भक्ति के बिना सब व्यर्थ है

जागतिक सभी साधनों की उपलब्धि स्वर्गीय सुखद सामग्री का उपभोग अनेक दिव्य लोक-लोकान्तरों के अमित वैभवों की परितृप्ति ये सभी युगलकिशोर श्यामाश्शाम श्रीराधामाधव की निर्हैतुकी विमल भक्ति के बिना सर्वथा ही निरर्थक है । भक्त शिरोमणि प्रह्लाद ने श्रीमद्भागवत के इस वचन से बड़ा ही सारग्राही उपदेश किया है ।

विप्राद् द्विषड़गुणयुतादरविन्दनाभ-,
पादारविन्दविमुखाच्छ्रवपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ।।

धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि तथा योग इन द्वादश गुणों से परिपूर्ण ब्राह्मण भी यदि कमलनाभ श्रीहरि के पावन पदपङ्कजों से पराङ्मुख हो तो उससे कहीं उत्तम वह श्वपच है जिसके द्वारा मन, वचन, कर्म धन एवं प्राण ये सभी श्रीप्रभु के समर्पित है। वस्तुतः यह श्वपच अपने कुल को भी पवित्र बना देता है। उच्चता का अहंभाव रखने वाला ब्राह्मण स्वयं को भी पवित्र करने में समर्थ नहीं ।

इसी कथन की ओर इङ्गित करते हुए श्रीभगवन्निम्बार्कपादपीठाधीश्वर श्रीविलासाचार्यजी महाराज ने ''श्रीकृष्णस्तवराज'' के अन्तिम श्लोक से अतिशय मार्मिक उपदेश प्रदान किया है।

प्राप्य जन्म यदि मानुषं नरः, सेवते न तव पादपङ्कजम् ।
धिक् च जन्म कुलमादिदेव ! तद्, यौवनादि सकलं न शोभते।।

हे समस्त देवादिकारण प्रभो ! यह जीवात्मा कभी मानव शरीर को प्राप्त करने पर भी आपके कमनीय चरणाम्बुजों का सेवन नहीं करता हो ऐसे उस प्राणी के जन्म, कुल को धिक्कार है, उसके यौवन, धन प्रभृति सम्पूर्ण वैभव राशि शोभायुक्त नहीं हो सकती क्योंकि इस निखिल जगत् में एकमात्र आपकी पराभक्ति ही आधार है । अखिल वेदादि शास्त्रों का भी यही निष्कर्ष है ।

आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् ने अपने ''वेदान्त कामधेनु'' ग्रन्थ

में ''उपासनीयं नितरां जनैः सदाः'' ''नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्'' आदि विविध वाक्यों से भगवद्भक्ति के अवलम्ब का उपदेश किया है । वेद, पुराण, स्मृति, सूत्र, तन्त्रादि सम्पूर्ण धर्मशास्त्र एवं आचार्य सन्त महापुरुषों की भक्तिपूर्ण दिव्य वाणियाँ भी यही प्रेरणा दे रही हैं । श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं श्रीप्रभु ने अपने श्रीमुख वचन से नाना विधा उपदेशामृत की अनुपम कृपावृष्टि की है। ''भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया'' ये भजन्ति तु मां भक्त्या'' ''भक्त्या त्वनन्यया शक्यः'' ''मयि भक्तिं निवेशय'' ''अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्'' ''भजते मामनन्यभाक्'' ''मामेकं शरणं व्रज'' आदि दिव्योपदेश लोक प्रसिद्ध हैं। अतएव मानव को श्रीभगवद्भक्ति रस सिन्धु में अवगाहन कर अपने जीवन को कृतार्थ करना चाहिये, इसके राहित्य में सभी आमूल चूल व्यर्थ है।

''नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्''

निखिल शास्त्रों के अनुशीलन एवं पूर्वाचार्यपाद तथा सन्त-महात्माओं की दिव्य एवं अमृतमयी मधुरवाणी श्रवण से सुनिश्चित है कि यदि मनुष्य अपना आत्मकल्याण करना चाहे तो वह परमानन्दनिकेतन निरतिशय-सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्याद्यनन्त-कल्याणगुणार्णव दिव्यमङ्गल-विग्रह युगलकिशोर श्यामाश्याम श्रीराधाकृष्ण के दिव्य पादपद्मों का समाश्रय ले । बिना उसके अवलम्बन के अन्य कोई भी मार्ग नहीं, ''नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'' अतः उन नित्य-निकुञ्जरासरसप्रदायक श्रीप्रियाप्रियतम प्रभु के शरणागत होकर नित्य निरन्तर नियमित रूप से उनका चिन्तन स्मरण करे ।

जब मनुष्य उनके शरणागत अनुगत हो जाता है, सर्वभावेन आत्म-समर्पण कर देता है तभी भक्तवत्सल, करुणावरुणालय श्री प्रभु स्वतः उसे अपनी कृपादृष्टि से सिञ्चित करके अपना लेते हैं । सदा के लिए अपने दिव्यातिदिव्य पादपद्मों का मत्त मधुप बनाकर अनवरत अनिर्वचनीय आनन्दामृत का पान कराते हैं । तथा श्रीयुग्म-रास-रस-मधुकर, रसिक भक्त उन शरणागत महानुभावों की सर्वप्रकार से रक्षा के निमित्त सदा सर्वदा

सन्नद्ध रहते हैं:--

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारासागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।

हे अर्जुन ! मेरे में चित्त को स्थिर रखने वाले उन परम प्रेमी भक्तों का भी बहुत शीघ्र ही इस मृत्युरूपी संसार सागर से उद्धार करता हूँ ।

इतना ही नहीं, अपने पदाम्बुजाश्रित परम प्रिय भक्तों के हेतु वे क्या-क्या नहीं करते ?

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।

जो अनन्य भाव से मेरे में स्थित रहने वाले भक्तजन मेरा सतत चिन्तन करते हुए मुझे निष्काम भाव से मुझ में ही प्रतिष्ठित उन भक्तों के निमित्त मैं स्वयं उनका योगक्षेम वहन करता हूँ ।

अधिक क्या कहा जावे । भक्त शिरोमणि प्रह्लाद के प्रति भगवान् नृसिंह अपने विलम्ब से आने के विषय में कहते हुए किस प्रकार भक्त से क्षमा याचना करते हैं--

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेत-
त्क्वेता प्रमत्तकृत-दारुण-यातनास्ते ।
नाऽलोकितं विषममेतदभूतपूर्वं
क्षन्तव्यमङ्ग ! यदि मे समये विलम्बः ।।

''प्रह्लाद ! कहाँ तो तेरा यह सुन्दर शरीर तथा कितनी सुकुमार अवस्था और उस प्रमत्तदुर्दान्त द्वारा तुझ पर भीषण यातनायें, इस प्रकार का यह अभूतपूर्व दृश्य मैंने कभी नहीं देखा। प्रह्लाद मुझे बहुत पहले ही तेरी रक्षार्थ आना चाहिए था, किन्तु मुझे आने में जो विलम्ब हुआ, उसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ ।''

वस्तुतः कितनी अनुकम्पा है श्री प्रभु की अपने परम प्रीति भाजन भक्तों पर। भक्तों पर ही नहीं भक्तेतरों पर ही सहज अनुग्रह देखा जाता है। फिर यह मनुष्य इस संसार चक्र में इतस्ततः सञ्चक्रमण करता रहता है । ऐसे करुणार्णव कृपालु प्रभु की कृपा कादम्बिनी के परिवर्षण होने पर भी कितने ही ऐसे अभागे पुरुष है जो अनिश्चित काल तक इस अतिशय

दुःखमय भव-बन्धन में जकड़े रहते हैं ।

यदि उन्हें इस भवाब्धि पार होने है तो उनके लिए एकमात्र गति श्रीयुग्मचरणारविन्दावलम्बन ही हैं। उन्हीं का पूर्ण रूप से आश्रय ग्रहण करना चाहिए। इसी में परम हित है।

विवेक - चतुष्टय

महाभारत में मेधावी का यह निम्नोपदेश विपथगामी पतनोन्मुखी मानव को सन्मार्गकी ओर प्रवृत्त कराने के लिए परमोपादेय है।

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ।।

इस निखिल विश्व में विद्या के समान दिव्य नेत्र नहीं है, सत्य के समान किसी प्रकार का तप नहीं है, क्रोध के समान कोई अन्य दुःख नहीं है और नहीं है त्याग के समान कोई परम सुख ।

वस्तुतः विद्या की उपलब्धि से मानव ज्ञान पुञ्ज का संचय कर सत्कर्म में अभिरत हो परमात्मसुख की अनुभूति करता है। ''विद्ययाऽमृत-मश्नुते'' यह उपनिषद् का महावाक्य इसी का प्रतिपादन करता है। इसी प्रकार सत्य पालन से प्राणी सत्य स्वरूप भगवान् श्रीसर्वेश्वर के अनिर्वचनीय दर्शन कर अपरिमित आनन्द सुधारस का पान कर परम तृप्त होता है। ''सत्यं वद'' यह वेद का उद्घोष इसलिये पुनः पुनः संसार को सचेत एवं सावधान करता है।

क्रोध प्राणीमात्र का सबसे बड़ा शत्रु है, इससे सभी विवेकहीन होकर अकरणीय अत्यन्त नीच कर्म के करने में भी नहीं हिचकिचाते । इसी से तो-श्रीमद्भगवद्गीता में सर्वनियन्ता भगवान् सर्वेश्वर श्रीश्यामसुन्दर ने अर्जुन को उपदेश करते हुए आज्ञा दी है--

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।

अर्थात् क्रोध से मोह की उत्पत्ति और मोह से बुद्धि का ह्रास और बुद्धि के ह्रास से प्राणी विनाश को प्राप्त हो जाता है ।

देवर्षिवर्य श्रीनारदजी ने भी अपने 'नारद-भक्ति-सूत्र' में--''काम-क्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्'' कहकर उपर्युक्त भगवदीय वचन की परिपुष्टि की है।

ऐसे ही त्याग के समान कोई श्रेष्ठ सुख नहीं है । मानव जितना ही अधिक परिग्रह (संग्रह) करता है उतना ही अधिक वह अशान्त, दुःखी और निरन्तर मोहासक्त होकर प्रपञ्चपुञ्ज में जकड़ा रहता है, फलतः वह जागतिक जञ्जाल जञ्झावात से छुटकारा पाने में सर्वथा असमर्थ रहता है। इसीलिए शास्त्रों में ऋषि-मुनिजन एवं सन्त भगवद्भक्तों के पावन उपदेशों में त्याग को सर्वोत्कृष्ट साधन माना है। जितना संग्रह उतनी ही अशान्ति और जितना त्याग उतना ही सुख, गीता में श्रीप्रभु ने अपने श्रीमुख कमल से--

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्म भूयाय-कल्पते।।

यह मार्मिक उपदेश कर स्पष्ट ही संकेत किया है कि अहंकार, बल, दर्प (घमण्ड), काम (सांसारिक इच्छायें), क्रोध और परिग्रह (संग्रह) के परित्याग करने पर ही प्राणी अनासक्त शान्त होकर परब्रह्म परमात्मा श्रीराधामाधव को प्राप्त कर सकता है। अतः यह महाभारतोक्त 'विवेक-चतुष्टय' परम कल्याणकारी एवं नितान्त आवश्यक है । जिज्ञासु साधक जनों को इस शास्त्रोपदेश से अपने विशृङ्खलित जीवन पथ को अनुप्राणित कर उसे परम कृतार्थ करना चाहिये। इसी में हित सन्निहित है।

मन का विनियोग भगवत्परक हो

मानव के उत्थान और पतन, आसक्ति और विरक्ति, विवेक और अविवेक, शान्ति और अशान्ति, सुख और दुख आदि इन सभी का मूल हेतु मन को ही शास्त्रों में निर्दिष्ट किया है। इसी मन के कारण मानव जगत् के नाना कष्टों का उपभोग करते हुए परमात्मविद्या से विमुख होकर सर्वथा अशान्त किंकर्तव्यविमूढ बना रहता है और मन की अगणित परितप्त चञ्चल तरंगों से प्रताड़ित हो होकर स्वयं को जर्जर, दुःखी तथा घोर पापिष्ठ बना

लेता है। यदि मानव ठीक इसके विपरीत अपने मन का विनियोग श्री भगवत्परक कर दे तो वह परमात्मविद्या की उपलब्धि के साथ अनन्त सुख साम्राज्य का अनिर्वचनीय आनन्द सहज ही में ले सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीप्रभु ने इसीलिये तो अर्जुन को बार-बार इस ओर संकेत करते हुए उपदेश किया है, ''मय्यासक्तमनाः पार्थ'' ''अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः 'मन्मना भव मद्भक्त' 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते' इत्यादि श्रीमुख वचन का यही निष्कर्ष है कि अपने इस परम चञ्चल मन को भवाटवी के क्लेशप्रद विषयों से हटाकर सर्वेश्वर श्रीश्यामसुन्दर के पादपद्मों की ओर अग्रसर करो जिससेः--

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।

अर्थात् परम सिद्धि को प्राप्त किये हुए महात्माजन मेरी शरण आकर भयङ्कर दुःखरूप क्षणभंगुर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते हैं।

इस भगवदीय उपदेशानुसार मानव यदि अपने मन को सर्वात्मना अपने प्रेमास्पद हृदयाराध्य नित्यनवकिशोर श्रीश्यामाश्याम के पदपल्लवों में समाविष्ट कर दे तो 'मोक्षयिष्यामि मा शुच' इस श्रीगीतोक्त आदेश की चरितार्थता में विलम्ब कहाँ। अतएव अपनी संसारासक्त आसक्तियों, ममताओं, इच्छाओं को बटोर कर इन्हें उन्हीं श्रीहरि की ओर विनियोग कर दो बस फिर सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है ।

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्री श्रीभट्टदेवाचार्यजी महाराज के इस निम्नांकित पद में भी उपर्युक्त भाव की ही स्पष्टतः सुन्दर अभिव्यक्ति है--

श्यामाश्याम पद पावै सोई ।
मन, वच, क्रम करि सदा निरन्तर, हरि गुरु पदपङ्कज रति होई।।
नन्दनन्दन वृषभानुसुता पद, भजै तजै मन आनैं जोई ।
'श्रीभट्ट' अटकि रहे स्वामीपन, आन कहें मानें सब छोई।।

*

श्री प्रभु उपासना में विरोधी तत्त्व सर्वथा त्याज्य हैं

श्रीसुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य श्रीमन्निम्बार्क भगवान् ने अपने स्वप्रणीत 'वेदान्त कामधेनु' ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में उपास्य (परब्रह्म श्रीराधाकृष्ण) का स्वरूप, उपासक (जीवात्मा) का स्वरूप, श्रीभगवत्कृपा का फल भक्ति रस और विरोधी तत्त्व का स्वरूप इन वेदादि शास्त्र प्रतिपादित पञ्चार्थ का निरूपण संक्षिप्त किन्तु बड़ा ही उत्कृष्ट और परम सारग्राही किया है।

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम् ।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः ।।

उपर्युक्त इन पञ्चार्थ में अन्तिमार्थ विरोधी रूप को समझने का भी स्पष्टतया संकेत है । इनके स्वरूप ज्ञान के बिना भगवन्निष्ठ श्रेष्ठ साधकों के आराधना पथ में नाना विघ्नों का आना स्वाभाविक है। बड़े-बड़े तत्त्वज्ञ महापुरुष भी विरोधी तत्त्वों के सङ्ग-दोष से पथ विचलित होते देखे गये हैं, और उनकी दीर्घकालिक साधना पद्धति का भी छिन्न-भिन्न होना प्रकृति सिद्ध है। फिर साधनाविहीन सामान्य जन तो किसी भी समय उनके प्रवल प्रताड़ना से प्रताड़ित होकर अनेक संकटों, क्लेशों और अशान्ति द्वन्द्वों को प्राप्त कर सकता है । इसीलिये परम कारुणिक श्री निम्बार्क भगवान् ने विरोधी तत्त्वों के स्वरूप बोधनार्थ यह परम दिव्य उपदेश प्रदान करने की महती कृपा की है।

'वेदान्त कामधेनु' ग्रन्थ की विशद् व्याख्या 'वेदान्त रत्न मञ्जुषा' में श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी महाराज ने विरोधी तत्त्वों का जो विस्तृत उल्लेख किया है उसका संक्षिप्त आशय निम्न प्रकार वर्णित है--

देह में आत्मबुद्धि, श्रीहरि-गुरु को छोड़कर अन्य की पराधीनता, स्वयं को भगवदीय न मानना, श्रुति-स्मृति-पुराणादि सत्-शास्त्रों की आज्ञा का उल्लंघन, श्रीप्रभु को छोड़कर अन्य देव की आराधना, असत् शास्त्रों के अध्ययन की अभिलाषा, स्वयं को स्वतन्त्र मानना, अहंता-ममता की प्रबलता, सर्वेश्वर श्रीहरि को अन्य देवताओं के समान मानना, श्रीप्रभु के अवतारों में

मानवीय भावना, श्रीभगवान् के अर्चा विग्रहों में सामान्य बुद्धि, भगवदीय दिव्य मन्त्रों में शब्द सामान्य की भावना, भगवदीय पावन गाथाओं में लौकिक आख्यान की कल्पना, श्रीगोविन्द के स्वाभाविक सौन्दर्य-माधुर्य-कारुण्य-मार्दवादि अनन्त कल्याण गुण समूह में मायिक साधारण गुणों की कल्पना, श्रीप्रभु में विश्वास का अभाव, साधनान्तर निष्ठा, मन्त्रान्तर, सदाचार हीनता, असत्य पालन, काम क्रोधादि परायणता, दुस्सङ्ग सेवन आदि-आदि इस प्रकार ये अनेक विध विरोधी तत्त्व हैं, जिनके सेवन से मानव विवेक भ्रष्ट होकर निरयगामी बनता है और अन्ततः परिणाम में भयङ्कर विपदाओं एवं कष्टों को प्राप्त करता है ।

यदि साधक सतर्कता से इन अन्तराय रूप विरोधी तत्त्वों से सर्वथा पृथक् रहकर अपने परमाराध्य श्रीराधासर्वेश्वर के युगल पाद पद्मों में अनन्य प्रपत्ति (शरणागति) पूर्वक निश्छल अनुराग रखता है तो वह बड़ी सरलता से अपने आराध्य का अनुग्रह भाजन बन सकता है।

महापुरुषों के संग से ही भक्ति सुलभ है

यद्यपि शास्त्रों में श्री प्रभु-भक्ति के विविध साधन वर्णित हैं किन्तु उन सबसे सुलभ साधन महापुरुषों का सत्सङ्ग ही है। यदि साधक विनयावनत होकर उनकी सन्निधि में रहकर अपने आराध्य के पादपद्मों में सतत पराभक्ति का सेवन करे तो बिना प्रयास के अपने अभिप्रेत लक्ष्य की प्राप्ति सुकरता से कर सकता है । देवर्षिवर्य्य श्रीनारदजी ने 'नारद-भक्ति-सूत्र' में "मुख्यतस्तु महत्कृपयैव" कहकर महापुरुषों के सत्सङ्ग का उपदेश किया है। और साथ ही वह भी "महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च" निर्देश कर महापुरुषों का सङ्ग मिलना कठिन बताया है। तथापि "लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव" इस सूत्र से यह भी भाव व्यक्त किया है कि सर्वेश्वर श्रीश्यामसुन्दर प्रभु की दिव्यानुकम्पा से महापुरुषों का सङ्ग मिल भी जाता है। "तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम्" इस कथन से सत्सङ्ग की और भी अधिक पुष्टि की है। अन्यत्र भी सभी शास्त्रों में उक्त कथन का ही समर्थन किया है।

यथा-श्रीमद्भागवत में ऋषियों ने सत्संग महिमा का कितना अनुपम

दर्शन कराया है--

तुलायाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।

श्रीहरि के पदकमलों में अनुरक्त रहने वाले सन्तजनों का क्षण भर का यदि सत्सङ्ग मिल जाय तो स्वर्ग तथा मोक्ष तक की उससे तुलना नहीं की जा सकती, फिर साधारण इच्छित पदार्थों की तो बात ही क्या ।

महाराज रहूगण को उपदेश प्रदान करते हुए परमतत्त्वविद् महाभागवत श्रीजड़भरतजी ने सत्सङ्ग का महत्व कितने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है--

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्ययानिर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ।।

हे रहूगण ! महज्जनों की विमल पदरज के बिना सेवन किये इस परमोच्च पद पर न तो तप से पहुँचा जा सकता है, न यज्ञानुष्ठान से, न दान से, न वेदाध्ययन से और न जल, अग्नि किंवा सूर्य से ही पहुँचा जा सकता है।

महाराज श्रीभर्तृहरि ने भी सत्सङ्ग की उपादेयता कितनी हृदयग्राही बताई है--

तत्त्वं चिन्त्य सततं चित्ते परिहर चिन्तां नश्वरवित्ते ।
क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका ।।

अपने अन्तःकरण में अनवरत परमतत्त्व श्रीहरि का चिन्तन करो, विनश्वर धन की चिन्ता का परित्याग करो, सज्जनपुरुषों की एक क्षण भर की सङ्गति भी भवसागर को तैर कर पार करने के लिये नौका रूप हो जाती है ।

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधिपति श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने अपने वृहद् 'परशुराम-सागर' ग्रन्थ में सत्सङ्ग की विशिष्टता बहुत ही अनुपम प्रकार से प्रदर्शित की है--

संगति कीजै साध की, मन दै प्रीति लगाइ ।
प्रीति कीयां परसराम, मिलि हैं केसौराइ ।।

सत संगति तैं हरिभजन, हरि तैं हरि निज रूप ।
ता हरि को सुख प्रसराम, अस्थिर अभै अनूप ।।
भगति प्रगट सतसंग तैं, परसराम जन होई ।
बरिखा बादल तैं प्रगट, यह समझो सब कोई ।।
परसराम तन मन सुफल, जब कीजिये हरि जागि।
हरि सुमिरण सतसंग सुख, पाई जै बड़भागि ।।

वाल्मिकी, प्रह्लाद, ध्रुव, रहूगण आदि अनेक महापुरुषों भगवद्भक्तों के पावन चरित लोक प्रसिद्ध हैं । इसी प्रकार घाटम नामक एक भक्त का चरित्र भी बड़ा ही सुन्दर और आदर्शमय है ।

आज के लगभग चार शताब्दी पूर्व जयपुर नगर के कुछ ही दूरी पर दौसा नामक नगर में घाटम भक्त हुए । ये मैना जाति के थे । चोरी से निर्वाह करना इनका प्रमुख कार्य था। किन्हीं सन्त के सङ्ग से इनका जीवन श्रीभगवद्भक्ति की ओर अग्रसर होगया। दैनिक मन्दिर जाकर दर्शन और सत्यभाषण इनकी नित्य चर्या बन गई । अपनी प्रगाढ भक्ति से इन्होंने दौसा के नरेश को परमभक्त बना दिया। और अन्त में स्वयं ने श्रीप्रभु के प्रत्यक्ष दर्शन कर परमानन्द की उपलब्धि की। यद्यपि इनका चरित तो बड़ा विस्तृत है किन्तु यहाँ तो विस्तार भय से केवल निदर्शन मात्र है ।

श्रीभगवद्भक्ति रसामृत पिपासु भावुक जनों को सतत महापुरुषों का सत्सङ्ग कर अपने अभ्युदय के लिए जागरुक रहना परम अभीष्ट है ।

अध्यात्म चिन्तन से ही मानवता सार्थक है

अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधिपति, अकारणकरुणावरुणालय, अनुग्रह-विग्रह सर्वेश्वर भगवान् श्रीश्यामसुन्दर का जब प्राणी पर महान् अनुग्रह होता है तभी वह सुरदुर्लभ इस मानव शरीर को प्राप्त करता है। जिसे प्राप्त कर लेने पर सहज ही में यह प्राणी महापुरुषों के सत्सङ्ग सेवन से श्रीभगवत्प्रपन्न हो साधनाभिरत रहकर अपने परमाराध्य के कमनीय दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त कर लेता है । यदि कहीं दुस्सङ्गपरायण दुर्जनों का कलुषित सङ्ग इसे मिल जाता है तो वह अगणित क्लेशों का उपभोग करता हुआ

नारकीय जीवन बिताता है । आज का अधिकांश मानव इसी दूषित प्रवृत्ति का अनुगामी बनता जा रहा है । दम्भ, ईर्ष्या, द्वेष, कलह अभिमान, क्रोध आदिक में ही अपने मानवत्व की चरितार्थता एवं सार्थकता समझता है । वह किसी महापुरुष के उत्कर्ष और गौरव को देखना नहीं चाहता । किसी प्रकार छल-कपट से अपना मान, अपनी महत्ता व्यक्त करने में ही मानवता की अनुभूति करता है, ऐसे अमर्यादित प्राणियों के लिए उपनिषद् का यह मार्मिक वचन परम सारग्राही है ।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।

अर्थात् किसी अन्धे मानव को मार्गदर्शक भी अन्धा ही मिल जाय तो वह अपने लक्ष्य-स्थान पर नहीं पहुँच सकता। कांटे, कङ्कड़, पत्थरों से युक्त कठिन मार्गों में ठोकरें खाता भटकता हुआ अनेक कष्टों को भोगता है, और उसी प्रकार पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि अत्यन्त क्लेशमय योनियों में तथा नरकान्तरों में असंख्य जन्म पर्यन्त भीषण यन्त्रणाओं को भोगता है। जो स्वयं को ही बुद्धिमान विद्वान् माने बैठा है, विद्या-बुद्धि के व्यर्थाभिमान में शास्त्र और आप्त पुरुष वचनों की अवज्ञा करता है।

अतः मानवता का विपरीत अर्थ करने वाला प्राणी सदा ही संसार दावानल में संताप पाता है । वह कभी भी सुख-शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। सुतरां शास्त्र तथा महापुरुषों के अमृतोपम दिव्योपदेश को अपने हृदय पर अङ्कित करने वाला मानव ही यथार्थ मानव है। सत्य, अस्तेय, दया, धर्म, सदाचार पालन और श्रीसर्वेश्वराराधन में ही मानवता सार्थक है। कठोपनिषद् का यह निम्नांकित मन्त्र इसी का संकेत करता है।

यस्तुविज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाः शुचिः ।
स तु तत्परमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।।

विवेकशील बुद्धि से युक्त जो सदा संयत चित्त पवित्र रहता है, वह उस परम-पद को प्राप्त हो जाता है, जहाँ से फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।



दृढ़ विश्वास श्रीप्रभु - प्राप्ति का परमोत्तम साधन है

''विश्वासः फलदायकः'' यह शास्त्रोक्ति सर्वविदित है। यदि साधना में संलग्न रहने वाला साधक अपने मन को दृढ विश्वास के साथ श्रीभगवत्परक करदे तो उन सच्चिदानन्दघन अनुग्रह-विग्रह परमदयालु युगलकिशोर ललना-लाल श्रीश्यामाश्याम की आनन्ददायिनी कृपा कादम्बिनी के परिवर्षण में कोई विलम्ब नहीं। बस केवल दृढ विश्वास की ही अपेक्षा है। जहाँ विश्वास है वहाँ श्रीहरि का सतत निवास है। मानव जब विश्वास-विमुख होकर तर्क बुद्धि से उन लौकिकेन्द्रियातीत परात्परतत्त्व श्रीप्रभु में नाना कल्पनायें करने को तत्पर होता है तब वह ऐसी अवस्था में श्रीसर्वेश्वर के मंगल दर्शन करने का कैसे सौभाग्य प्राप्त कर सकता है । ''नानुमानं नेन्द्रियाणि'' आदि उपनिषद् वाक्य भी तर्कादि साधनों के अवलम्ब का निषेध करते हैं। अतः शास्त्र सरणि के अनुसार दृढ विश्वासपूर्वक साधना-पद्धति ही अभीष्ट है।

ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष, शबरी, द्रोपदी, मीरा प्रभृति अनेक भक्तों की दिव्य गाथायें लोक प्रसिद्ध हैं। इन भगवद्भक्तों ने विश्वास के बल पर ही अपने आराध्य का दर्शन किया। भक्त शिरोमणि श्रीसूरदासजी ने ''भरोसो दृढ इन चरणन केरो'' कह कर विश्वास को ही मुख्य आधार माना है, इसी प्रकार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने भी विश्वास की ही संपुष्टि निम्न दोहे से की है--

बिन विश्वास भगति नहीं, तेहि बिनु द्रवहि नहि रामु ।
राम कृपा बिनु सपने हूँ, जीव कि लह विस्रामु ।।

एवंविध सभी शास्त्रों ने सन्त महापुरुषों ने और भगवद्भक्तों ने एक स्वर से विश्वास को ही उत्तम साधन माना है। इसी विषयक एक प्राचीन आख्यायिका बड़ी ही मार्मिक एवं शिक्षाप्रद है ।

करमान नामक देश के परम आस्तिक भगवद्भक्त एक राजा जो सदा ही श्रीप्रभु में विश्वास रखते हुए अपने राज्य का कार्य किया करते थे। उनके एक भगवन्निष्ठ रूपवती कन्या थी। जिसका श्रीहरि में अटल विश्वास था राजा ने किसी ऐसे ही प्रभु विश्वासी भक्त के साथ उसके सम्बन्ध का

विचार किया। बहुत खोज करने पर भी इच्छानुकूल वर नहीं मिला। दैवयोग से एक दिन राजा को भगवद्भजन करते हुए एक नवयुवक मिला। वह बड़ा ही प्रसन्नवदन परम तेजस्वी और होनहार दिखाई दिया। राजा ने युवक से अनेक प्रश्न किये और यथोचित समाधान मिलने पर भगवद्विश्वास परायण उस भक्त युवक के साथ अपनी कन्याका विवाह कर दिया। राजकन्या अपने पति के साथ वन में पहुँची, जहाँ उसने देखा एक वृक्ष पर रोटी का टुकड़ा पड़ा है। अपने पति से उसने जिज्ञासापूर्वक प्रार्थना की देव ! यह रोटी का टुकड़ा यहाँ पर कैसे आया। युवक ने कहा यह कल का बचा हुआ रोटी का टुकड़ा आज काम आयेगा। राजकन्या अत्यन्त उदास हो रुदन करती हुई अपने ननिहाल को जाने के लिए उद्यत हुई। राजमहल में रहने वाली तुम मुझ अति दीन के पास कैसे रह सकती हो, युवक के कहने पर राजकन्या बोली स्वामिन् ! मेरे दुःखी होने का कारण जो आपने समझा है, वह नहीं है। आपने जो रोटी का टुकड़ा आज या कल तक के निर्वाह हेतु छोड़ा है क्या ? आपको प्रभु में विश्वास नहीं है। मैं अभी तक अविवाहिता इसीलिये थी कि कोई परम प्रभु-विश्वासी भक्त मेरे पति बने, किन्तु यह अभाव यहाँ भी दिखाई दिया। उन विश्वम्भर सर्वेश्वर श्रीगोविन्द पर आपको एक रोटी जैसी वस्तु की उपलब्धि पर भी विश्वास एवं निर्भरता की कमी है अपनी पत्नी के श्रेष्ठ वचनों को सुनकर युवक को यथार्थ ज्ञान हो गया कि वस्तुतः बिना प्रभु विश्वास के सब व्यर्थ है।

इस लघु आख्यायिका से स्पष्ट है कि यदि आपके अन्तःकरण में दृढ विश्वास है तो श्रीयुगल प्रियालाल के मिलन में विलम्ब नहीं । इसीलिये सभी तत्त्वज्ञों ने इसी साधन को उत्कृष्ट माना है।

दीनता भगवद्भक्तों का स्वाभाविक स्वरूप है

यद्यपि शास्त्रों में भगवद्भक्तों के विविध लक्षण एवं नाना स्वरूप बताये गये हैं, किन्तु उन सभी में सर्वोत्तम लक्षण या स्वरूप दीनता ही प्रमुख है। जो भक्त दीनता युक्त होकर श्रीप्रभु की प्रपन्नता का अवलम्ब लेता है वही भक्तों में श्रेष्ठ भक्त है । श्रीमद्भगवद्-गीता में जब अर्जुन दीन होकर 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' के रूप में अभ्यर्थना करने लगा तभी

श्रीप्रभु ने उसे गीता का महनीय उपदेश किया। आचार्यवर्य्य श्रीमन्निम्बार्क भगवान् ने--

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते, यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा ।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः, सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा ।।

'वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी' के इस नवम श्लोक से दीनता का कितना महत्वपूर्ण उपदेश किया है, जिस भक्त में दीनता और अभिमान शून्यता आदि सद्गुण होते हैं, ऐसे प्रपन्न भक्त पर श्री प्रभु की विशेष कृपा होती है जिससे उसके हृदय में उन सर्वेश्वर श्रीश्यामसुन्दर के कमनीय चरण-कमलों के प्रति प्रेमलक्षणा भक्ति का उदय होता है । वही उत्तम एवं साध्य भक्ति है। उससे भिन्न जो भक्ति के अन्य प्रभेद हैं वे सब साधन भक्ति के अन्तर्गत हैं।

इसी प्रकार श्रीरामानुजाचार्यजी ने प्रीतियुक्त दासता का संकेत कर दीनता की ही अभिव्यक्ति की है।

तवानुभूतिसम्भूतप्रीतिकारितदासताम् ।
देहि मे कृपया नाथ न जाने गतिमन्यथा ।।

अर्थात् हे नाथ ! आप अनुकम्पा पूर्वक मुझे अपना सेवक (दास) बना लीजिये। मुझे अपनी प्रीतियुत दासता, किङ्करता प्रदान कर अनुग्रहीत करें। आपकी सेवा ही मेरी परम गति है।

इसी प्रस्तुत प्रकरण की परिपुष्टि करते हुए श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने भी ''आत्मनिवेदन'' के इस प्रयुक्त वाक्य से दीनता का ही प्रतिपादन किया है--

चिन्ता क्वापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्।।

अर्थात् जिन्होंने श्रीगोविन्द के आत्मनिवेदन कर दिया है उन्हें कभी भी किसी प्रकार चिन्ता की अपेक्षा नहीं, कृपा प्रदाता वे श्रीहरिशरणापन्न भक्त को संसार सागर के भयङ्कर आवर्त से निवृत कर अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करते हैं।

इस भाँति सभी शास्त्रों ने और आप्त पुरुषों की दिव्य सरस वाणी ने एक स्वर से दीनता को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। ऐसी दीनता का अवलम्ब

लेकर जो भक्त सतत रूप से अपने हृदयेश श्रीश्यामाश्याम के आराधन में संलग्न रहता है वह परम धन्य है, और वस्तुतः यह दीनता ही भगवद्भक्तों का स्वाभाविक स्वरूप है।

सतर्क होकर भागवद्धर्म का परिपालन करो

जीवन क्षण भंगुर है, संसार के भौतिक पदार्थ विनश्वर हैं, चञ्चला लक्ष्मी अस्थिर है, स्त्री-पुरुष-पौत्रादि बन्धुजनों का प्रेम क्षणिक और स्वार्थपूर्ण है, वैभव अनित्य एवं दुःखरूप है, सिद्धियाँ सीमित हैं, इसी प्रकार स्वर्गादि ऊर्ध्व लोकान्तरों की प्राप्ति भी अपूर्ण है । अतएव ये सभी परमार्थ-पथ के बाधक हैं, केवल प्राणी का परम सहायक एकमात्र भागवद्धर्म है। यही उसके चिरभिलषित आनन्दसुधा उपलब्धि का अन्यतम आधार है। इसी के अवलम्ब से धर्मनिष्ठ पुण्यात्मा श्री भगवत्कृपा-कादम्बिनी के अभिनव सरस सीकरों (बिन्दुकणों) से अभिषिक्त हो परितृप्त हो जाता है । निखिल धर्मशास्त्रों का यही तो उद्घोष है--

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ।।

शरीर अनित्य है, सांसारिक सभी वैभव कुछ ही समय के लिए है, मृत्यु समय की प्रतीक्षा कर रही है, अतएव विवेकी जन को धर्म का सतत सेवन करना अभीष्ट है।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो भवेत् ।।

धर्म के पालन न करने पर मानव स्वयं ही विनिष्ट होजाता है, और धर्म के सम्यक् आचरण से मानव स्वयं रक्षित तथा आनन्द की प्राप्ति करता है। अतएव धर्म का त्याग कदापि न करो, धर्म सदा ही सेवनीय है।

जिन परिजनों को अपना समझते हैं, प्राण वियोग होने पर अपनी ओर निहारते तक नहीं अपितु घृणा की दृष्टि से देख लौट जाते हैं--

मृतं शरीरमुत्सृज्य-काष्ठलोष्ठ-समं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ।।

जर्जर काष्ठ खण्ड (गले हुए काठ के टुकड़े) और ढेले के समान भूमि पर ही मृत पार्थिव शरीर को छोड़कर बान्धवजन अपने गन्तव्य की ओर चले जाते हैं। मानव के साथ केवल उसका उपार्जित धर्म ही साथ जाता है।

इसीलिए परम कारुणिक श्रीसुदर्शन चक्रावतार श्रीमन्निम्बार्क भगवान् ने निम्न प्रकार से महत्वपूर्ण उपदेश किया है--

''उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः''

अर्थात्--'अज्ञानान्धकार के विध्वन्स एवं अनन्तानन्दामृत पान के लिए अनवरत परात्परतत्त्व रस परब्रह्म सर्वेश्वर नित्य नव युगलकिशोर श्रीश्यामाश्याम की उपासना साधक भक्तजनों को करना नितान्त अपेक्षित है।'

एवंविध वेद पुराणादि धर्मशास्त्रों, ऋषि-मुनिजनों, एवं आप्त पुरुषों के विविध सद्‌वचन हैं, जिन्होंने सतर्क-अर्थात् परम सावधानी पूर्वक भागवद्धर्म के अनुपालन पर अतिशय बल दिया है।

जिससे श्रीहरि प्रसन्न हों वही धर्म सर्वोत्तम है

धर्म की व्याख्या एवं उसकी परिभाषा तो बड़ी ही गूढ और विस्तृत है। श्रुति-स्मृति-पुराणादि धर्मग्रन्थों में धर्म का बहुत ही सारगर्भित विशिष्टतम वर्णन मिलता है। त्रिकाल द्रष्टा ऋषि-मुनिजनों एवं तत्त्वज्ञ महामनीषियों ने भी धर्म का महत्वपूर्ण विवेचन किया है। भगवद्भक्त सन्तों ने अपनी सरस वाणियों में धर्म का स्वरूप बड़ी ही मार्मिकता से बताया है। इन सभी में ''महाभारत'' के अनुशासन पर्व का यह संक्षिप्त वचन अतिशय श्रेष्ठ और सर्वोपरि है--

एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्ष स्तवैरर्चेन्नरः सदा ।।

यावन्मात्र निखिल धर्मों में **वही धर्म सर्वश्रेष्ठ** है जिससे पुण्डरीकाक्ष भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण की भक्ति**पूर्वक दिव्य** स्तव पाठ से अर्चन (पूजन) हो ।

''स्कन्द पुराण'' का यह महनीय वाक्य भी उपर्युक्त महाभारत के कथन की ही परिपुष्टि करता है--

''विशिष्टः सर्वधर्माणां धर्मो-विष्णवर्चनं नृणाम्''

अर्थात् श्रीप्रभु की उपासना ही सम्पूर्ण धर्मों का मूल आधार है और यही धर्म सर्वाधिक विशिष्ट तथा जीवन का चरम लक्ष्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीमुख से अर्जुन को यही उपदेश किया है--

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।।

अपर सभी धर्मों के आश्रय को छोड़कर केवल मुझ सर्वान्तरात्मा की शरण ले। इससे मैं तुझे समस्त पापों से उन्मुक्त कर दिव्यानन्द प्रदान करूँगा, तुझे किसी प्रकार चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं ।

वस्तुतः नाना शास्त्रों का सार आप्त पुरुषों का दिव्य अनुभव इसी पूर्वोक्त कथन का ही निर्देश करता है। जिस धर्म से इस निखिल विश्व ब्रह्माण्ड के रचयिता सूत्रधार सर्वज्ञ सर्वेश्वर प्रसन्न न हों वह कैसा धर्म ? वास्तविक धर्म तो वही है जिससे श्रीप्रभु परम प्रसन्न होकर अपना अनन्त-सौन्दर्यनिकेतन दिव्यमङ्गलविग्रह परम मधुर चिन्मय वपु के अनिर्वचनीय दर्शन प्रदान की महती अनुकम्पा कर दें। और जिन अनुपम दर्शनों को पाकर अनन्तकाल से व्यथित यह जीवात्मा पूर्ण कृतकृत्य हो जाय। पुनः इसे इस भयङ्कर भवाटवी के दुःख द्वन्द्वों में आबद्ध न होना पड़े।

उपनिषद् का यही तो उद्घोष है। ''न स पुनरावर्तते'', 'ब्रह्मसूत्र' भी 'अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात्'' और गीता में श्रीमुख वचन से 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम',यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः' इत्यादि पूर्वोक्त सभी महावाक्यों का यही निष्कर्ष है कि श्रीभगवद्धाम प्राप्त करने पर फिर प्राणी को इस क्लेशमय संसार की ओर अभिमुख नहीं होना पड़ता। अतएव ऐसे ही परम दिव्य सर्वोपरि वैष्णव धर्म का ही अवलम्ब लेना चाहिये जिससे सर्वेश्वर श्रीश्यामसुन्दर प्रसन्न होकर प्राणी को आनन्दसुधा में सदा सर्वदा के लिए निमज्जित कर दें।

*

सदाचार पालन में प्रमाद अतिशय घातक है

जितने भी स्थावर जङ्गम योनिज अयोनिज आदि सभी प्राणियों में मानव सर्वश्रेष्ठ और परम बुद्धिमान माना गया है। इस सुरदुर्लभ मानव शरीर की महिमा समस्त शास्त्र एक स्वर से प्रतिपादन करते हैं। यही शरीर अनन्त सुख की उपलब्धि का एकमात्र साधन है, और श्रीप्रभु कृपा प्राप्ति का भी यही महान् आधार है। इन पूर्वोक्त सभी विशेषताओं का यह प्रतिष्ठापन्न होने पर भी यदि मानव सदाचार परायण न हो, सदाचार के परिपालन में प्रमाद करता हो तो वह अपने अभ्युदय से पराङ्मुख होकर अधोगामी बनता है, फलतः नारकीय नाना यातनाओं की भीषण ज्वाला में दग्ध होकर दारुण क्लेशों का उपभोग करता है। इसी से श्रुति-स्मृति-पुराणादि धर्मशास्त्रों के ये निम्न वचन कितने महनीय और परिसेवनीय हैं-

धर्मान्न प्रमदितव्यमाचारान्न प्रमदितव्यम् ।

अर्थात् धर्म के परिपालन एवं सदाचार के अनुसेवन में भी कभी प्रमाद (आलस्य) नहीं करना चाहिये।

''महाभारत'' के उद्योग पर्व का सदाचार परक यह स्पष्ट वाक्य परम मननीय है--

आचारात्फलते धर्ममाचारात्फलते धनम् ।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम् ।।

सदाचार के पालन से धर्म की वृद्धि और सदाचार से ही धन की प्राप्ति होती है, सदाचार से कीर्त्ति की उपलब्धि तथा अग्राह्य अवगुणों का ध्वन्स होता है।

'महाभारत' के ही ''दानधर्म'' में सदाचार का वर्णन करते हुए उसकी महिमा का कितना महत्वपूर्ण दिग्दर्शन कराया है--

आचारल्लभते ह्यायुराचाराल्लभतेश्रियम् ।
आचारात्कीर्त्ति-माप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ।।

स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति पूर्वक सदाचार से आयु और लक्ष्मी की उपलब्धि तथा यश मिलता है, जिससे यह मानव परमानन्द की दिव्य अनुभूति करता है।

सदाचार के पालन न करने पर शास्त्रों का यह डिण्डिम घोष सुस्पष्ट है--

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः यदप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः ।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ।।

जो मानव सदाचार का सेवन नहीं करते वे साङ्गोपाङ्ग षडङ्ग वेदों के परिज्ञाता होने पर भी उन्हें वेदादि शास्त्र पवित्र नहीं करते, अपितु वे शास्त्र मृत्यु समय में ''पंखों के आने पर जिस प्रकार पक्षीगण अपने घोंसलों का त्याग कर देते हैं'' वैसे ही उन्हें सर्वथा छोड़ देते हैं ।

अतएव सदाचार के सम्यक् आचरण में कदापि प्रमाद न करो।

''तस्मात् कुर्यादिहाचारं य इच्छेद् भूतिमात्मनः''

अर्थात् आत्मकल्याण के इच्छुकों को चाहिये कि वे निरनतर सदाचार परायण बनें ।

आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी सदाचार का महत्व कम नहीं है। सदाचार से स्वास्थ्य लाभ, समाज में प्रतिष्ठा तथा अनेक संक्रामक रोगों से सुरक्षा होती है। इसके अतिरिक्त अन्य भी गूढतम रहस्य इसमें समाविष्ट हैं। त्रिकालदर्शी ऋषि-मुनिजनों ने शास्त्र प्रतिपादित सदाचार के पालन हेतु विविध रूप से उपदेश किया है। सदाचार का वास्तविक स्वरूप सद्ग्रन्थों में द्रष्टव्य है, तदनुसार ही उसके सेवन का धार्मिक जनों को दृढ व्रत लेना चाहिये और उसमें प्रमाद नहीं करना ही परम अभीष्ट है।

गोरक्षा के निमित्त प्राणोत्सर्ग भी परम हितकर है

आज हमारे देश का दुर्भाग्य है, स्वतन्त्रता प्राप्ति पर भी हमारी वैदिक संस्कृति का मूलाधार गोमाता का सहस्रों की संख्या में प्रतिदिन वध किया जाता है । भारत की असंख्य जनता उत्सुकतापूर्वक उस मङ्गलमय वेला की प्रतीक्षा कर रही थी कि हमारा देश स्वतन्त्र हो और गोहत्या का भीषण कलङ्क हमारे देश से तत्क्षण निवृत्त हो। देश तो स्वतन्त्र हुआ किन्तु देश की शास्त्र सम्मत अक्षुण्ण मर्यादा, संस्कृति एवं सभ्यता तथा पुरातन

परम्परा जो स्वतन्त्रता की सोपान ही नहीं, अपितु दृढ-भित्ति एवं भव्य अट्टालिका है उसको विविध रूप से छिन्न-भिन्न किया जाने लगा। क्या ? केवल अन्न, वस्त्र, आवास, उद्यान, वाहन आदि की उपलब्धि ही स्वतन्त्रता का रूप है, यदि इसी की मान्यता है तो क्या ? यवन शासनकाल एवं ब्रिटिश शासनकाल में भी इन वस्तुओं से वञ्चित थे। यह कैसी विडम्बना है, पता नहीं आज के लोभ परायण शासनाधीश ''अन्धेन नीयमाना यथान्धाः'' वाली स्थिति का अनुगमन कर रहे हैं। इससे देश का कितना पतन, कितनी हानि संभाव्य है, वह अकल्पनीय है। दाल के साथ घुन भी पिस जाने वाली कहावत भी यहाँ चरितार्थ रूप में है। यह सब कुछ होते हुए भी ''सवेरे का भूला शाम को चला आवे तो भूला नहीं कहाता'' अब भी समय है कि विवेक और बुद्धिमत्ता से काम लिया जाय तो अपनी एवं अपने देश की सुरक्षा सम्भव है।

प्राचीन काल से ही देश के कर्णधार शासनारूढ श्रेष्ठ पुरुष अपनी मर्यादाओं एवं कर्तव्यों को भुलाते नहीं थे अपितु वे विषम स्थिति के आने पर उनकी सुरक्षा के लिए अपने परम प्रिय प्राणों का बलिदान कर देने तक के लिए सोत्साह उत्कण्ठित रहते थे। महाराज विक्रमादित्य ने अपनी संस्कृति का स्वरूप एवं महान् आधार गोमाता जिसकी रक्षा के लिये अपने प्राणोत्सर्ग करने तक तत्पर हो गये, उनका निम्नांकित एक आख्यान बड़ा ही आदर्शमय एवं प्रेरणाप्रद है।

महाराज विक्रमादित्य अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में प्रजा के क्लेशों का अनुभव करने के लिए अनेकों बार अकेले ही विचरण किया करते थे। एक समय घोड़े पर बैठे वे किसी निर्जन वन से जा रहे थे। सन्ध्या का समय था, उन्हें अकस्मात् गाय की करुण डकराहट सुनाई पड़ी। परम दयालु सम्राट् उस भयङ्कर वन में गाय की खोज में निकल पड़े। कुछ ही दूरी पर उन्हें नदी के कीच में फँसी हुई गाय दिखाई दी। राजा ने निकट जाकर गोमाता को निकालने का यथेष्ट प्रयास किया, नदी के गहरे कीच में स्वयं भी लथपथ हो गये। अन्धकार और एकाकी होने से उसे निकालने में उन्हें सफल होना कठिन हो गया। गाय के शब्द श्रवण से वन में से एक सिंह वहाँ आ निकला। राजा गोमाता की रक्षा हेतु सिंह से युद्ध करने लगे। कुछ क्षणों

बाद नदी तटवर्ती वट-वृक्ष से एक शुक (तोता) ने मानवीय भाषा में राजा को इङ्गित करते हुए कहा, राजन् ! यह गाय जीवित नहीं रह सकती, तुम व्यर्थ में इसके पीछे अपने प्राणों को संकट में क्यों डाल रहे हो ? महाराज विक्रम ने शुक को प्रत्युत्तर में कहा, खग श्रेष्ठ ! क्या ? आप मुझे अधर्म का उपदेश कर कर्तव्य विचलित करा रहे हो। अपने प्राणों की रक्षा तो सभी करते हैं--किन्तु जो मानव इतर प्राणियों की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर दे वही तो इस संसार में धन्यवादार्ह है। सेना नायक के बिना सेना जिस प्रक़ार शून्य है उसी प्रकार विना दया के सभी सत्कर्मादि निरर्थक हैं। भले ही मेरे प्राण जाँय तो जाँय किन्तु गाय की रक्षा करना मेरा परम धर्म एवं अटल सिद्धान्त है। समस्त रात्रि महाराज ने गाय की रक्षा में व्यतीत की। सुन्दर प्रभात होते ही राजा ने देखा न तो वहाँ गाय है, न सिंह और शुक ही, सुरराज इन्द्र, धर्म और भूदेवी सामने खड़ी है। देवाधिराज इन्द्र ने अतिशय प्रमुदित होकर राजा को कामधेनु प्रदान की और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर धर्म एवं भूदेवी के साथ अन्तर्हित हुए ।

प्रजापालक महाराज विक्रम का यह पावन चरित्र कितना मर्म-स्पर्शी, आदर्श और महान् है। यदि आज के शीर्षस्थ लोकनायक इस पवित्र चरित्र से प्रेरणा प्राप्त कर दया, तितिक्षा, परोपकार आदि की ओर अग्रसर होकर गोवध के काले कलङ्क के प्रक्षालन में सन्नध हो जाँय तो कोई कारण नहीं कि इन सभी सन्त, महात्मा, धर्माचार्यों एवं गोभक्त श्रद्धालु जनता को सत्याग्रह आन्दोलन के लिए बाध्य होना पड़े ।

प्रभुता का अहंत्व कल्याण पथ में बाधक है

निखिल सद्ग्रन्थों, महापुरुषों के सदुपदेशों में अपने अधिकार एवं कर्तापन के अहंत्व का निषेध किया है। जो प्राणी अज्ञानवश स्वकीय अधिकारत्व, प्रभुत्व और मिथ्या अहंत्व के भाव को अपने मानस में उत्पन्न करता है वह निश्चय ही अधःपतन का मार्ग प्रशस्त करता है। कभी भी किसी की प्रभुता और अधिकार स्थिर नहीं रहा। बड़े-बड़े योगी, विरागी, तपस्वी, ज्ञानीजन ने भी अपने सामान्य प्रभुता के गर्व में आबद्ध होकर

अपना सर्वस्व खो दिया। विष्णु पार्षदों को इसी के परिणाम स्वरूप श्री सनकादिकों के अभिशाप से वैकुण्ठधाम के अनिर्वचनीय दिव्यानन्दका राहित्य स्वीकार कर मर्त्यलोक में निशाचर योनी से जन्म लेना पड़ा। महाराज वेन इसीलिये ऋषियों के प्रबल हुङ्कार से तत्क्षण मृत्यु के ग्रास बने। दुष्ट कंस भी अपनी सम्पूर्ण सम्पदा और असुर सेना के साथ इसी कारण सपरिकर विनष्ट हुआ। दुर्मदान्ध दुर्योधन के विनाश का हेतु भी यही था। इस प्रकार एक दो ही नहीं अगणित उदाहरण शास्त्र और लोक प्रसिद्ध हैं।

इसी प्रसङ्ग में एक प्राचीन आख्यान है। किसी एक नगर में अपने गगनचुम्बी विशाल भवन के नीचे के बाह्य कक्ष में एक नवयुवक अपनी दुकान पर विपुल अन्नराशि को सजाये बैठा है। कहीं से एक बकरा सामने पड़े अन्न के ढेर को देखकर उसे खाने को उद्यत हुआ। दुकान मालिक ने आगे बढकर उसे डंडा से बड़ी निर्ममता पूर्वक पीटा। बकरा में-में करता हुआ लौट पड़ा। संयोग से उसी क्षण अन्तरिक्ष मार्ग से देवर्षि नारद और महर्षि अङ्गिरा जा रहे थे। बकरे की उस अद्‌भुत अवस्था को देखकर श्री नारदजी हँस पड़े। अङ्गिरा ने हँसी का कारण जानना चाहा। तब देवर्षिवर्य्य श्रीनारदजी ने कहा महर्षे ! आप जिस भव्य भवन को और इस भवन के नीचे जिस छोटी सी दुकान को देख रहे हैं, यहाँ इस दुकान के अतिरिक्त कुछ भी न था, और इसके पूर्ववर्ती स्वामी (मालिक) ने इसी दुकान से व्यापार तथा नाना व्यवसायों को बढाकर उससे प्राप्त वित्त के द्वारा इस सुन्दर भवन का निर्माण कराया। उस व्यापार-परायण गृह-स्वामी की मृत्यु होने पर उसे इसी नगर में बकरा योनि में आना पड़ा। आज वही यह बकरा जब अन्न में मुख डालता है तो उसी का यह प्रीति-भाजन तरुण पुत्र उसे बेंतों और डंडों से मारता है, जिसका इसने बड़े प्यार से पोषण किया था। अब इसका एक मुट्ठी भर अनाज पर भी अधिकार नहीं है। यही जगत् का एक विचित्र चित्र है।

इसीलिये अपने अधिकार एवं प्रभुता का अहंत्व करना कल्याण पथ में परम बाधक है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी प्रस्तुत प्रकरण पर स्वयं श्रीप्रभु ने उपदेश किया है, ''अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'' अर्थात् अहंकार से मोहित हुआ मानव मैं ही कर्ता हूँ। ऐसा मान बैठता है, अतएव

श्रीहरि ने--

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।

यह उपदेश करते हुए आज्ञा की है कि जो मानव कर्तृत्वादि समस्त कामनाओं का परित्याग कर ममता, अहंकार और विविध स्पृहाओं से रहित होकर अखण्ड शान्ति को प्राप्त हुआ ''ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति'' अर्थात् यह जीवात्मा (साधक) सच्चिदानन्दघन दिव्य-मङ्गल विग्रह परब्रह्म श्रीसर्वेश्वर को प्राप्त कर लेता है।

अतः सद्धर्मपरायण साधकजनों को कर्तृत्व, अहंत्व से सदा दूर रहकर सेवाभाव संवलित हो सत्कर्मानुष्ठान में संलग्न रहना ही परम अभिप्रेत लक्ष्य नितान्त अपेक्षित है।

क्रोध सबसे बड़ा असुर है

शास्त्रों में क्रोध को असुरकी संज्ञा दी है, क्रोध से मानव विवेकहीन होकर कर्तव्या-कर्तव्य को भुला देता है। इस महाविनाशकारी क्रोध के पाश (फन्दे) में पड़कर अपने स्वर्णिम अवसर को विनष्ट कर देता है तथा पतनोन्मुखी होकर नाना यन्त्रणाओं का उपभोग करता है। इस प्रबल शत्रु रूप क्रोध के आवेग में अपना एवं अपने आत्मीयजनों के अहित करने तक का दुस्साहस कर बैठता है।

श्रीमद्भगवद्गीतोक्त इस वचन से स्पष्ट है-

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।

अर्थात् क्रोध से अज्ञता प्रकट होती है और अज्ञता से स्मृति में भ्रान्ति हो जाती है और उससे बुद्धि अर्थात् विवेक शक्ति का ह्रास हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप वह क्रोधाविष्ट प्राणी पतनोन्मुखी बन जाता है।

क्रोधाविष्ट राजा का एक पुरातन आख्यान बड़ा ही मार्मिक है। किसी एक नरेश ने चकोर नामक पक्षी कों सम्पोषित (पाल) कर रखा था, वह उन्हें अत्यन्त प्रिय लगता था। जहाँ कहीं भी राजा जाते पक्षी को अपने

हाथ में ही बिठाये साथ में रखते । एक दिन आखेट के निमित्त वे अपने साथियों से बिछुड़ कर घोर वन में जा निकले। प्यास से व्याकुल होकर वन-प्रदेश में जल की खोज करने लगे। किसी एक पर्वत के चट्टान सन्धि से एक-एक बूँद जल टपकते दिखाई पड़ा। राजा अपने प्रिय पक्षी को साथ लिए, वहाँ बैठे-बैठे जलपात्र को जल से भरा। जल पूरित होने पर ज्यों ही राजा ने पात्र को उठाया, उनके कन्धे पर बैठा चकोर पक्षी अपने पंखों की उड़ान से जल-पात्र को गिरा दिया। राजा बड़े कुपित हुए, फिर जल भरा, पक्षी ने फिर जल को फैला दिया। राजा क्रोधाग्नि से उत्तेजित हुए और चकोर को पकड़ कर उसे नष्ट कर दिया। चकोर के मरने पर जब राजा ने सहसा पर्वत चट्टान के सन्धि स्थान को देखा तो एक मरा सर्प दृष्टि में आया जिसके शरीर स्पर्श से जल टपक रहा था। राजा चौंक पड़ा और अपने दुष्कर्म पर पश्चात्ताप करने लगा, यदि मैं इस विषैले जल को पी लेता तो निःसन्देह मेरी मृत्यु हो जाती। उस परोपकारी परम हितैषी चकोर नें मेरी रक्षा के निमित्त ही बार-बार जल को गिराया, किन्तु मैं कृतघ्नी नराधम उस पक्षी के उपकार को समझने में असमर्थ रहा।

क्रोधोत्पन्नो हि क्रोधस्य फलं गृह्णाति मूढधीः ।
स शोचति तु किं पश्चात् पक्षीघातकभूपवत् ।।

जो मूर्ख मानव क्रोध के आने पर उसे शान्त नहीं कर पाता, वह क्रोध का परिणाम भयंकर क्लेश को भोगता है। पक्षी के विनाश करने वाले राजा की भाँति पीछे पश्चात्ताप करने से क्या प्रयोजन ?

किन्हीं एक सन्त का चरित है, महात्मा अपने किसी प्रिय व्यक्ति के साथ बैठे थे। अचानक एक दुष्ट ने आकर सन्त के प्रिय व्यक्ति को अप्रिय अर्थात् बुरे-बुरे शब्दों से दुतकारने लगा। कुछ क्षणों तक तो वे शान्त रहे, किन्तु जब क्रोध ने उन्हें आ घेरा तो वे भी प्रतिकार करने को उद्यत हुए। इतने में सन्त वहाँ से चल पड़े। वह व्यक्ति बोला भगवन् जब मैं मौन रहा तब तक तो आप यहाँ बैठे थे और ज्यों ही मैंने भी कुछ कहना आरम्भ किया आप चलने को उद्यत हुए। सन्त ने समझाते हुए कहा-देखो जब तुम मौन लिये हुए थे तब तक देवगण तुम्हारी ओर से उत्तर दे रहे थे। जब तुम्हारे में इस असुर क्रोध ने प्रवेश किया तो मैंने निश्चय किया, असुर का साथ छोड़ देना ही हितकर है, इसीलिये चल पड़ा ।......

यथार्थतः क्रोध का परिणाम भयावह होता है, अन्ततः प्राणी इस क्रोधासुर के चंगुल में आबद्ध कर अपनी सर्वप्रकारेण हानि कर बैठता है। अतएव सद्धर्मपरायण वैष्णवजनों को क्रोध का परित्याग कर अपने हृदय में दया, तितिक्षा, अजातशत्रुता, कृपालुता, धैर्य आदि सद्‌गुणों का अवलम्ब लेकर अपने हृदयरमण श्रीश्यामाश्याम के पदपल्लवों के चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए।

श्रीभगवन्नामामृत का सतत सेवन करो

''हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'' सर्वनियन्ता भगवान् श्रीसर्वेश्वर का मङ्गलमय पावन नाम सम्पूर्ण आपदाओं का प्रशमन तथा अनन्त सुख-समृद्धि को प्रदान करने वाला है। इसके समाश्रय से प्राणी निर्भय होकर अमित शान्ति और अखिल वैभव की उपलब्धि कर लेता है। इस परम मनोहर मधुरातिमधुर नाम का किसी प्रकार स्मरण करने पर अगणित पातकों का ध्वंस हो जाता है।

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपिस्मृतः ।
अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ।।

जिस प्रकार अग्नि बिना इच्छा के स्पर्श करने पर भी जला देती है, वैसे ही श्रीहरि का चिन्मय मञ्जुल नाम दुष्टजनों द्वारा समुच्चरित होने पर भी समस्त पातकों का हरण कर लेता है।

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः ।
तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकीजनः ।।

श्रीप्रभु के मङ्गलमय नाम में पाप निवारण की इतनी अनन्त शक्ति है कि कैसा भी महापातकी उतने पाप कर ही नहीं सकता ।

भक्तवर प्रह्लादजी ने अपने पिता दैत्यराज हरिण्यकश्यपु के प्रति कितना सुन्दर भाव व्यक्त किया है,--

रामनामजपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम् ।
पश्य तात ! मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ।।

हे पिताश्री ! मेरे शरीर के निकट देखिये तो यह सबको भस्मसात् करने वाली यह अग्नि भी मुझे शीतल जल की भाँति सुखद प्रतीत हो रही है,

क्योंकि त्रिविध-तापों का परिशमन करने में परम समर्थ श्रीभगवन्नामामृत-औषध का मैंने समाश्रय लिया है, जिससे मुझे किसी से भी भय की आशंका नहीं । राम नाम कृष्ण नाम जपने वाले को भय की कल्पना ही नहीं करनी चाहिये ।

भगवान् श्रीधन्वन्तरि का यह उपदेश सर्वदा हृदय में अवधारणीय है--

अच्युताऽनन्त-गोविन्द-नामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।।

श्रीहरि के अच्युत, अनन्त, गोविन्द आदि परमपावनतम मधुर मञ्जुल नामौषध का जो सेवन करता है वह समस्त रोग-समूह से सर्वथा मुक्त हो जाता है। यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।

वस्तुतः श्रीधन्वन्तरि भगवान् का यह दिव्योपदेश कितना अनुपम है।

सर्वेश्वर लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने भी श्रीमद्भगवद्गीता में ''सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः'' का उपदेश करके नाम-कीर्तन की ही महत्ता व्यक्त की है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी श्रीप्रभु ने देवर्षिवर्य नारद को उपदेश करते हुए संकेत किया है--

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ! ।।

हे देवर्षे ! न तो मैं वैकुण्ठादि दिव्य लोकों में रहता हूँ और न समाधि निरत उत्तम योगीजनों के अन्तःकरण में ही निवास करता हूँ। जहाँ मेरे अनन्य रसिक भक्त तन्मनस्क होकर मेरे मधुर-नामों का कीर्तन करते हैं वहीं उनके निकट सतत निवास करता हूँ।

''स्कन्द-पुराण'' के इस वचन से श्रीभगवन्नाम की अमित महिमा और भी स्पष्ट हो जाती है,--

यन्नाऽस्ति कर्मजं लोके वाग्जं मानसमेव वा ।
यन्न क्षपयते पापं कलौ गोविन्दकीर्तनम् ।।

मन, कर्म, वाणी से होने वाले जितने भी पाप-समूह हैं सभी

श्रीगोविन्द-नामकीर्तन से विलीन हो जाते हैं ।

इसी वचन की पुष्टि करते हुए श्रीयमराज ने कहा है--

इदमेव हि माङ्गल्यमिदमेव धनार्जनम् ।
जीवितस्य फलं चैतद् यद्-दामोदरकीर्तनम्।।

यही तो सबसे बड़ा मङ्गल है, धन सग्रह है और जीवन का परम फल है जो कि दामोदर भगवान् श्रीकृष्ण के मङ्गलमय नामों का कीर्तन हो।

'आदि पुराण' में वर्णित यह उपदेश कितना सुन्दरतम है,--

न नामसदृशं ज्ञानं न नामसदृशं व्रतम् ।
न नामसदृशं ध्यानं न नामसदृशं फलम् ।।
न नामसदृशस्त्यागो न नामसदृशः शमः ।
न नामसदृशं पुण्यं न नामसदृशी गतिः ।।

श्रीभगवन्नाम के समान न तो ज्ञान है और न व्रत, इसी प्रकार ध्यान, फल, त्याग शम, पुण्य और सन्मार्ग भी श्रीहरिनाम के समान नहीं हो सकते ।

'श्रीपाण्डवगीता' में भी श्रीप्रभु के उपदेश हृदय में सर्वदा अवधारणीय है--

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः ।
जलं भित्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम् ।।

जो मेरे कृष्ण-नाम का कीर्तन करते हैं उनका नरक से उस प्रकार उद्धार कर देता हूँ जिस प्रकार जल का भेदन करके कमल जल से बाहर आ जाता है ।

सत्यं ब्रवीमि मनुजाः स्वयमूर्ध्ववाहुर्यो मां मुकुन्द-नरसिंह-जनार्दनेति ।
जीवो जपत्यनुदिनं मरणे रणे वा पाषाणकाष्ठसदृशाय ददाम्यभीष्टम् ।।

हे मनुष्यों ! मैं अपने ऊर्ध्ववाहु करके कह रहा हूँ कि जो मनुष्य मेरे मुकुन्द, नरसिंह, जनार्दन आदि नामों का समर भूमि में या मृत्युकाल में उच्चारण करेगा पत्थर और काष्ठ के समान कठोर होने पर भी उसे मैं अभीष्ट-फल प्रदान करूँगा ।

जो मानव ऐसे परम पावनतम सरस नाम सुधासिन्धु में अवगाहन कर अपने आपको कृतकृत्य नहीं करता वह संसारासक्त हेयास्पद नाना

विकारों का आगार है। उसका कलुषित अन्तःकरण उसे अधःपतन की ओर ले जाता है।

इसी विषयक प्रातःस्मरणीय श्रीनिम्बार्काचार्यचरण श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने बड़ा ही सुन्दर हृदयग्राही उपदेश किया है--

हरि अमृत को डारि कर पीवै विष संसार ।
'परसा' प्यास भजन की अन्तरि वसे विकार ।।

अतएव विवेकी श्रद्धालुजनों को प्रतिक्षण अपने प्रेमास्पद परमाराध्य श्रीसर्वेश्वर के अनिर्वचनीय रसमय दिव्यनामामृत का सेवन करना चाहिए। जिससे उनकी अहैतुकी कृपा को प्राप्त कर अपना सर्वतः अभ्युत्थान कर सके ।

तर्क भगवत्प्राप्ति में बाधक है

विशेषतः मानव प्रत्येक वस्तु को तर्क दृष्टि से देखना चाहता है। वह सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर को भी अपनी प्राकृतिक बुद्धि के बल पर तर्क की कसौटी पर अङ्कन करने की इच्छा रखता है। किन्तु यह सर्वथा असंगत है, वेदादि शास्त्र विपरीत है। अष्टादश पुराणों के प्रणेता व्यास ने तो ''ब्रह्मसूत्र'' में स्पष्टतः ''तर्काऽप्रतिष्ठानात्'' कह कर तर्क-प्रमाण को हेयास्पद कहा है। धर्मराज ने भी महर्षि वाजश्रवा के तेजस्वी पुत्र को ''नैषा तर्केण मतिरापनेया'' ''ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्'' का उपेदश करते हुए तर्क को अग्राह्य बताया है।

अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तदचिन्त्यस्य च लक्षणम् ।।

महाभारत के भीष्मपर्व का यह उद्घोष भी उपर्युक्त वचनों की संपुष्टि करता है। तपः पूत,महा मनीषीजनों के अनेकानेक पावन उपदेश भी इसी ओर इङ्गित करते हैं।

परमोपासनीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधिरूढ आचार्यवर्य्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज के ये मङ्गलमय उपदेशामृत भी तर्क की अनुपादेयता के ही द्योतक हैं--

काला मुह संसार का जिसमें वाद-विवाद ।
'परसा' कहूँ न पाइयै हरि सुमिरन को स्वाद ।।
इत उत बांये दाहिने तके सोई पछिताय ।
सूधे मारग 'परसुराँ' चले सु मार न खाय ।।
'परसा' जो नर मनमुखी चाले स्वान सुभाइ ।
सिंहासन बैठाइये चाकी चाट न जाइ ।।

इस प्राकृतिक जगत् का विवाद अर्थात् निरर्थक प्रलाप जिसमें श्रीसर्वेश्वर के स्मरण चिन्तन का अभाव है। कहीं भी आनन्दसुधा रस की उपलब्धि नहीं, जो श्रुति-स्मृति-पुराणादि के महोत्कृष्ट उपदेश से विमुख होकर इधर-उधर के तर्क प्रपञ्च में प्रवृत्त रहता है, उसे पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं होता। यदि वह धर्मशास्त्र वचनों के अनुसार सीधे मार्ग पर चलता है तो उसे कहीं पर भी विपत्ति का स्पर्श नहीं हो सकता। मनमुखी स्वेच्छाचारिता के अवलम्ब लेने पर उच्च पदाधिरूढ भी स्वभाववश स्वान की भाँति गर्ह्य कर्मों के ही आश्रित रहता है।

अतः विज्ञजनों को वृथा तर्क जञ्जाल में न पड़कर शास्त्र प्रतिपादित आप्तानुमोदित उपदेश-पथ पर आरूढ रहते अपने सर्वाराध्य सर्वेश्वर की मङ्गलमयी कृपा की आकांक्षा रखनी चाहिये, इसी में कल्याण है।

संकटापन्न में हमारा कर्त्तव्य

''अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्''

मनुष्य अपने किये हुए शुभाशुभ कर्म का फल अवश्यमेव भोगता है, इसमें सन्देह नहीं। और भी कहा गया है ''जैसी करणी वैसी भरणी'' जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है। तभी तो आचार्यप्रवर श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने कहा है कि--

सावण ऋतु वरषा भई बायो बीज बबूल ।
करसण निपट्या परसुराँ विलसन को फल सूल ।।

जब श्रावण ऋतु में वर्षा हुई तब बबूल का बीज बोया, खेती का कार्य समाप्त हो जाने के बाद उसे केवल वेदना पहुँचाने वाले कांटे ही

फलस्वरूप में मिलते हैं। जब अनाचार, दुराचार, दुर्विचार, भ्रष्टाचार प्रभृति दुर्गुणों का प्राबल्य हो और सदाचार, सद्विचार आदि सद्‌गुणों का सर्वथा राहित्य रहा हो उस समय क्या होगा ? उसका फल तो महामारी, दुर्भिक्ष, कलह, लूट-कसोट आदि उत्पात ही होंगे । शुभ फल की चाहना सब करते हैं, पर शुभ कर्म करना नहीं चाहते । जैसे--

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ।।

धर्मशास्त्रों का कथन है कि ''सुखं वाच्छन्ति सर्वे हि तच्च धर्म समुद्भवम्'' अर्थात् सुख की अभिलाषा सभी प्राणी करते हैं। पर वह सुखोप-लब्धि धर्माचरण द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। आज धर्माचरण से उदासीन होने के फलस्वरूप ही गायों पर सङ्कट, वर्षा का अभाव, रोगों की उत्पत्ति एवं नाना उत्पातों का होना स्वाभाविक है। ऐसी विषम स्थिति में धार्मिक जनता का कर्तव्य है कि इन सङ्कटों के परिहार के लिए प्रभु से नित्य प्रार्थना करें। 'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'' मङ्गलमय श्रीसर्वेश्वर प्रभु के स्मरण से सभी आपदाओं का विनाश होता है और अनन्त सुख साम्राज्य मिलता है।

भगवत्कृपा का सुलभ साधन

यद्यपि भगवत्कृपा साधन साध्य नहीं है, ''यमे वैष वृणुते तेन लभ्यः'' जिन पर सर्वेश्वर श्यामसुन्दर स्वयं कृपाकटाक्ष कर दें वे ही उनके कृपाभाजन हो सकते हैं। फिर भी जो प्राणी अत्यन्त दैन्य भाव से उनके अनन्य शरण हो जाता है वह उनकी कृपा का विशेष पात्र हो सकता है। इसी का संकेत सुदर्शनचक्रावतार श्रीनिम्बार्क भगवान् ने ''कृपास्यदैन्यादि-युजि प्रजायते'' का उपदेश प्रदान कर कृपा प्राप्ति का सुलभ साधन दैन्य भाव (दीनता) को बताया है।

वस्तुतः जिन भक्तों में दीनता, प्रपन्नता, सरलता, साधुता है, वे ही यथार्थ भक्त हैं। ऐसे भक्त सर्वदा विनम्रता धारण किये प्रतिक्षण अपने प्रेमास्पद को पाने के लिए उत्कण्ठित रहते हैं। और वे सतत अपने उपास्यदेव के चिन्तन में संलग्न रहते हुए उन्हें प्राप्त भी कर लेते हैं । ऐसे स्वाराध्यनिष्ठ

भक्तों की दिव्यावस्था का निरूपण 'श्रीब्रह्मपुराण' में बड़ी ही कमनीयता से किया है।

कृष्णेरताः कृष्णमनुस्मरन्ति, रात्रौ च कृष्णं पुनरूत्थिता ये ।
तेऽभिन्न देहाः प्रविशन्ति कृष्णे, हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशे ।।

अर्थात् जो सदा ही श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण में अपने मन को लगाये रहते हैं और प्रातः सायं प्रतिक्षण उन्हीं का स्मरण करते हैं, वे दिव्यात्मा रसिक भक्त मन्त्र प्रयुक्त हवि जिस प्रकार अग्नि स्वरूपता को प्राप्त कर लेती है वैसे ही अपने प्राणधन जीवन सर्वेश्वर को पा लेते हैं। इसी कथन को वे अनन्तकृपापयोधि भगवान् श्रीकृष्ण ''श्रीमद्भगवद्गीता'' में निर्देश करते हैं--

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।

हे प्रिय अर्जुन ! मेरे प्रति अपने अन्तर्मन को जो भक्त अर्पित कर देता है अर्थात् अपने अनन्य चित्त से मेरी निच्छल भक्ति करता है, उन्हें मैं बहुत शीघ्र ही इस मृत्युस्वरूप भवार्णव से सहज ही समुद्धार करने में तत्पर हो जाना मेरा स्वाभाविक स्वरूप है। वस्तुतः उन अनन्तकोष सर्वेश्वर श्रीहरि की कृपा ही स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

अतः साधक भक्त को उपर्युक्त दैन्य भाव से संवलित होकर निरन्तर अपने उपास्य की आराधना में तत्पर रहना ही भगवत्कृपा प्राप्ति का सर्वोत्तम सर्वसुलभ साधन है।

मृत्यु प्रतीक्षा नहीं करती कल करने का आज करो

श्रीसर्वेश्वर की सहज कृपा और बहुजन्मार्जित पुण्यों के प्रभाव से यह अलभ्य मानव देह मिला है। इस सुरदुर्लभ देह को प्राप्त कर इसका उपयोग भगवत्परक नहीं किया तो संसार के नाना क्लेशों का उपभोग और अन्त में नारकीय यातनाओं के अतिरिक्त कुछ भी मिलने का नहीं। विवेकीजन इस सतत प्रवाहमाण समय का सदुपयोग कर लेते हैं। वे विपुल ज्ञान सम्पन्न

महापुरुष अपने कर्तव्य कार्य को कालान्तर में सम्पन्न न करके तत्क्षण ही उसे पूर्ण करते हैं। शास्त्रों का यह संकेत उसी का तो निर्देश है,

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वान्हे चापराह्लिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाऽस्यनवाऽकृतम् ।।

अर्थात् जो कार्य आगामी कल पर छोड़ रखा है, उसे आज ही कर लेना चाहिए। तथा जो कार्य अपराह्ल (सायंकाल) में करना है, उसे पूर्वाह्ल (प्रातः) ही कर लेना आवश्यक है। क्योंकि अमुक कार्य पूर्ण है या अपूर्ण, मृत्यु इसकी प्रतीक्षा नहीं करती।

भक्तवर श्रीप्रह्लादजी ने अपने समवयस्क बालकों को भागवद्धर्म का निरूपण करते हुए कहा है--

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः ।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम् ।।

बुद्धिमान् पुरुष सतर्क होककर अपने कल्याण के लिए प्रयत्न करे जब तक कि यह परम समर्थ शरीर विनष्ट न हुआ हो ।

इसी प्रकार अन्य अनेकों परम भागवत भगवद्भक्तों ने भी अपने ग्रन्थों में उक्त कथन की ही परिपुष्टि की है। अनन्त श्रीविभूषित श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज के इस निम्नाङ्कि पद में भी प्रस्तुत प्रसङ्ग की सुन्दर अभिव्यक्ति की है--

अरे मनुवा हरि भजिये तो भली ।
श्री व्रजराज कुँवर पद अँबुज पी मकरंद अली ।।
भूत पितर अरु देव सबन के घर घर रङ्गरली ।
भूरि भाग हरि-हरिजन जन को बिकसत चित्तकली ।।
यह औसर दुल्लभ पुनि पैहो नरतन मुक्त गली ।
'गोबिंदसरन' सलिता के जल ज्यौं बय निति जात चली ।।

इसी अतीव श्रेष्ठतम भाव को उन सर्वद्रष्टा सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने ''श्रीमद्भगवद्गीता'' में निर्दिष्ट किया है,--

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।।

वे परम करुणार्णव श्रीहरि शरणागत अर्जुन को संकेत कर रहे हैं- जो भक्त अपने चित्त को मेरे प्रति श्रद्धायुक्त तन्मनस्क अर्थात् तन्मय होकर मेरा ही भजन अनुस्मरण करता है, मेरी अनन्य भाव से उपासना करता है उसे मैं सर्वोत्तम भक्त समझता हूँ।

एवं विध अगणित आप्तवचन हैं अतएव धीमान् पुरुष अपने कर्तव्य पालन में विलम्ब न करे क्योंकि मृत्यु कभी भी किसी की प्रतीक्षा नहीं करती, इसीलिये कल करने का आज करो और आज करने का अभी करो।

परोपकारी भगवन्निष्ठ जन ही महापुरुष हैं

यों तो सभी प्राणीमात्र भगवदीय अंश हैं और अपने जन्मान्तरीय कर्मानुसार सुख दुःख का उपभोग करते हैं। किसी प्रबल संस्कारजन्य कहो या उन सर्वनियन्ता श्रीसर्वेश्वर की सहज कृपा कहो यह परम श्रेष्ठतम मानव शरीर मिल जाता है। इस स्वर्णिम शरीर को प्राप्त कर यह जीवात्मा दुस्सङ्ग परायण हो असदाचार की ओर प्रवृत्त हो जाता है तो वही असुर, अत्याचारी आदि संज्ञाओं से युक्त होकर अगणित क्लेशों का उपभोग करता हुआ अन्ततः निरयगामी बन जाता है। और कदाचित् वही जीवात्मा महापुरुषों के परम पावन उज्ज्वल संग में अपने पवित्र जीवन को समर्पित कर देता है तो साधु, महात्मा, महापुरुष, महाभागवत या उत्तम श्लोक आदि दिव्य संज्ञाओं से विभूषित होकर अनन्त सुख साम्राज्य की उपलब्धि पूर्वक श्रीभगवद्धाम में निवास करता हुआ अपने आराध्य के मङ्गलमय अनिर्वचनीय दर्शन कर सतत रूप से परम प्रफुल्लित रहता है। ऐसा पुण्यात्मा महापुरुष जब तक इस धराधाम को अलंकृत करता है निरन्तर भगवच्चिन्तन, परोपकार, सदाचार सेवन, स्वाध्याय निरत एवं प्राणीमात्र की हितकामना में ही अपना महान् सौभाग्य मानता है। वस्तुतः शास्त्र-प्रतिपादित इन निर्मल नियमों का अनुसरण करने वाला इस प्रकार का मानव ही महापुरुष कोटि में उत्तमश्लोक हो जाता है। इसी प्रस्तुत प्रसङ्ग पर श्रीवृहन्नारदीय के ये कतिपय वचन कितने महत्व के एवं हृदयग्राही हैं।

ये जनाः सर्वजन्तूनां गतासूया विमत्सराः ।

वासनानिस्पृहाः शान्तास्ते वै भागवतोत्तमाः ।।१।।
कर्मणा मनसा वाचा परपीडां न कुर्वते ।
अपरिग्रहशीलाश्च ते वै भागवतोत्तमाः ।।२।।
सर्वेषां हितवाक्यानि ये वदन्ति नरोत्तमाः ।
तीर्थयात्रापरा ये च ते वै भागवतोत्तमाः ।।३।।
मन्मानसाश्च मद्भक्ता मद्भक्तजनलोलुपाः ।
सर्वभूतदयायुक्तास्ते वै भागवतोत्तमाः ।।४।।
बहुनात्र किमुक्तेन संक्षेपात्ते ब्रवीम्यहम् ।
कृष्णनामरता ये च ते धन्या नात्र सशयः ।।५।।

अर्थात्-क्रोध, मत्सर एवं सांसारिक वासनाओं का जिन्होंने सर्वथा परित्याग कर दिया है और जो निरन्तर सम्पूर्ण प्राणियों के हित-चिन्तन में संलग्न हैं, सदा शान्त रहते हैं, ऐसे भगवज्जन ही भागवतोत्तम महापुरुष हैं॥१॥ जो वाणी, मन और कर्म से कभी किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाते, अपरिग्रह अर्थात् जगत् के विनश्वर पदार्थों का कभी अनावश्यक संग्रह नहीं करते, ऐसे परमशील जन ही भागवत श्रेष्ठ हैं॥२॥ वे मानवोत्तम महापुरुष सभी के लिए परम हितकर वचनों का प्रयोग करते हैं, पावन तीर्थों की यात्रा हेतु सदा विचरण करते हुए प्राणियों के कल्याण करने वाले सन्तजन ही भागवतोत्तम हैं॥३॥ जो मेरे (अर्थात् श्रीसर्वेश्वर प्रभु) में अपने मन को स्थित करने वाले और मेरे अनन्य भक्तजनों के दर्शन एवं शुभ सङ्ग के लिए सदा लालायित तथा निखिल जीव राशि पर प्रतिक्षण दया परायण रहे वे श्रद्धालु भक्त अतिशय श्रेष्ठ महाभागवत हैं॥४॥ किंबहुना संक्षेप में यही कथन उत्तम है कि परमानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण के अति मधुर ललित दिव्य नामों का भाव विभोर होकर संकीर्तन करते हैं, वे इस संसार में महान् धन्य हैं, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं ॥५॥

यथार्थ में महापुरुषों की जीवनचर्या और उनके आदर्श कर्तव्य बड़े ही उत्कृष्ट और परम कल्याणकारी हुआ करते हैं, इसी प्रसङ्ग पर श्रीमज्जगद्-गुरु भगवन्निम्बार्काचार्य श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज ने अपनी सरस वाणी में निम्नोल्लिखित पद से कितना सुन्दरतम प्रतिपादन किया है--

जग में तेई जन बड़भागी ।

शुद्ध भाव मैं मगन रैन दिन कृष्ण चरन अनुरागी ।।
कृष्न भजन सौं अंतर पारै अधरम करि जानै ।
सोई धरम जासौं भक्ति होय दृष्टि श्याम रूप मन सानैं ।।
ब्रह्म रुद्र हरिदेव पुरातन तीनौ सम करि गाये ।
विष्णुभक्ति सौं मुक्त होत नर यों शुक जन समुझाये ।।
हरि सेवा सौं होत विमल मन त्यौं साधन नहिं होई ।
'गोबिंदसरन' साधक चिंतन मन भक्ति करो सब कोई ।।

ऐसे असंख्य आप्त वचन हैं जिनसे वास्तविक महापुरुषों के सच्चे स्वरूप का बोध हो सकता है। उन दिव्यात्मा महाविभूतियों के केवल दर्शन मात्र से ही अपार सुख और शान्ति का अनुभव होने लगता है । उनके सहज आचरण तथा सदुपदेश से जागतिक जीवों को बिना प्रयास के श्रेय प्राप्ति हो जाती है। अतएव ज्ञान पिपासु साधक भक्तों को इसी प्रकार के उत्तम जनों का श्रेष्ठ सङ्ग कर अपने परम प्रेमास्पद हृदयाराध्य के आराधन में अनवरत तत्पर रहना नितान्त आवश्यक है।

दुर्व्यसनों का त्याग एवं धर्माचरण ही यथार्थ सुख है

आज का अधिकांश किंकर्तव्य विमूढ मानव अशान्त और अत्यन्त दुःखी है। यद्यपि वह सुख शान्ति के लिये लालायित अवश्य है किन्तु अकर्तव्य कर्म परायणता के कारण नितान्त संतप्त तथा निरन्तर विपद्ग्रस्त बना रहता है। भौतिक जगत् के अवांछनीय गर्ह्यतम दुर्व्यसनों में आबद्ध होकर इहलौकिक एवं पारलौकिक उभय सुख सामग्री से वञ्चित हो जाता है। दुर्व्यसनी कभी भी समाज में प्रतिष्ठा नहीं पा सकता, अपितु सर्वदा अशान्त रहकर दुष्कर्मों की ओर प्रवृत्त बना काम, क्रोध, लोभ, मोहादि षड्रिपुओं की भीषण ज्वाला से स्वयं को तथा निज बन्धुजन परिजनों को दग्ध करता रहता है । यही कारण है कि सुख-शान्ति का पिपासु रहते हुए भी उसकी उपलब्धि नहीं कर पाता ।

दुर्व्यसन मानव का प्रबल शत्रु है और धर्माचरण उसका परम

कल्याणकारी महान् साधन है। नाना दुर्व्यसनों से आक्रान्त मानव रोग, भय, ईर्ष्या, द्वेष आदिक से पीड़ित होकर पतनोन्मुखी बन जाता है। इसके विपरीत वेदादि शास्त्रोपदिष्ट पवित्र धर्माचरण का निरन्तर सेवन करने वाला जन सदा निर्मलान्तःकरण अजातशत्रु एवं सर्वजनप्रिय होकर अमित शान्ति की प्राप्ति करता है।

दुर्व्यसनों के सङ्ग से ही सदा धर्म के सेवन करने में तत्पर कर्मठ ब्राह्मण अजामिल जघन्यतम कृत्यों को करने वाला दुर्दान्त अत्याचारी बन गया। और धर्माचरण में सतत सन्नद्ध रहने वाले भक्तवर प्रह्लाद ने अल्पायु में ही भगवद्दर्शनों का परम सौभाग्य प्राप्त कर लिया। एतदर्थ दुर्व्यसन अत्यन्त हेय और निकृष्ट है। धर्माचरण ही जीवन को उत्थान की ओर अग्रसर करता है।

साम्प्रतिक युग में जो उच्छृङ्खलता दुराचार परायणता तथा अनुशासनहीनता का नग्न ताण्डव हो रहा है, इसका मूल हेतु है दुर्व्यसन, बिना इसके परित्याग के त्रिकाल में सुख-शान्ति सम्भव नहीं है। सुतरां दुर्व्यसन रहित होकर धर्माचरण की ओर अभिरत होना अपना एवं अपने समाज तथा राष्ट्र क परम हित है। भगवान् श्री मनु का इसी विषयक यह मार्मिक वचन सर्वदा मननीय है।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ।।

मनुष्य श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रों के उपदिष्ट धर्म का पालन करता हुआ इस जगत् में यश प्राप्त करता है तथा मृत्यु के बाद परम श्रेष्ठ सुख से परिपूर्ण होता है।

धर्म ही भ्रष्टाचार का प्रतिबन्धक हो सकता है

आज संसार में जिस ओर देखो लूट-खसोट, हत्यायें, अनाचार, दुराचार और निस्संकोच उच्छृङ्खलता की भीषण ज्वाला दृष्टिगोचार हो रही है। आज का बहुधा विवेकहीन मानव धार्मिक, नैतिक तथा चारित्रिक आश्रय को त्यागकर दुष्कर्म परायण होता जा रहा है। अपनी स्वार्थपरता के पीछे अत्यन्त निन्दनीय क्रूर से क्रूर, गर्ह्य से गर्ह्य और घोर से घोर पापकर्मों के करने में लेशमात्र भी संकोच नहीं करता। देश, धर्म, संस्कृति, मर्यादा आदि सभी से विमुख होकर अज्ञानपाश में आबद्ध हुआ हिंसा, अत्याचार आदि पिशाचीय अकर्मों की ओर प्रवृत्त होना ही उसके जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य बन रहा है। परिणाम में अन्ततः वह उभयतोभ्रष्ट होकर क्लेशरज्जु से बँधा नारकीय भयङ्कर यातनाओं का उपभोग करता है।

निर्दिष्ट इन सभी समस्याओं का समाधान एकमात्र धर्म है। धर्म सेवन के बिना राजकीय कठोर शासन की व्यवस्था एवं प्रबल नियन्त्रण के रहने पर भी दुष्कर्मों का परिहार सम्भव नहीं है। यह तो केवल धर्म के सर्वदा आचरण से ही स्वयंमेव दुष्कर्म लिप्सा की निवृत्ति तथा सदाचार सेवन की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। धर्म कि बिना मानव का जीवन सर्वथा निरर्थक है और इसी प्रकार धर्म विरहित राजनीति भी वाराङ्गना के समरूप है। अतः वैदिक सनातन धर्म ही सेवनीय तथा आश्रयणीय है। महर्षि चाणक्य के इस संक्षिप्त उपदेश की कैसी सुन्दर अभिव्यक्ति हो रही है--

स जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य च जीवति
।
गुणधर्मविहीनस्य जीवनं निष्प्रयोजनम् ।।

जिनके गुण और धर्म जीवित हैं वास्तव में वही जी रहा है, गुण और धर्म रहित व्यक्ति का जीवन वृथा है।

भगवान् श्रीमनु के दिव्य वचन भी इसी ओर इङ्गित करते हैं,--

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत् ।।
न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।

अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ।।
अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ।।

विनष्ट हुआ धर्म ही मारता है और रक्षित धर्म ही रक्षा करता है। अतएव नष्ट हुआ धर्म कहीं हमको न मारे-यह विचार कर धर्म की हानि कदापि नहीं करनी चाहिये।। पाप पवृत्त अधर्मियों की शीघ्र ही दुर्गति होती है। ऐसा समझ कर पुरुष को चाहिए कि धर्म में मन लगाता हुआ भी अधर्म में मन न लगावे। अधर्मी प्रथम अधर्म से बढता है, फिर उससे अपना भला देखता है, पश्चात् शत्रुओं को जीतता है और फिर अन्त में स्वयं समूल नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार तत्त्वदर्शी सभी महापुरुषों ने धर्म के परिपालन पर ही बल दिया है। और वस्तुतः धर्म ही से हो रहे घोर भ्रष्टाचारों को रोका जा सकता है। यही समस्त शास्त्र तथा त्रिकाल द्रष्टा महर्षियों का दिव्य आदेश है। राष्ट्र, समाज और व्यक्ति की अभिसम्वृद्धि के लिए धर्म सेवनीय है तथा इसी से देश में वर्द्धमान इस भ्रष्टाचार का प्रतिबन्ध सम्भव है।

“यतो धर्मस्ततो जयः”

तीव्र उत्कण्ठा ही श्रीप्रभु-दर्शन का सरल साधन है

शास्त्रों के अनन्त वचनों, महापुरुषों के विविध उपदेशों तथा भगवन्निष्ठ रसिक भक्तजनों के सारयुक्त दिव्य अनुभवों का एक ही निष्कर्ष है कि अपने सर्वस्व आराध्य के दर्शन एवं मिलन की तीव्रतम उत्कण्ठा अपने हृदय-स्थल में आविर्भूत हो। अपनी यावन्निखिल क्रियायें सर्वदा एकमात्र उन्हीं के लिये हो। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं में अपने प्रेमास्पद के पाने को अत्यन्त पिपासा नैरन्तर्य्य रूप से विद्यमान हो। अथ च अकृत्रिम भाव से सदैव उनकी आराधना में स्थित रहते हुए तदनुरक्त हो। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में सर्वत्र रस परब्रह्म श्रीसर्वेश्वर के ही मङ्गलमय दर्शनों की विशुद्ध भावना हो। जिस प्रकार पिपासाकुल प्राणी मधुर जल की

खोज में इतस्ततः भटकता हुआ उसे प्राप्त करने की इच्छा लिये अतीव व्याकुल बना तड़पता रहता है, बस हरिदर्शन पिपासु रसिक साधक भक्त भी यदि इसी लालसापूर्ण अवस्था को बना ले तो उन परम दयामय करुणार्णव की अनुकम्पा में फिर विलम्ब कहाँ।

श्रीभगवद्-रस-रसज्ञ रसिकों की यही स्थिति तो रही है। वे एक पल भर भी अपने हृदय जीवन-धन के चिन्तन-स्मरण के बिना विकल हो उठते हैं। श्रीप्रभु के दर्शन हेतु विश्व के निखिल विभव को त्याग कर अनवरत उनकी उपासना में तन्मनस्क होकर संलग्न बने रहते हैं। व्रज ललनाओं ने तो अपने प्राणाधार श्रीश्यामसुन्दर के महारास केलि के समय अदृश्य होने पर पितामह ब्रह्मा को ''जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृत् दृशाम्'' कहकर कितना विचित्र उपालम्भ दिया है। 'अरे संसार स्रष्टा विधाता तैने अपनी अज्ञता का स्वरूप बताते हुए हमारे इन नेत्रों के ये पलक क्यों बनाये जो श्रीश्यामसुन्दर के परम कमनीय श्रीमुखचन्द्र छटा की महारूप रस-माधुरी के पान करने में ये अत्यन्त अन्तराय रूप बाधक बन रहे हैं।' व्रजगोपियों के इस रस परिपूरित मार्मिक उपालम्भ में कैसी अनिर्वचनीय माधुर्यपूर्ण अभिव्यक्ति है। भक्तों का यह सर्वोच्च भाव ही तो विश्वनियन्ता को प्रेम-शृङ्खला मे बांध देता है। भक्तों की वह उज्ज्वल उत्कण्ठा उत्तरोत्तर स्वाराध्य को पाने की प्रबलतम होती रहती है। वे प्रतिक्षण उनके ध्यान, स्मरण, अर्चन, वन्दनादि में ही स्वयं को सतत प्रवृत्त रखते हैं।

कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये ।
तेऽभिन्नदेहाः प्रविशन्ति कृष्णे हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशे ।।

नयनाभिराम श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण में अनवरत अभिरत हुए उन्हीं का जो अहर्निश स्मरण करते हैं, वे शरणागत श्रीप्रभु को उसी प्रकार प्राप्त करते हैं, जिस प्रकार मन्त्र से आहुति की गई हवि अग्नि को प्राप्त कर लेती है।

'ब्रह्म पुराण' के इस वचन से भक्तों की भगवत्परक उत्कण्ठा का कितना सुन्दरतम चित्रण हुआ है। 'श्रीमहावाणी' रस ग्रन्थकार अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने भी इस एक पद से प्रस्तुत भाव की कितनी मनोहर तथा सरस वर्णना की है-

रहौ मेरे नेह चरन-वन जात ।

कुँवरि किसोरी स्यामा गोरी, सहज सदा रँगरात ।।
और कछूअभिलाष न बलि जाऊँ, इहि लालच ललचात ।
''श्रीहरिप्रिया'' निरन्तर ध्याऊँ, परिहरि दूजी बात ।।

वस्तुतस्तु ऐसी अनुपम उत्कण्ठा होने पर वे हृदयरमण श्रीश्यामा-श्याम अपनी निर्हैतुकी कृपाकादम्बिनी के सरस सीकरों (भक्तिकणों) से रसिक भक्तों को अभिसिञ्चित कर अमितानन्दसिन्धु में आप्लावित कर देते हैं। बस आवश्यकता है केवल तीव्र उत्कण्ठा की ।

वाणी-शुद्धि सर्व सिद्धियों का मूल है

मानव के जीवन में उसकी विभिन्न क्रियाओं में वाणी अर्थात् बोलने का बड़ा ही महत्व है। यदि उसकी वाणी में सत्यता है, मधुरता हैं, सरसता है, गम्भीरता है, कोमलता है, यथार्थता एवं पूर्ण दृढता है तो वह न केवल भू-लोक ही अपितु निखिल-लोक सम्मान्य तथा परम वन्दनीय बन सकता है। वाणी के उज्ज्वल प्रभाव से मानव ही नहीं परंच पशु-पक्षी, स्थावर-जङ्गम (चेतन-अचेतन) सभी अथ च सकल देव समूह तथा विश्वनियन्ता भगवान् श्रीसर्वेश्वर भी प्रमुदित हो जाते हैं। वाणी की परिशुद्धि (पवित्रता) ही समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाली है। जो जन अपनी वाणी को संयम पूर्वक अति मधुरता एवं सुष्ठुता से बरतता है वह निस्सन्देह सकलजन प्रीतिभाजन तथा लोकमान्य हो सकता है। शुक-पिक-मयूर-सारिका-सारस प्रभृति पक्षीगणों का ललित कलरव, मधुकरनिकर का अतिकमनीय सुगुञ्जन, गो-कुल का कलित हम्बारव, वीणा की अतीव मनोज्ञ कोमल झंकृति, वंशी का परम मधुर सुनिनाद, मृदङ्ग का गम्भीर शब्द, दधिमन्थन का मनोहर घोष, वेदज्ञ विप्रों का सस्वर वेद पाठ, संगीत मर्मज्ञों का कलकण्ठ संगीत, शास्त्रविद् विद्वानों का सरस प्रवचन, ग्राम्य बालाओं का चित्ताकर्षक सुन्दर लोक-गीत आदि-आदि ये सभी तो वाणी का ही परम वैशिष्ट्य है।

पितामह भीष्म की भीष्म-प्रतिज्ञा तो अति प्रसिद्ध है, उस वाणी के प्रभाव से ही श्यामसुन्दर श्रीगोविन्द को भी अपनी अटल प्रतिज्ञा भङ्ग करनी पड़ी। अष्टादशपुराण रचयिता भगवान् व्यास का तत्त्वयुक्त सारपूर्ण

दिव्य उपदेश उस वाणी का ही तो माध्यम है। श्रीसनक-नारद-शुक-सूत याज्ञवल्क्य-अष्टावक्र-वशिष्ठ-गौतम-वाल्मीकि-जनक आदि देवर्षि-ऋषि-मुनि-राजर्षियों का महत्वपूर्ण शास्त्रोपदेश भी वही वाणी का एकमात्र अवलम्ब है। ''वैष्णवाचार्य एवं शंकराचार्य प्रभृति सभी धर्माचार्यों द्वारा प्रतिपादित आत्म-परमात्मतत्त्व-विवेचन भी उस अलौकिक अप्रतिम वाणी का ही द्योतक है। इस प्रकार भारती-भवभूति-माघ-वाणभट्ट और महाकवि कालीदासादिक के परमोच्च सरस काव्य भी उस वाणी की ही दिव्य धारा हैं।'' श्रीजयदेव-श्रीभट्ट हरिव्यास-हरिदास-व्यास-परशुराम-अष्ट-छाप कवि सुर-तुलसी-कबीर-मीरा-नागरीदास प्रभृति अनेक आचार्य सन्त भक्तों का अति ललित पदावली का दिव्य सृजन उस वाणी का ही परम साधन है। वाणी की अत्यन्त दृढता से ही महाराणा प्रताप, समर नीति कुशल श्रीशिवाजी, गुरुगोविन्दसिंह, वन्दा वैरागी इत्यादि देश के ये कर्णधार महापुरुष विश्ववन्द्य बने। स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, महामना मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी अनेक शीर्षस्थ नेतागण भी वाणी के प्रताप से अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र करने में समर्थ हो सके। कहाँ तक कहा जाय वाणी के ही आश्रय से सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड का अखिल कार्य अबाधगति से सञ्चालित है। वाणी के सदुपयोग और दुरुपयोग पर ही सब कुछ निर्भर है। यदि इसका यथार्थ उपयोग किया जावे तो व्यष्टि-समष्टि सभी का उत्थान एवं कल्याण निश्चित है। दुरुपयोग करने पर महा विनाश भी सम्भव है। सुतरां वाणी की परिशुद्धि नितान्त आवश्यक है। वाणी को सदैव संयम पूर्वक मधुरता से व्यवहृत किया जाय तो शत्रु भी मित्र, दुर्जन भी सुजन और हिंसक भी अहिंसक बन सकता है। असत्य वाणी कदापि न बोलो, कटु शब्दों का प्रयोग सदा ही अहितकर है। ''सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'' यह शास्त्रोपदेश बड़ा ही मार्मिक एवं परम हितकारी है। अतः विज्ञजन सदा अपनी वाणी को नियन्त्रित रूप से मृदुता-मधुरता-सत्यता से व्यवहार में लें तो अवश्यमेव विश्व में सुख-शान्ति का अखण्ड साम्राज्य संस्थापित हो सकता है। अतएव वाणी-शुद्धि सर्व सिद्धियों का मूल है।

अपने बल का उपयोग दीन-सेवा में करो

मानव निरन्तर अपने को कायिक, वाचिक, मानसिक सभी प्रकार से बलशाली बनाने में उत्सुक रहता है, और वह अनेक विध साधनों का सञ्चय कर श्रीप्रभु-कृपा से प्रबल बल सम्पन्न भी हो ही जाता है। किन्तु बहुधा देखा यह जाता है कि वह अज्ञानवश अपने उपार्जित बल का उपयोग व्यर्थ के प्रपञ्चों एवं असहाय पीड़ित जनों को उत्पीड़ित करने में ही सौभाग्य का अनुभव करता है। इसी बल का प्रयोग यदि निर्बल दी दुःखियों की परिचर्या में किया जाय तो निस्सन्देह मानव एवं देव समूह ही क्या परात्पपर-तत्त्व परब्रह्म विश्वनियन्ता श्रीसर्वेश्वर भी अत्यन्त प्रसन्न होकर उसे अपना कृपा भाजन बना लेते हैं। भगवद्भक्त अपनी भक्ति का, धर्मशील धर्म का, विद्वान् विद्या का, बुद्धिमान् सद्बुद्धि का, नीतिमान् कुशल नीति का, दानी पवित्र दान का, वीर वीरता का, मल्ल मल्लता का, सदाचारी सदाचार का, सच्चरित्रवान् सच्चारित्र्य का, कलाविद् कमनीय कला का, कवि सरस कविता का, प्रवीण प्रवीणता का और सर्वोपरि दीन-रक्षक अपनी दीनता, दया-तत्परता का सम्यक् आचरण करे तो फिर मानव में देवत्व का दर्शन स्वतः सिद्ध है। महाराज रन्तिदेव सतत आर्तजनों के दुःख दूर करने उनके आवश्यक साधनों की पूर्ति करने एवं उनकी सेवा तत्परता में ही स्वयं को परमसुखी माना करते थे । श्रीप्रभु से उन्होंने दिव्यभाव संवलित होकर यही तो याचना की है।

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ।।

(श्रीमद्भा० स्क० ९ अ० २१ श्लो० १२)

मैं श्रीप्रभु से अष्टसिद्धियुक्त परमगति नहीं चाहता। और तो क्या, मैं मोक्ष की भी कामना नहीं करता। मैं केवल यही चाहता हूँ कि मैं समस्त प्राणियों के हृदय में निवास करूँ जिससे अन्य किसी भी प्राणी को दुःख न मिले ।

महाराज रन्तिदेव की कैसी अद्भुत कामना है यह, जिसे श्रवण करते ही चित्त पुलकित हो उठता है। आर्तों के प्रति कैसी आर्तभरी अभ्यर्थना

है उनकी। वस्तुतः ऐसे ही महान् सौभाग्यशाली जन ही यथार्थ में महापुरुष हैं। शास्त्रों में इस प्रकार के अन्य भी उदाहरण अनेक हैं जिनके पावन चरित से मानव को दिव्य प्रेरणा मिलती है। जो परम भागवत भगवद्भक्ति परायण वैष्णव भक्तजन हैं उनकी समस्त प्राणीमात्र के हितार्थ ही समस्त क्रियायें होती है। इसी पवित्र भावपरक श्रीवृहन्नारदीय पुराण के ये वचन सर्वदा मननीय हैं--

ये हिताः सर्वजन्तूनां गतसूया विमत्सराः।
वासनानिस्पृहाः शान्तास्ते वै भागवतोत्तमाः।।
कर्मणा मनसा वाचा परपीडां न कुर्वते।
अपरिग्रहशीलाश्च ते वै भागवतोत्तमाः।।

जिनमें किसी प्रकार के छल छिद्र नहीं है, प्राणीमात्र पर दया निरत, वासना रहित है जो सदा शान्तस्वरूप हैं वे परम भागवत उत्तमश्लोक हैं। कर्म, मन और वाणी से किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं देते एवं किसी प्रकार का संग्रह नहीं करते ऐसे श्रेष्ठतम भागवत महापुरुष परम वैष्णवरूप में अवस्थित हैं। वस्तुतः जिनका दीन सेवा व्रत ही परम साधन रहा है। अतः धर्म परायण जनों को अपने बल का उपयोग दीन-सेवा में ही करना अतिशय कल्याणकारी है।

हिन्दुत्व का बोध वैदिक-संस्कृति के पालन पर ही निर्भर है

बड़े ही विचार और संताप का विषय है कि आज का बहुधा भारतीय मानव पाश्चात्य अन्धानुकरण में अपने को परम गौरवता से हिन्दु कह कर प्रसन्नता का अनुभव करता है। शिखासूत्र विहीनता में ही स्वयं को विशेष महत्वशाली समझता है। खान, पान, रहन-सहन, वेष-भूषा आदि-आदि सभी में विदेशियों का अनुकरण कर निस्संकोच स्वेच्छाचारिता का आश्रय ले स्वर्गीय सुख की लालसा रखता है। अपनी भारतीय संस्कृति के सम्पोषण में रहते हुए भी विभ्रान्त हुआ किंकर्तव्य विमूढ बना पाश्चात्य संस्कृति की और विवेकहीन उन्मत्तवत् भटक रहा है।

सम्पूर्ण विश्व को जिस भारतीय अक्षुण्ण संस्कृति परम्परा से अनन्त दिव्यज्ञान मिल रहा है, जिसके समुज्ज्वल प्रकाशपुञ्ज से सारा संसार आलोकित हो रहा है, उस संस्कृति में सर्वतोभावेन परिपुष्ट एवं समुन्नत होकर उसके अनिर्वचनीय अनन्त ज्ञान कोष से विमुख रहना कितना घृणित और अहितकर कर्म है जिसे लेखनी किंवा वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता । आज इसी भारत वसुन्धरा पर पाश्चात्य विदेशी लोग आ आकर यहाँ की अमूल्य निधि प्राप्त करके स्वयं को सन्तुष्ट मन से महाभाग्यशाली मानते हैं। जब अपने भारत में नवशिक्षित जनों को पूर्णतः अपनी परम्परा के विरुद्ध देखा जाता है तो हृदय बड़ा ही व्यथित और निराशा से व्याकुल हो उठता है। जिन आप्त महापुरुषों ने जिस भारत की पावन वसुधा पर भक्ति, ज्ञान योग आदि की सरस धारा प्रवाहित की है, जिस पुण्य भूमि पर विश्व-नियन्ता परब्रह्म श्रीसर्वेश्वर आविर्भूत हो अपनी लोकोत्तर उपदेशमयी विविध ललित लीलायें करते हैं, जिस पवित्र स्थली पर भगवदीय सन्तजन विचरण कर अपने अनुभवपूर्ण ज्ञान परिपूरित सुन्दरतम सदुपदेशों से यथार्थ मार्ग का दिग्दर्शन कराते हैं, उस भारत की दिव्य अवनि पर यदि भारतीय ही अपनी संस्कृति का पालन न करें तो वस्तुतः यह एक हिन्दुत्व में महान् अन्तराय है। आज अगणित लोग इसी कारण पर-धर्मावलम्बी बनकर हमारे ही घातक तत्त्व बनते जा रहे हैं। अतएव ऐसी स्थिति में अपनी संस्कृति के श्रेष्ठतम नियमों का संरक्षण एवं अनुपालन कितना नितान्त आवश्यक है जिसे विज्ञजन भली प्रकार जानते हैं। इसीलिये मूलतः हिन्दुत्व का बोध वैदिक-संस्कृति पालन पर ही निर्भर है।

सन्त-जन भगवत्स्वरूप होते हैं

यद्यपि प्राणी मात्र ही भगवदीय अंश है, किन्तु उनमें सन्तों का स्थान सर्वतोऽधिक है सच्चे सन्त कभी किन्हीं का अनिष्ट नहीं चाहते। वे चराचर जगत् के कल्याण के निमित्त सतत प्रयत्नशील रहते हैं । उनका सर्वत्र विचरण लोक कल्याणार्थ ही हुआ करता है। उनका कोई शत्रु मित्र नहीं, वे तो 'आत्मवत्सर्व भूतेषु' के सिद्धान्त पर समारूढ हुए अपने यथार्थ कर्तव्य की ओर अग्रसर रहते हैं। जागतिक प्रपञ्चों से सर्वथा दूर और

सर्वेश्वर श्रीश्यामसुन्दर के कमनीय पदारविन्द मकरन्द के रसास्वादन में मत्त बने उन्हीं की दिव्य आराधना में अपना सौभाग्य समझते हैं। संसारासक्त जीव जो भगवद्-विमुखता पूर्वक नीच कर्मों के करने में सदा आबद्ध रहते हैं। उनको अपनी अमित शक्ति द्वारा सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करना ही सन्तों का प्रमुख लक्षण है। अध्यात्मचिन्तन ही उनकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है। जिसके बल पर निर्भय होकर वे सभी को अपना सदुपदेश प्रदान कर सत्पथ का दर्शन कराते हैं, जिनका केवल मधुर दर्शन ही सकल पाप पुञ्ज प्रक्षालन का हेतु है। अपने भव्य और अनिर्वचनीय आकर्षण से सभी को अपना बना लेते हैं। सर्वदा शांत करुणार्द्रचित्त अजातशत्रु तथा तितिक्षा युक्त होकर निरन्तर अपने मूल लक्ष्य की ओर संलग्न रहते हैं।

वस्तुतः ऐसे सन्त भगवत्स्वरूप ही हैं। जिनके दर्शन मात्र से मानव का मलिन मन निर्मल होकर सत्कर्म निरत हो जाता है। ऐसे भगवत् तुल्य विराग युक्त सन्तों का सङ्ग उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुगमन करने पर आज का विभ्रान्त अशान्तजन समुदाय परम शान्ति और अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति करने में समर्थ हो सकता है। ये कृपालु सन्त अपनी सहज कृपा दृष्टि से सभी के हित के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। नाना क्लेशों को सहन कर आर्तजनों के विपदा निवारणार्थ अपना अमूल्य जीवन समर्पित करने को सदा ही उत्सुक बने रहते हैं। इस भारत वन्सुन्धरा पर पुरातनकाल से ही अगणित सन्तों ने सद्धर्म की अभिवृद्धि के लिये कितना त्याग, बलिदान और सर्वस्व देकर जिन दृढ व्रतों का परिपालन किया है, वह अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है, और यह उसी का प्रभाव है कि अद्यापि उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चल कर वास्तविक सन्तवृत्ति को चरितार्थ कर देते हैं। यथार्थ में देखा जाय तो परार्थोपकार-निमित्त ही उनका सर्वोच्च दैनन्दिन प्रधान कर्म रहता है। शास्त्र के इस निम्न वचन से भी प्रस्तुत प्रसङ्ग का स्पष्ट प्रतिपादन है।

धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहिता
मित्रेऽवञ्चकता गुरौ विनयिता चित्तेऽतिगम्भीरता।
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेऽतिविज्ञानिता
रूपे सुन्दरता हरौ भजनिता सत्स्वेव संदृश्यते।।

धर्म में तत्परता, वाणी में मधुरता, दान में उत्साह, मित्रों से निष्कपटता, गुरुजनों के प्रति नम्रता, चित्त में गम्भीरता, आचार में पवित्रता, गुण ग्रहण में रसिकता, शास्त्र में विद्वत्ता, रूप में सुन्दरता और हरिस्मरण में लगन--ये सब गुण सत्पुरुषों अर्थात् सन्तों में ही देखे जाते हैं। इसीलिए तो श्रीमद्भागवत में स्वयं श्रीप्रभु ने श्रीमुखारविन्द से यह भाव व्यक्त किया है--

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।।

सन्तजन मेरे हृदय हैं और मैं सन्तों का हृदय हूँ वे मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते और मैं भी उनके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता। श्रीमुख निसृत वचन से यह स्पष्ट है कि सन्त भगवत्स्वरूप ही होते हैं ।

श्रीसर्वेश्वर पराभक्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है

जागतिक दुःखमय प्रपञ्चों में बंधा हुआ प्राणी इतस्ततः भटकने में ही अपने इस अमूल्य जीवन को विनष्ट कर देता है। जो इसका सर्वान्तिम लक्ष्य है, मूल ध्येय है, प्रमुख उद्देश्य है, उसे सर्वथा विस्मृत कर विपथगामी बन जाता है, फलतः विविध विपत्तियों के उपभोग अतिरिक्त उसे कुछ भी लाभ नहीं होता । अथ च विभिन्न कष्टों के सहने पर भी अज्ञानवश पुनः पुनः अधःपतनोन्मुखी मार्गों का ही अवलम्ब ग्रहण करता रहता है। यदि वह यद्किञ्चित् भी महापुरुषों का संग पाकर जगन्नियन्ता भगवान् श्रीसर्वेश्वर के दिव्य पदारविन्दों की पराभक्ति का प्रपन्नता पूर्वक नैरन्तर्य रूप से समाश्रय प्राप्त करले तो इन भौतिक दुःख-द्वन्द्वों से उन्मुक्त होकर परमानन्द रसामृत पयोधि में निमग्न हुआ परम शान्ति की अनुभति कर लेता है। जो परब्रह्म परात्पर श्रीसर्वेश्वर अनुग्रहविग्रह निर्हेतुककृपावारिधि हैं। जिनके महामंगलमय पावन नामों के समुच्चारण मात्र से सकल अघसमूह का विध्वस्त होना स्वाभाविक है, ऐसे उन अतिशय दयानिधान के शरणागत होकर पराभक्ति का सेवन करता रहे तो उसे कदापि भवबाधा का भय नहीं। यमराज भी जिससे सशङ्कित बने भयाकुल रहते हैं। निखिल सुर-नर-किन्नर सभी उसकी

भावनिष्ठ होकर अभिवन्दना करते हैं। पद्मपुराण के इन निम्न वचनों से यह स्पष्ट भी है--

कुर्वन्ति शान्तिं विबुधाः प्रहृष्टाः क्षेमं प्रकुर्वन्ति पितामहाद्याः।
स्वस्ति प्रयच्छन्ति मुनीन्द्रमुख्या गोविन्द भक्तिं वहतां नराणाम् ।।१।।
शुभा ग्रहा भूतपिशाचयुक्ता ब्रह्मादयो देवगणाः प्रसन्नाः ।
लक्ष्मीः स्थिरा तिष्ठति मन्दिरे च गोविन्दभक्तिं वहतां नराणाम् ।।२।।
गंगा-गया-नैमिष-पुष्कराणि काशी-प्रयागौ-कुरुजाङ्गलानि ।
तिष्ठन्ति देहे कृतभक्तिपूर्वं गोविन्दभक्तिं वहतां नराणाम् ।।३।।

नन्दनन्दन श्यामसुन्दर श्रीगोविन्द की परम रसमयी अति निर्मल भक्ति करने वाले मनुष्य को देवगण भी अत्यन्त पुलकित होकर शाश्वत् शान्ति प्रदान करते हैं, पितामह ब्रह्मादिक भी जिसकी प्रतिक्षण रक्षा करते हैं, भगवद्-ध्यान निमग्न बड़े-बड़े मुनिवृन्द सदा कल्याण-कामना करते हैं॥१॥

गोविन्द की भक्ति धारण करने वाले मनुष्य पर भूत, पिशाच आदि के सहित समस्त ग्रह शुभ रहते हैं, ब्रह्मादिक देव समूह सर्वदा प्रसन्न रहते हैं, उसके घर में लक्ष्मी स्थिर रूप से निवास करती है॥२॥

सर्वेश्वर श्रीगोविन्द की भक्ति करने वाले भावुक भक्त के शरीर में गंगा, गया, नैमिषारण्य, पुष्कर, काशी, प्रयाग और कुरुक्षेत्र भक्तिपूर्वक निवास करते हैं॥३॥

पद्मपुराण के ये दिव्य श्रेष्ठतम वचन कितने सुन्दर हैं, भक्ति परायणता का निरूपण कितना मार्मिक है । इतने पर भी भूला हुआ प्राणी कहाँ-कहाँ इस भवाटवी में भटक रहा है। सम्पूर्ण छल-प्रपञ्चों का त्याग कर यथार्थ रूपेण पराभक्ति से अपने अमूल्य जीवन को ओत-प्रोत करे। सतत अपने प्रेमास्पद के ध्यान में संलग्न हुआ आनन्द का अनुभव करे, यही तो जीवन का परम लक्ष्य और महान् उद्देश्य है। इससे विमुख होना ही पतन का मार्ग प्रशस्त करना है। वास्तविक भक्त कभी भी संसार के निरर्थक वाद-विवादों, क्लेशप्रद प्रपञ्चों में नहीं पड़ते। वे तो प्रतिपल अपने सर्वाराध्य श्रीश्यामाश्याम के स्मरण चिन्तन में अविरल रूप से अवस्थित रहते हैं। सदा अपनी वृत्ति को केन्द्रित कर स्वाराध्य के ध्यान में ही अपने समय का

विनियोग करते हैं श्रीयुगल की विविध रूपात्मक परिचर्या करना उनका ध्येय-गेय होता है। जीवन के सकल सत्कर्मानुष्ठान के आधार भी वे ही है। श्रवण, कीर्तन, भजन, अर्चन, वन्दन आदि ये सभी अपने हृदयाराध्य सर्वेश्वर श्रीप्रियालाल के लिये ही होते हैं। एक क्षण भी श्रीहरि स्मरण बिना व्यर्थ नहीं खोते। सचमुच यही तो भक्त और सन्तों का सच्चा स्वरूप है। अतः विवेकी जन श्रीसर्वेश्वर प्रभु की इस पराभक्ति से युक्त होकर जीवन मे ंपरम लक्ष्य को पूर्ण करें।

बिना धाम-निष्ठा के युगल रस प्राप्ति दुर्लभ है

सकल धाम शिरोमणि सर्वमूर्द्धन्य, श्रुति-स्मृति-पुराण-तन्त्रादि प्रतिपादित परमाचार्य-रसिकजन सरस वाणी सुपरिगीत, रस परब्रह्म श्यामाश्याम श्रीराधाकृष्ण पदारविन्द-मकरन्द सुरभित, शुक-पिक-सारिका-मयुरादि विविध विहङ्गम-मधुर स्वर-समुच्चरित ताल-तमाल-कदली-कदम्ब-जम्बू-आम्र-अर्जुनादि ललित द्रुमावलि-परिलसित, कलिन्दतनया कल-कल-कमनीय विमल जलधारा परिवेष्टित, श्रीयुगलकिशोर-निज परिकर-सहचरी समूह अनुसेवित, परम चिन्मय, दिव्यातिदिव्य, अति रमणीय, महाप्रेमरस सुधावारिधि, अनन्तानन्दरूप श्रीधाम वृन्दावन जिसकी लोकोत्तर महिमा विधि-शिव-सनक-नारद-पुरन्दर-गन्धर्व-किन्नरादि एवं ऋषि-मुनिजन निरनतर विमुक्त कण्ठ से गाते हैं, ऐसे सर्वोच्च सुखमय श्रीधाम में प्रगाढ निष्ठा हो, अनन्य अनुरक्ति हो, सर्वात्म समर्पण हो तो असंख्य दुःख द्वन्द्वों से नितान्त संतप्त यह प्राणी सहज ही में युगल रस की उपलब्धि कर उनकी कृपा कादम्बिनी के दिव्यामृत के अभिवर्षण से परिसिक्त हो धन्य-धन्य हो सकता है।

श्रीधाम में अनन्य अनुरक्ति ओर निष्ठा का रसमय चित्रण रसिकाचार्य रसिक-शिरोमणि जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधिपति श्रीहरिव्यासदेवाचार्य जी महाराज ने कितना सुन्दर वर्णन किया है--

मो चित लगौ नित इहि ठाम प्रियाजू के काम ।
नैंन राधे बसो मूरति बैंन राधे नाम ।

श्रवन राधे सुजस कीरति हृदय में विश्राम ।।

कर लगौ परिचरिया हू में पद लगौ परिक्रमा ।

मधुप ह्वै मन रमौ मो इहि विपिन में अभिराम ।।

टरहु जिन इनि ठौर हू ते अहू निसा सब जाम ।

चरन-रज श्रीहरिप्रिया की करौ सिर पर धाम ।।

इस प्रकार जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधिरूढ श्रीगोविन्दशरण-देवाचार्यजी महाराज ने भी इस निम्नाङ्कित पद से निष्ठा की कैसी अद्भुत लालसापूर्ण अभिव्यक्ति की है,--

राधे जू मेरौ जनम सुधारौ, अब मोहि वृन्दावन में डारौ।।

महा अपावन खान औगुन की, ऐसी जान न बिसारौ ।।

निरबल दीन जान अपनावो, ये ही बिरद संभारौ ।।

जनम जनम घर जाई चेरी, अब कहा देत हौ टारौ ।।

गोविन्दसरन मोस्युँ कृपा कीज्यौ, गहौ क्यौं न हाथ हमारौ ।।

स्वयं श्रीनिम्बार्क भगवान् ने अपने ''श्रीराधाष्टकस्तोत्र'' में सर्वेश्वरी श्रीप्रियाजी के स्वरूप का वर्णन करते हुए अन्तिम श्लोक से श्रीवृन्दावन धाम की प्राप्ति एवं सेवन का स्पष्ट संकेत किया,--

इदं त्वष्टकं राधिकायाः प्रियायाः, पठेयुः सदैवं हि दामोदरस्य ।

सुतिष्ठन्ति वृन्दावने कृष्णधाम्नि, सखीमूर्तयो युग्मसेवानुकूलाः ॥

वृन्दावन विहारी दामोदर श्रीश्यामसुन्दर की परमप्रिया वृन्दावनाधीश्वरी श्रीराधिकाजी की स्तुति से सम्बन्धित एक अष्टक का जो भक्तजन अनुराग पूर्वक पाठ करें, वे श्रीकृष्णधाम वृन्दावन श्रीराधामाधव की सेवा के अनुकूल सखी स्वरूप प्राप्त कर सदा परमानन्द में निमग्न रहकर सुख से निवास करते हैं।

इस प्रकार और भी सभी रसिकाचार्यों ने, रसिक सन्तों ने, रसिक भक्तों ने अपने गद्यमय तथा पद्यमय ग्रन्थों में अत्यन्त हृदयग्राही उक्त प्रसङ्ग का बड़ा ही मनोहर और सरस प्रतिपादन किया है। वस्तुतः धाम का प्रभाव और उसकी महिमा ही ऐसी है जिसकी पावन रजरेणु को प्राप्त करने के लिये ब्रह्मादिक देवता अनवरत उत्कण्ठित रहते हैं। प्राणी कहीं भी रहता हुआ अपने अन्तस्थलः में धाम का अनन्य निष्ठापूर्वक स्मरण करता रहे तो धाम

की निश्चित कृपा होती है और यदि धाम में ही सतत निवास कर अपने आराध्य के ध्यानमें संलग्न रहें तो और भी अधिक धाम की कृपा का अधिकारी बन सकता है। रसिक साधक भक्तजनों को इस आनन्द की उपलब्धि हेतु धाम में अनन्य निष्ठा को अवस्थित रखते हुये सदा-सर्वदा अपने निर्मल चित्त को तत्परक कर देना ही सच्ची निष्ठा का यथार्थ स्वरूप है।

श्रीप्रभु-प्राप्ति ही शास्त्रों का प्रमुख उपदेश है

यद्यपि निखिल निगमागम-पुराणादि धर्मग्रन्थों में नाना उपदेश निहित हैं, तथापि मूलतः उन सभी का एकमात्र उद्देश्य केवल श्रीप्रभु प्राप्ति ही है।

बिना उस सर्वान्तर्यामी श्रीसर्वेश्वर के यह प्राणी इस भयावह भवाटवी में भटकता हुआ अगणित असह्य कष्टों को भोगता है। बार-बार मृत्यु और जन्म के क्लेशमय पाश में बँधा रहता है। अज्ञानान्धकार से आवृत हुआ इतस्ततः जागतिक विनश्वर पदार्थों में समासक्त बना रहता है। अहंकार विमूढ होकर स्वयं को गहरे गर्त में निपतित कर अत्यन्त पीड़ित हुआ करता है। कर्तव्याकर्त्तव्य के यथार्थ विवेक से परिभ्रष्ट होकर अत्यन्त गर्ह्य कर्मों की ओर प्रवृत्त हो जाता है। स्व-स्वरूपता का उसे तनिक भी बोध नहीं रह जाता। मनमुखी बनकर वनचर की भाँति दूषित व्यवहार करना ही अपना प्रधान कार्य बना लेता है। दुर्जनों के दुष्ट-सङ्ग से अतीव कलुषित बना कराल काल के विकराल दँन्ष्ट्रा के चर्वण का ग्रास बन जाता है। इसी प्रसङ्ग का श्रीभगवन्निम्बार्कपीठाधिपति श्रीगोविन्दशरण-देवाचार्यजी महाराज ने अपने इस संक्षिप्त पद से कितना मार्मिक वर्णन किया है,--

नर तन रतन पाय नहिं चीनौं।
पारस पायो मूरख कर तैं, स्वान गैल नहिं दीनौं ।।
श्रवन कथा नहिं सुनी कृष्न, की फिरै काम रस भीनौं ।
'गोविन्दसरन' व्रजचन्द भजन बिनु, भयो काल आधीनौं ।।

अतएव सर्वदा संसार के बन्धनशील चाकचिक्यमय सकल वस्तुजात

से स्वयं को विमुक्त कर स्वस्थ मन से सच्छास्त्र समुपदिष्ट पथ पर समारूढ होकर सर्वोपदेश सारभूत उन जगन्नियन्ता पुराण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीश्यामसुन्दर के दिव्य पादपद्मों के प्रपन्न हो जाना ही सर्वतोऽधिक प्रधान लक्ष्य हो, यही परम अभीष्ट है । ऐसा करने पर वे अकारण करुणार्णव श्रीहरि निस्सन्देह अपनी निर्हैतुकी कृपा कर साधक जन को अपना लेते हैं।

युगलकिशोर श्रीराधासर्वेश्वर की प्राप्ति ही जीवन का प्रमुख हेतु है और सम्पूर्ण शास्त्रों का भी इदमित्थं करके यही उद्घोष है। श्रीमद्भगवद् गीतोक्त श्रीमुख वचन से यह स्पष्ट भी है, ''वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'' अर्थात् समस्त वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ । आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीमन्निम्बार्क भगवान् ने अपने स्व-प्रणीत ''वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी'' तथा ''प्रातः स्तवराज'' में क्रमशः 'उपासनीयं नितरां जनैः सदा' सञ्चिन्तनीयमनुमृग्यमभीष्टदोहम्' से प्रस्तुत विषय का ही सम्यक् प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने ''श्रीपरशुराम सागर'' में उक्त कथन पर ही अत्यन्त सारग्राही उपदेश किया है,--

सबै ग्रन्थ कौ अर्थ यह, हरि भजिये करि हेत ।
लिये नहीं संसार को, 'परसा' सोई सचेत ।।
सर्व सिद्धि की सिद्धि हरि, सब साधन को मूल ।
सर्व सिद्धि सिद्धार्थ हरि, सिद्धि बिना सब स्थूल ।।

इन सर्वशास्त्र प्रतिपादित अखिल उपदेश का यही निष्कर्ष है कि श्रीप्रभु प्राप्ति के बिना मानव-जीवन वृथा एवं निम्नोन्मुखी है। श्रीभगवत्प्राप्ति ही इसका चरम लक्ष्य होना नितान्त आवश्यक एवं स्वतः सिद्ध है। अतः भौतिक जगत् के विनाशशील पदार्थों की ओर लगी हुई आसक्ति को हटाकर उसे श्रीसर्वेश्वर परक कर देना ही परम हितावह कार्य है और तब वही आसक्ति अनुरक्ति और पराभक्ति में परिणित हो जावेगी जिसको प्राप्त करने पर यह संसृति-विपत्ति परिव्याप्त मनुष्य सौलभ्य से उन आनन्द निकेतन रसिक सर्वस्वधन भुवनमोहन युगललाल श्रीराधामाधव के परम कमनीय दर्शनों का अधिकारी हो सकेगा।

भक्त-वत्सलता ही श्रीहरि के अवतार का मुख्य हेतु है

धर्मस्थापन, गो-ब्राह्मण परित्राण और असुर संहार आदिक श्रीप्रभु के अवतरित होने के अनेक हेतु हैं, पर इन सभी में भक्त वत्सलता ही अवतार का प्रधान हेतु है। अपने अनन्य शरणागत रसिक भक्तजनों को दिव्य रसानन्द आस्वादन निमित्त युग-युग में श्रीसर्वेश्वर के विभिन्न रूपात्मक अनुपम अत्यद्भुत अवतार हुआ करते हैं। जब वे लोकाभिराम जगन्नियन्ता परब्रह्म श्रीहरि निज प्रपन्न भक्तों को विविध रसमय आनन्द-सुधा-पान कराने के लिये इस पवित्र भारतवर्ष की परम रमणीय पुण्य वसुधा पर प्रकट होते हैं, तब धर्म-संस्थापना, गो-ब्राह्मण अभिरक्षा, असुर-संहार इत्यादि कार्य तो आपके अवतार लेते ही स्वतः सम्पादित हो जाते हैं, केवल एकमात्र स्वकीय एकनिष्ठ भाव से श्रीगोविन्द श्यामसुन्दर के चारुचरणारविन्दों में ध्यानस्थ रहने वाले अत्यन्त अनुरागी भक्तों को परमसुख प्रदान ही अवतार का मूल रहस्य है। श्रीमद्भागवत के माहात्म्य के इन निम्न श्लोकों से भी श्रीप्रभु के अवतार का हेतु स्पष्ट हैं,--

अथ वैष्णवचित्तेषु दृष्ट्वा भक्तिमलौकिकीम् ।
निजलोकं परित्यज्य भगवान् भक्तवत्सलः ॥
वनमाली घनश्यामः पीतवासा मनोहरः ।
काञ्चीकलापरुचिरोल्लसन्मुकुटकुण्डलः ॥
त्रिभङ्गललितश्चारु कौस्तुभेन विराजितः ।
कोटिमन्मथलावण्यो हरिचन्दनचर्चितः ॥
परमानन्दचिन्मूर्तिर्मधुरो मुरलीधरः ।
आविवेश स्वभक्तानां हृदयान्यमलानि च ॥

परम रसिक वैष्णव भक्तों के अन्तस्थल में अवस्थित अलौकिक पराभक्ति को देख भक्तवत्सल भगवान् वनमाली घनश्याम श्रीहरि जो परम मनोहर पीताम्बर धारण किये, दिव्य कर्द्धनी-कौस्तुभ-मुकुट-कुण्डलादि से अति सुशोभित, त्रिभङ्ग ललित, कोटि मन्मथ लावण्य, हरिचन्दन चर्चित, परमानन्दमूर्ति, परममधुर, अनुग्रहविग्रह श्रीमुरलीधर प्रभु अपने अनन्य

शरणागत भक्तों के आनन्द हेतु आविर्भूत हुए ।

यद्यपि श्रीप्रभु के अवतार तो प्रत्येक युग में होते ही हैं और भक्तों को भी रसास्वादन मिलता है किन्तु जो परम मधुर, परम रसमय, परम श्रेष्ठतम, परम सुन्दर, परम सुखकर, परम समुज्ज्वल रसानन्दानुभव परमानन्दकन्द नन्दनन्दन श्रीकृष्ण श्यामसुन्दर के अवतार काल में रसिक भक्तों को हुआ वह अनिर्वचनीय है। व्रज की परमचिन्मय दिव्यातिदिव्य महामङ्गलमय प्रेमसुधावर्षिणी सुपावन अवनि पर श्रीगोविन्द की अति मनोहर जो मधुरातिमधुर विमल लीलायें हुई हैं, वे लोकोत्तर और अप्राकृत हैं, जिनका इयत्तावच्छेदेन यथार्थ वर्णन श्रुतिस्मृति-पुराणादि शास्त्र ब्रह्मादिक देव और महर्षि-ऋषिगण भी नहीं कर पाते। केनोपनिषद् का यह श्रुतिवचन इसी का द्योतक है,--

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः"

इसी का सुन्दर दिग्दर्शन जगद्गुरु श्रीमन्निम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने "श्रीमहावाणी" रसग्रन्थ में कितना महत्वपूर्ण और अति चित्ताकर्षक कराया है,--

राजत पर तें पर सर्वेश्वर, परमधाम वृन्दावन निज घर ।
आनन्द अहलादनि अद्भुतवर, गौरश्याम शोभा अपरं पर ।।
आदि मध्य अवसान एक रस, सब कारन कारन करतार ।
आगम अगम अगोचर अधिपति, पद नख अनु आभा अवतार ।।
विविध रूप इच्छा-विग्रह करि, अमित कोटि वैकुण्ठ बिलास ।
जामधि उपजि समावत जामधि, कमोग्रादि कुल कोटि प्रकास ।।
शुद्ध सत्व अव्यय अविकृत कृत, अगुण गणालय ईस अनूप ।
है है नहीं नहीं जिहिं भाषत, शब्द ब्रह्म सों शुद्ध स्वरूप ।।
अद्वय द्वय बहु भेद विशेषण, आदि आभास अचिंत अनन्त ।
'श्रीहरि प्रिया' सहज, परिकर, सह करत बिहार कामिनी कंत ।।

वस्तुतः नवाम्बुदानीकमनोहर वनमाली भुवन मोहन श्रीश्यामसुन्दर की परम रुचिर अचिन्त्यमयी लीलाओं के वर्णन में जहाँ वेदादि ग्रन्थ और देवऋषि-मुनि समूह भी समर्थ नहीं, वहाँ इस जड़ लेखनी से प्राकृत मानव के द्वारा यह कैसे सम्भव है। यह तो केवल उन नित्यनवकिशोर श्रीकृष्ण

श्यामसुन्दर के नित्य दिव्य परिकर विभूतियों में से आविर्भूत रसिकाचार्यों एवं रसिक महानुभावों के प्रत्यक्ष-दर्शन का ही कृपामय प्रसाद है, जिन्होंने श्रीयुगललाल के विविध केलि विलास का अपनी मञ्जुल पदावलियों में सरस वर्णन किया है।

तत्त्वतः उन श्रीसर्वेश्वर की सच्चिदानन्दमय अप्राकृत लीलाओं का सम्यक् ज्ञान उनकी निर्हैतुकी निस्सीम कृपा पर ही अवलम्बित है। करुणावरुणालय श्रीप्रभु ता निज प्रपन्नजन को निज लीला रससुधा पान कराने को ही नानाविध विलक्षण लीलाओं का परिसृजन करते हैं। 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्'' ब्रह्मसूत्र के इस कथन का भी यही तात्पर्य है। इसीसे तो श्रीप्रभु की भक्तवत्सलता सर्वशास्त्र संदर्शित है। अतएव यथार्थतः भक्त-वत्सलता ही श्रीहरि के अवतार का मुख्य हेतु भी है।

उपर्युक्त इसी आशय को जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने भी अपने 'परशुराम सागर' नामक वृहद् ग्रन्थ में कितनी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया,--

भगतवछल मोहि गायो ही भावे ।
मन क्रम वचन सत्य सुमिरन कौं ।।
हरि बिन हृदै और नहीं आवै ।।टेक ।।

हरि उग्रसेन कौं छत्र सिंघासन दे, आपण आगै सिरनावै ।
ह्वै सेवग सुकुँवार सकल पति, चरण जुगल करसौं सहिरावै ।।१।।
करि सेवा सब टहल जिग्य की, चरन धोय नृप बोली जिमावै।
दीन दयाल भगत हितकारी, पार ब्रह्म कर झूँठि उठावै ।।२।।
जग्य पुरुष पाछै चिति आयो, सुधिन भई ऋतु लागि बधावै ।
कीट पतंग सकल विस्व पूरण, मांगि प्रसाद दास पैं पावै ।।३।।
जिन लीनों चक्र महाभारत में, देखत सुभट प्रगट जो धावै ।
राखत पैज भगत भीषम की, अपनी निज परतीति दुरावै।।४।।
सुरग सधीर कूप की सेवा, गज चींटी कै नैत्र समावै ।
'परसराम' भगवंत भगत वसि, महासिंधु कौ बूंद न चावै ।।५।।

वैष्णवों का सर्व प्रिय एकादशी व्रत

हमारे धर्मग्रन्थों में विविध प्रकार के व्रत और उपवासों का विशद वर्णन मिलता है। उन व्रतों में अनेक व्रत तो ऐसे हैं जो चान्द्रायण आदि व्रत लम्बे समय तक किये जाते हैं, और कितने ही व्रत ऐसे हैं जो त्रिदिवसीय, द्विदिवसीय, एकदिवसीय एवं एकार्द्ध-दिवसीय होते हैं । सभी प्रकार के व्रत-उपवास अपना एक विशिष्टतम माहात्म्य लिए हुए हैं, जिनके सेवन से मानव विशुद्धान्तःकरण, आध्यात्मिक बल सम्पन्न, स्वस्थ और सुखी रह कर अन्त में अमृतत्व को प्राप्त करता है। धर्मशास्त्र एवं आयुर्वेद सिद्धान्त से भी व्रतोपवास का विशेष विधान है। यद्यपि उत्तरोत्तर सभी व्रत उत्तमोत्तम हैं, किन्तु उन सभी व्रतों में एकादशी व्रत की सर्वाधिक महिमा शास्त्रों में प्रतिपादित है। एकादशी व्रत के पालन से स्वस्थता, शुचिता, आत्मिक शक्तिसम्पन्नता आदि की उपलब्धि मात्र ही नहीं परञ्च सर्वनियन्ता सर्वाधिष्ठान भगवान् श्रीसर्वेश्वर भी अति प्रमुदित होकर अपने अलभ्य अनिर्वचनीय दर्शन देने का विशेष अनुग्रह करते हैं। एकादशी व्रत के अप्रतिम प्रभाव से श्रीभगवदाराधनपरायण एकनिष्ठ वैष्णव भक्तजन श्री भगवद्धाम की प्राप्ति कर प्रतिपल नव-नव अनुपम आनन्द का दिव्य आस्वाद लेते हैं। अग्निपुराण में एकादशी का महत्व कितना अद्‌भुत बताया है,--

एकादश्युपवासं यः सदैव कुरुते नरः ।
स याति परमं धाम यत्र देवो हरिः स्थितः ।।

जो भक्त एकादशी का उपवास सर्वदा निष्ठापूर्वक करता है वह निस्सन्देह श्रीभगवद्धाम की प्राप्ति करता है, जहाँ श्रीहरि सतत विराजते हैं। इसी प्रकार श्रीगरुड़पुराण का भी यह वचन कितना श्रेष्ठ है,--

एकादशीव्रतं भक्त्या यः करोति नरः सदा ।
स विष्णुलोकं व्रजति याति विष्णोः स्वरूपताम् ।।

जो अनन्य भगवद्भक्त भक्तिपूर्वक एकादशी व्रत को नियमित रूप से करता है। वह निश्चय ही विष्णुलोक अर्थात् सर्वोपरि गोलोकधाम को प्राप्त कर श्रीप्रभु सदृश ही दिव्यमङ्गलविग्रह रूप को धारण कर लेता है।

''एकादशीसमं किञ्चित्पुण्यं लोके न विद्यते''

'पद्मपुराण' के इस उपर्युक्त वाक्य से भी एकादशी माहात्म्य कितना

महनीय है। 'नारद पुराण' में महर्षि वशिष्ठ ने एकादशी उपवास की अनन्त महिमा का वर्णन किया है,--

एकादशीसमं किञ्चित्पापत्राणं न विद्यते ।
स्वर्गमोक्षप्रदा ह्येषा राजपुत्रप्रदायिनी ।।

पाप पुञ्ज के प्रक्षालन का जो वैशिष्ट्य एकादशी व्रत में है, वह अन्य किसी व्रतादि में नहीं है। यह स्वर्ग-मोक्ष और राजपुत्र को देने वाली है।

"अनायासेन राजेन्द्र ! प्रापयेद्वैष्णवं पदम्"

अर्थात् बिना ही परिश्रम के इसके व्रतानुष्ठान से मानव श्रीहरि की प्राप्ति कर लेता है।

यह ध्रुव सत्य है कि कोई भी यदि विधिपूर्वक श्रद्धायुक्त होकर एकादशी व्रत का आचरण करे तो वह आध्यात्मिक, आधिवैदिक, आधिभौतिक इन त्रिविध तापों से उन्मुक्त होकर दैवी सम्पदा को प्राप्त कर सकता है।

एकादशी यदि दशमी विद्धा हो तो वह त्याज्य है, उसे छोड़कर द्वादशी में एकादशी व्रत विहित है, और त्रयोदशी में पारण का विधान है। "पद्म-पुराण" में पितामह भीष्म को उपदेश करते हुए भगवान् श्रीश्यामसुन्दर ने आज्ञा की है,--

दशमीवेधसंयुक्तं ये कुर्वन्ति दिनं मम ।
तत्पुण्यं दैत्यजातीनां सुरैर्दत्तं पितामह ।।

हे पितामह ! जो दशमी विद्धा एकादशी के उपवास को करते हैं, उनका समस्त पुण्य देवगण दैत्य समूह को दे देते हैं।

अतएव दशमी विद्धा कदापि नहीं करनी चाहिये। कपालवेध सिद्धान्तानुसार तिथि का उदयकाल अर्द्धरात्रि (४५) घटिका पर स्वीकृत किया है। मुख्यतः श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायानुगत भक्तजनों को इसी पूर्वोक्त सिद्धान्तानुसार ही एकादशी का व्रत करना चाहिये। कपालवेध का स्पष्टीकरण "पद्मपुराण" में निम्न वचन से किया है,--

अर्द्धरात्रं स्पृशेत्पूर्णाऽपक्षवृद्धिर्यदाग्रतः ।
कपालवेधिनी सा च शुद्धां भद्रामुपोषयेत् ।।

कूर्मपुराण में भी--

अर्द्धरात्रमतिक्रम्य दशमी दृश्यते यदि ।
तदा ह्येकादशीं त्यक्त्वा द्वादशीं समुपोषयेत् ।।

भविष्यपुराण के इस वचन से भी स्पष्ट है,--

उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे ।
निम्बार्को भगवान् येषां वाञ्छितार्थप्रदायकः ।।

श्रीनारद-पंचरात्र के अभिमतानुसार भी,--

''पूर्वविद्धतिथित्यागो वैष्णवस्य हि लक्षणम्''

इत्यादि बहुविध शास्त्रप्रमाण हैं, अतएव एकादशी व्रत जो वैष्णवों का सर्वप्रिय व्रत है, इसी आधार एवं सिद्धान्त से करना अभीष्ट है। शास्त्रों में वर्णित अष्ट-महाद्वादशी में से कोई भी महाद्वादशी का योग आ जावे तो एकादशी के शुद्ध रहने पर भी महाद्वादशी का व्रत करे और एकादशी का भी व्रत करे । कदाचित् दो दिवस व्रत करने की क्षमता नहीं है तो भले ही एकादशी का व्रत छोड़ दे किन्तु महाद्वादशी के व्रत को अवश्य करें। ''ब्रह्मवैवर्तपुराण'' का वचन है,--'शुद्धाप्येकादशी त्याज्या द्वादश्यां समुपोषणम्' शुद्ध एकादशी का व्रत त्याग दे किन्तु महाद्वादशी का व्रत न त्यागे, उसे अवश्य करे। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, श्रीराधाष्टमी, श्रीरामनवमी, वामनद्वादशी प्रभृति सभी भगवज्जयन्तियाँ एवं आचार्य जयन्तियाँ भी इसी कपालवेध मतानुसार हि करना चाहिये। जिस प्रकार एकादशी की महिमा वर्णित है उसी प्रकार इन भगवज्जयन्तियों आदि के व्रत का भी माहात्म्य नाना रूप से विस्तृत और बड़ा ही महत्वशाली वर्णन शास्त्रों में मिलता है। एकादशी व्रत सम्बन्धी जिन्हें विशेष जिज्ञासा हो वे स्वसाम्प्रदायिक ग्रन्थ 'स्वधर्मामृत सिन्धु' एवं ''व्रतोपवास निर्णय'', ''औदुम्बर संहिता'', ''वैष्णवधर्मसुरद्रुम मञ्जरी'' इत्यादि ग्रन्थों का मनन करें ।

समस्त यज्ञों में जपयज्ञ सर्वश्रेष्ठ और सर्वसुलभ है

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' श्रीमद्भगवद्गीतोक्त यह भगवदीय दिव्योपदेश सुप्रसिद्ध है। जगन्नियन्ता सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण श्यामसुन्दर ने अर्जुन को उपदेश करते हुए 'श्रीगीता' के दशवें अध्याय में विभूतियोग वर्णन के प्रसङ्ग में सम्पूर्ण यज्ञों में जप-यज्ञ स्वयं को ही निर्दिष्ट कर उसकी श्रेष्ठता व्यक्त की है। 'मन्त्राधीना हि देवताः' अर्थात् देववृन्द मन्त्रानुष्ठान से ही परम प्रसन्न होते हैं।

मन्त्र में असीम और अव्यर्थ शक्ति सन्निहित है। यदि शास्त्र-विहित-पद्धति से मन्त्रों का जपानुष्ठान किया जाय तो अद्यापि उसका प्रत्यक्ष चमत्कार और विशेष फल प्राप्त हो सकता है। विविध मन्त्रों के विविध अनुष्ठान वेद-पुराणतन्त्रादि शास्त्रों में अगणित रूप से विद्यमान हैं। 'नारद पञ्चरात्र', 'सम्मोहन तन्त्र' 'वृहद गोतमीय तन्त्र' तथा 'मन्त्रमहार्णव' और 'मन्त्र महोदधि' प्रभृति अनेक मन्त्रपरक ग्रन्थों में मन्त्रजपयज्ञ की नानाविध विधियों का सुन्दरतम वर्णन है।

इन शास्त्रोपदिष्ट दिव्य मन्त्रों का वर्णन जब आज का शास्त्र-ज्ञानविहीन मानव देखता या सुनता है तो वह उसमें अविश्वास, अश्रद्धा एव नाना प्रकार से निरर्थक कुतर्क उपस्थित कर उस लोकातीत अगाध ज्ञान-कोष से सर्वथा वञ्चित रह जाता है। महाभारत, अन्यान्य पुराण तथा तन्त्र ग्रन्थों में दिव्य मन्त्रों का जो रहस्यात्मक और चमत्कृतिपूर्ण विवेचन है, वह यथार्थतः तथ्ययुक्त एवं निश्चय ही अनन्तसामर्थ्य से परिपूर्ण है। बिना ही साधना तपश्चर्या के यों ही उन मन्त्रों का फल चाहे, यह कदापि सम्भव नहीं। जब लौकिक सामान्य कार्य की सम्पन्नता भी बिना साधना तथा श्रम के साध्य नहीं तो, उन महामहिम मन्त्रों की अन्तर्निहित अदृष्ट शक्ति को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। अतएव मन्त्रों में पूर्ण आस्था, निष्ठा एवं दृढ विश्वास की नितान्त आवश्यकता है। विधिवत् जपयज्ञ के करने से तत्-तत् मन्त्रों के अधिष्ठातृ देवता अत्यन्त प्रमुदित होकर भक्त की आकांक्षा सफल करते हैं, और उन्हें साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं।

यद्यपि शास्त्रों में सात्विक, राजस, तामस प्रभेद से असंख्य मन्त्र हैं, परम उनमें सात्विक मन्त्र ही सर्वोपादेय एवं सुख-शान्ति को देने वाले हैं। श्रीभगवत्परक जितने भी मन्त्र हैं उनका निष्काम भाव से जाप किया जाय तो इहामुत्र सर्वत्र परमानन्द मिलता है। इन मन्त्रों की लोकोत्तर अनन्त महिमा है। ये मन्त्र अपने अपार ऐश्वर्य और प्रखर तेज से लोक-लोकान्तरों, सुरासुरों अथ च जगत् के निखिल चराचर प्राणियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

श्रीप्रभु परक जितने भी वैष्णव मन्त्र हैं उनमें अष्टादशाक्षर ''श्रीगोपालमन्त्रराज'' का जो अत्यधिक वैशिष्ट्य है वह बहुत ही महान् और निस्सीम है। इस मन्त्रराज के यथाविधि अनुष्ठान के अद्भुत प्रभाव से लोकत्रय की तो बात ही क्या ? निखिलविश्वचराचरनियन्ता सर्वद्रष्टा भगवान् श्रीराधासर्वेश्वर भी परम पुलकित होकर अपनी रसमयी पराभक्ति प्रदान कर अपने प्रिय भक्त को कृतकृत्य कर देते हैं। ''गोतमीय तन्त्र'' में श्रीमन्त्रराज की अपरिमित महिमा का सुविस्तृत वर्णन है जिसका बहुत ही संक्षिप्त अंश यहाँ समुद्धृत है--

मन्त्रराजमिमं ज्ञात्वा कृतार्थो जायते नरः ।
पुत्रवान् धनवान् वाग्मी लक्ष्मीवान् पशुमान् भवेत् ।।
सुभगः सम्मतः श्लाघ्यो यशस्वी कीर्तिमान् भवेत् ।
सर्वलोकाभिरामः स्यात्सर्वज्ञश्च भवेन्नरः ।।
अनेन त्रिषु लोकेषु याता मुक्तिं मुमुक्षवः ।
मन्त्रेणानेन मन्त्रज्ञ ! भक्तिः स्यात् प्रेमलक्षणा ।।

और भी--

अनेन सदृशो मन्त्रो जगत्स्वपि न विद्यते ।
अनेनाराधितः कृष्णः प्रसीदत्येव तत्क्षणात् ।।
एतज्ज्ञानानुभावेन जीवन्मुक्तो न चान्यथा ।
सर्वेषां मन्त्रराशीनां मुख्योऽयं वरदो मनुः ।।

इस पञ्चपदी विद्यात्मक श्रीमन्त्रराज का बहुविध वर्णन 'गोतमीय तन्त्र' तथा 'श्रीगोपाल पूर्वतापनीयोपनिषद्' में पर्याप्त मिलता है। इसके अतिरिक्त अनन्त श्रीसमलंकृत आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीमन्निम्बार्क भगवान् ने

स्वप्रणीत ''श्रीमन्त्ररहस्यषोडशी'' ग्रन्थ में तथा आपही के परवर्ती आचार्य-वर्य्य जगद्गुरु श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यजी महाराज ने 'क्रमदीपिका' नामक तन्त्र ग्रन्थ में सम्यक् प्रकार से निरूपण किया है। विशेष जानकारी के लिये जिज्ञासुजनों को इन्हीं ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिए ।

आज भी यदि कोई श्रद्धालु साधक जप-यज्ञानुष्ठान का शास्त्रविधि से पालन करे तो उसे निश्चय ही श्रीमन्त्रराज का प्रत्यक्ष लाभ हो सकता है। हमारे परमाराध्य प्रातर्वन्दनीय श्रीमदाचार्य श्रीपरमगुरुदेव चरण कमलों ने उक्त मन्त्र से जो विलक्षण अनुभूति प्राप्त की थी उसे श्रीचरणाश्रित जन भली प्रकार से जानते हैं। आपश्री ने इसी मन्त्रराज के प्रभाव से ही एक सन्तति विहीन वृद्ध भक्त को शुभाशीर्वचन प्रदान किये, जिससे असम्भावित्त समय पर भी भक्तके सात पुत्र एवं एक कन्या ने जन्म लिया और अधुनापि इसी क्रमानुसार उस कुल में सात पुत्र और एक पुत्री का जन्म होता है। इस घटना के अतिरिक्त और भी अनेक विचित्र-विचित्र उदाहरण हैं किन्तु यहाँ विस्तार भय से समुद्धृत नहीं किये हैं। ऐसे ही श्रीवृन्दावनस्थ सुप्रसिद्ध ब्रह्मचारी श्रीगिरधारीशरणदेवजी महाराज के इस मन्त्रानुष्ठान के अभूतपूर्व प्राप्त सिद्धि से वैष्णव जगत् के कौन महानुभाव अनभिज्ञ होंगे। श्रीब्रह्मचारीजी ने अर्द्धशताब्दी पूर्व अपने इसी मन्त्रराज के दिव्य प्रभाव से महाराज श्रीमाधवसिंहजी को जयपुर राज्य के नरेश पद पर समारूढ कराया था। उसी का प्रतीक स्वरूप श्रीवृन्दावनस्थ श्रीमाधवविलास मन्दिर एवं बरसाना स्थित जयपुर मन्दिर का गगनचुम्बी विशालतम परम शोभायमान भवन सभी दर्शकगणों को मन्त्रानुष्ठान की प्रेरणा दे रहे हैं। इसी प्रकार श्रीवृन्दावन स्थित ग्वालियर नरेश द्वारा विनिर्मित ब्रह्मचारीजी का अति समाकर्षक अत्यन्त भव्य मन्दिर भी उन्हीं श्रीब्रह्मचारीजी के श्रीमन्त्रराज जपानुष्ठान का महान् द्योतक है। मन्त्रानुष्ठान के ऐसे अगणित उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। भावुक भक्तों को निष्काम भाव से मन्त्र जप-त्याग का नियमित रूपेण परिपालन करना अत्यन्त अभीष्ट है। इससे उन्हें उभय लौकिक सभी सुखों की प्राप्ति के अतिरिक्त श्रीप्रभु कृपाभाजन बनने का भी अवसर मिल सकेगा ।

मदान्धता बड़ी घातक है, इससे सदैव सर्तक रहो

साधकजन के उन्नयन मार्ग में नाना विपदाओं का आना स्वाभाविक है 'श्रेयाँसि बहु विघ्नानि' के अनुसार है भी यह सत्य। जब भगवद्विषयक जिज्ञासु अपनी साधना में अग्रसर होता है तब उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य प्रभृति अनेक ऊग्रतम शत्रु आ घेरते हैं और उसे अपनी ओर आकृष्ट कर पतनोन्मुखी बनाने में प्रमुख सहायक बन जाते हैं। यदि साधक की साधना शिथिल है तब तो वह उनसे प्रताड़ित हो सदा सर्वदा संसृतिजन्य बहुविध यातनाओं का उपभोग करता है। तथा च यदि उसमें प्रबल आत्मशक्ति एवं अत्यन्त दृढता है तो वह कदापि इस दुर्जेय रिपुदल से पराभूत नहीं हो सकता, अपितु वह इन क्रूर शत्रुओं को सरलता पूर्वक निरस्त कर देता है।

इन उपर्युक्त काम-क्रोधादि शत्रुओं में जो मद अर्थात् गर्व या घमण्ड है वह सर्वाधिक उग्र और अतिशय तीक्ष्ण है। यह अपने विचित्र प्रभाव से श्रेष्ठ-जनों को भी सशङ्कित कर देता है और जो जन सदसद्विवेकहीन हैं वे तो इसकी वक्रगति से विचलित हो मद-विघूर्णित होकर कर्तव्याकर्तव्य को भुला देते हैं और स्वकीयजन तथा अन्य सभी का तिरस्कार करने एवं स्वेच्छाचरण में विशेष गौरव का अनुभव करते हैं और परिणाम में दुर्गम पथ का आश्रय ले घोर क्लेश को प्राप्त करते हैं। मदान्धतावश साधना तत्पर पुरुष भी पथ विचलित होकर विविध विपत्तियों से घिर जाते हैं, फलतः अपनी दीर्घकालिक उपार्जित तपस्या को भी खो बैठते हैं। इसीलिये धर्मशास्त्रों ने, तत्त्वदर्शियों ने और भगवद्भक्तों ने एक स्वर से मद के परित्याग पर ही बल दिया।

मद के अनेक रूप हैं-धन मद, रूप मद, यौवन मद, वैभव मद, विद्या मद, परिजन मद, राज मद आदिक बहुत प्रकार हैं। ये सभी मद अत्यन्त बाधक और विघ्नस्वरूप हैं। सभी को विशेषतः साधकजन को इससे पूर्णतया जागरूक रहना परमावश्यक है, जिससे अपनी दीर्घकाल से अभ्यस्त आराधना में अन्तराय न पड़े। इसी मदान्धता अर्थात् गर्व-अन्धता का विवेचन करते हुए अनन्त श्रीसमलंकृत जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपाद-

पीठाधीश्वर श्रीपरशुरामदेवाचार्य चरणों ने एवं आपके परवर्ती आचार्यवर्य्य श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज ने निम्न पदों से बड़ा ही स्पष्ट और चेतनाप्रद वर्णन किया है,--

श्रीगोपाल हि गर्व न भावै । गर्व प्रहारी विरह बुलावै ।।
गर्व कियां हरि दरस दुरावै । दीन भयां हिरदै हरि आवै ।।
हरिणकसिपु उर गर्व जरावै । इहां इन्द्र प्रहलाद कहावै ।।
गर्व ही रावण धरहिं गंवावै । दीन विभीषण लंका पावै ।।
गर्व करै सोई बुरो दिखावै । साखी सगी ससिपाल सुणावै ।।
परसा गर्वि न कोई सुख पावै । दुरजोधन गुन विदुर बतावै ।।

मतवारौ क्यौं भयो बावरे ।
भूल्यौ फिरै कुपंथ गुरगम बिन, लियो मुख न हरि नाँव रे ।।
अहंता ममता छार सिर डारत, वृथा बिहावत आव रे ।
ऐसौ समौ बहुरि नहिं पैहे, चूकत काहे दाव रे ।।
जोबनमद, धनमद, कुलमद, बसि कहूँ नहीं ठिक ठाँव रे ।
गोविंदसरन कंचन कामिनी लगि, लोभी भूल्यौ निज गाँव रे ।।

इन दिव्योपदेशों का यही निष्कर्ष है कि किसी भी प्रकार साधक मन्दोन्मत्तता की ओर प्रवृत्त न हो, और न ही उन मदान्ध व्यक्तियों से ही सम्पर्क रखे, चाहे किसी भी अभाव को सहन कर लेना उचित है। श्रीमद्भागवत के इन अमृतमय वचनों का भी यही भाव है,--

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां,
नैवांघ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन् ।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्,
कस्मात् भजन्ति कवयो धन-दुर्मदान्धान् ।।

अर्थात् पहनने के लिये क्या मार्ग में चिथड़े नहीं है? भूख लगने पर ये परोपकारी वृक्ष क्या फलफूल की भिक्षा नहीं देते ? जल चाहने वालों के लिये क्या नदियाँ सर्वथा सूख गई है? निवास करने को क्या पर्वतों की गुफाएँ बन्द करदी गयी हैं? अरे भद्र पुरुष ! सब न सही, क्या सर्वज्ञ श्रीहरि भी अपने शरणागतजनों की रक्षा नहीं करते? ऐसी अवस्था में बुद्धिमान् पुरुष भी मदान्ध धनिकों की स्पृहा करते हैं।

अतएव मतिमान् विवेकी पुरुष को चाहिये कि न तो स्वयं इस मदान्धता का आश्रय ले और न इसके आश्रित पुरुषों का ही सङ्ग करे। अपने को परम विनम्र तितिक्षायुक्त अति सरल सरस बनाकर श्रेय-पथ का अनुगामी बनावे, इसी में परम हित है।

धर्म सुरक्षा के लिये विशेष संघटन आवश्यक है

सनातन धर्म जो अनादिवैदिक-धर्म के रूप में भी अभिहित होता है, यह न केवल भारत का ही अपितु विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म है जिसमें सत्य, अहिंसा, अकाम, अक्रोध एवं सहिष्णुता सदाचार प्रभृति के उत्कृष्टतम उपदेश का मार्ग-दर्शन मिलता है, जिन्हें मानव अपने जीवन में क्रियान्वित कर ऐहलौकिक एवं पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के साथ अन्ततः अमृतत्त्व को प्राप्त करता है। किन्तु अत्यन्त संताप और आश्चर्य का विषय है कि इसी सर्वोच्च सनातन धर्म के समाश्रित तथा उसी से सर्वतः संपुष्ट आज का पथ-विभ्रान्त पाश्चात्य अन्धानुकरणशील भारतीय मानव अपने ही धर्म की कटु आलोचना ही नहीं परञ्च उसके समूलोच्छेद के उपायों तक का अवलम्ब लेते हैं और हिंसा, चोरी, दम्भ, ईर्ष्या, द्वेष, काम-क्रोधादि तथा दुराचार-पापाचार को करने में ही स्वयं को प्रतिष्ठित मानते हैं। ऐसी दुरुह अवस्था में सनातन धर्म के कर्णधार धर्माचार्यों, सन्त-महात्माओं एवं धर्मानुरागी सद्गृहस्थ जन-समुदाय को एक विशेष संघटन करके ऐसे विघटन तथा अनर्थकारी तत्त्वों के प्रतिरोध का प्रबल प्रयत्न करना चाहिये। यदि ऐसा नहीं किया गया तो निकट भविष्य में ही उन उग्रतम विषाक्त तत्त्वों का प्राबल्य होकर धार्मिक केन्द्रों, धार्मिक प्रतिष्ठानों, धर्म के प्रतीक स्वरूप दिव्य देवालयों, धार्मिक ग्रन्थों, धार्मिक पुरुषों, धार्मिक कार्यों और धर्म विषयक सभी क्षेत्रों में बहुत बड़े संकट का उपस्थित होना कोई विस्मयावह या असम्भव नहीं है। जो बुद्धिमान् पुरुष समय की गतिविधि तथा उसके यथार्थ स्वरूप को भली प्रकार समझ कर चलेंगे वे कभी भी कहीं निरस्त नहीं हो पायेंगे। स्मरण रहे अभी का किञ्चित् भी किया गया प्रमाद भविष्य के लिए महाविघ्नरूप एवं अत्यधिक घातक सिद्ध होगा ।

आज विशाल सनातन धर्म के अन्तर्गत हिन्दुत्व का उद्बोधन

श्रीप्रभु भक्ति से अमृतत्त्व को प्राप्त करें। उन्हीं सत्कर्मों में नित्य गङ्गाजल पान का भी विधान है, गङ्गाजल पुराण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीविष्णु के पद कमलों का ही दिव्य चरणामृत है, श्रीगङ्गाजी का श्रीहरि के पदाम्बुजों से ही तो उद्‌गम है। कलिकल्मषहारिणी पुण्य तोया भगवती भागीरथी का अमित सामर्थ्य सम्पन्न सर्वोत्तम परम पवित्र जल न केवल कायिकव्याधि ही अपितु मानसिक व्याधियों का परिहार कर श्रीभगवद्धाम की प्राप्ति कराता है। श्रीगङ्गाजी की महा-महिमा पुराणादि शास्त्रों में विस्तृत रूप में वर्णित है, पुराणान्तरों का यह वचन प्रसिद्ध है, कि--

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णु लोकं स गच्छति ।।

जगद्‌गुरु आद्य शङ्कराचार्यजी ने भी गङ्गाजल पान का अद्‌भुत महत्व निर्दिष्ट किया है,--

भगवद्‌गीता किञ्चिदधीता गङ्गाजललवकणिका पीता ।
सकृदपि येन मुरारिसमर्चा क्रियते तस्य यमेन न चर्चा ।।

महाकवि श्रीकालिदासजी ने भी गङ्गाजल स्तवन करते हुए सदा गङ्गाजल पान की प्रार्थना की है--

मातर्गङ्गे ? तरल तरङ्गे ? सततं वारिधिवारिणि सङ्गे ? ।
मम तव तीरे पिबतो नीरं ''हरि हरि'' जपतः पततु शरीरम् ।।

हे अति चञ्चल तरङ्गों वाली तथा समुद्र के जल में प्रवेश करने वाली हे मात गङ्गे ! तेरे मनोहर तीर पर तेरा निर्मल जल सेवन करते हुए और 'हरि-हरि' जपते हुए मेरा शरीर पात हो।

अतएव हृदय रोग पीड़ित जनों को प्रतिदिन एक तोला गंगाजल पान करके इस भीषण रोग से मुक्त होने का सरल आश्रय लेना परम हितकर होगा। वैज्ञानिक पद्धति एवं उसके अनुभवपूर्ण शोध से भी गंगाजल से उक्त व्याधि का पूर्वोक्त क्रिया से सहज निवारण किया जा सकता है। संक्रामक कीटाणुओं को विनष्ट करने की अपार क्षमता है गङ्गाजल में। जो वैशिष्ट्य गङ्गाजल में है वह किसी भी नदी, सरोवर, कूप के जल में नहीं है, उनका जल एक सप्ताह, एम पक्ष या एक मास के मध्य में ही विकृत हो जाता है। गङ्गाजल में सैंकड़ों वर्ष तक भी किसी प्रकार का विकार नहीं आता । कुए

में असंख्य कृमि उत्पन्न हो जायँ तो आप १० या २० तोला गङ्गाजल कूप में डालकर प्रत्यक्ष अनुभव करें, एक सप्ताह के मध्य एक भी कृमि देखने को नहीं मिलेगा। इसी प्रकार वृहत् सरोवर में भी हानिकारक कीटाणुओं से मुक्ति पाने के लिए १ किलो जल में १ बूँद के अनुपात से गङ्गाजल सरोवर में डाल दीजिए, एक भी विषाक्त कीटाणु नहीं रह पावेगा। ऐसे ही शरीर में जो हृद्रोगोत्पादक कृमियों के बाहुल्य को समाप्त कर हृदय को निःसीम शक्ति प्रदान कर मानव को यथेष्ट स्वास्थ्य लाभ देता है, अतः हृदय व्यथित जनों को एवं स्वस्थ पुरुषों को भी धार्मिक या वैज्ञानिक जिस दृष्टि से भी दैनिक गंगोदक का पान करना चाहिये। यह गंगोदक हरिद्वारस्थ ही होना आवश्यक है।

साधु-सेवा से मानव का महान् कल्याण

अध्यात्मचिन्तनपरायण भगवन्निष्ठ स्वदेश सेवानिरत धर्मप्राण परम भागवत साधुजन की निष्काम भाव से सेवा करने वाला श्रद्धावान् मनुष्य ऐहलौकिक सुखों की प्राप्ति कर अन्त में पुण्य लोकों का मङ्गलय यात्रा द्वारा श्रीभगवद्भावापत्तिरूप-मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। आत्माराम उत्तम श्लोक हरिभक्त सन्तों की क्षणिक सेवा भी सकल पापतापहारिणी तथा परमैश्वर्य और परमानन्द की देने वाली है। महाभागवत सेवा संलग्न जन कभी भी श्रीविहीन नहीं होते अपितु निखिल सम्पत्ति उनका सहर्ष आलिङ्गन करती है। सन्त-सुश्रुषा अभिरत मनुज का देववृन्द भी पुलकितमना सतत स्वागत करते हैं। तीर्थस्वरूप साधु पुरुषों के मङ्गल-दर्शन हेतु पवित्र तीर्थ भी सदा उत्सुक बने रहते हैं परोपकार, दया, तितिक्षा करुणा, अजातशत्रुता, जिन श्रीहरिरसरसिक वैष्णव महापुरुषों के श्रेष्ठ लक्षण हैं, वे पावन सन्त इस धरा पर विचरण करते हुए लोक-कल्याण करते हैं। उनकी सम्पूर्ण आराधना, साधना ही जनहितार्थ हुआ करती है, "वसुधैव कुटुम्बकम्" की उदात्त भावना के वे उद्गम हैं। काम-क्रोधादि रिपु उनका स्पर्श भी नहीं करते। सर्वदा शान्त, उद्यमशील, कर्मठ एवं सदाचारनिष्ठ रहना उनके जीवन का सहज धर्म है इत्थंभूत साधु पुरुषों की सेवा का निस्सीम महत्व है। महज्जनों की परिचर्या से मानव का बिना किसी अन्याश्रय के ही परम कल्याण हो

सकता है। 'महत्सेवां द्वारमाहुविमुक्तेः' अर्थात् महत्सेवा मुक्ति का द्वार है।

प्रसङ्गमजरंपाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ।।

विवेक सम्पन्न पुरुष सङ्ग अथवा आसक्ति को आत्मा का बन्धन बतलाते हैं, परन्तु जब वही सङ्ग किंवा आसक्ति महाभागवत साधु पुरुषों के प्रति होजाती है, तो मुक्ति का द्वार बन जाती है।

श्रीमद्भागवतोक्त उपर्युक्त इन वचनों से स्पष्ट है, देवर्षिवर्य्य श्रीनारद जी ने भी 'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव' कहकर महज्जनों की सेवा द्वारा उनकी परम कृपा का योग्यपात्र बनने का संकेत किया है। श्रीमद्भागवत में ही श्री जड़भरतजी की स्तुति करते हुए महाराज रहूगण ने कहा है,--

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभिर्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला ।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे, दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ।।१।।
नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो, नमो युवभ्यो नम आ वटुभ्यः ।
ये ब्राह्मणा गामवधूत-लिङ्गा,-श्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम् ।।२।।

हे महात्मन् ! आपके चरणारविन्दों की पावन रज का परिसेवन करने पर जिनके समस्त अघ-समूह और क्लेश-पुञ्ज विनष्ट हो गये हैं, उन परम भागवत महानुभावों को श्रीहरि की विमल भक्ति प्राप्त होना कोई आश्चर्य नहीं। मेरा तो आपके एक मुहूर्त मात्र के सत्सङ्ग से ही सम्पूर्ण तर्कमूलक अज्ञान ध्वस्त हो गया। ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानियों में जो परमवृद्ध हो उन्हें नमस्कार है, जो शिशु हो उन्हें नमस्कार है, जो युवा हों उन्हें नमस्कार है तथा जो क्रीड़ा परायण बालक हों उन्हें भी नमस्कार है। जो भगवन्निष्ठ परम भक्त ब्राह्मण अवधूत रूप से पृथ्वी पर सदा विचरण करते हैं, ऐसे महापुरुष से हमारे सदृश श्रीमदान्ध राजाओं का कल्याण हो।

महाराज रहूगण के इन महत्वशाली वचनों का यही निष्कर्ष है कि मानव उन श्रीराधामाधवपदपङ्कजनिमग्न साधु-पुरुषों की सेवा में भावना संवलित होकर अपने चित्त को प्रवृत्त करदे, तो इस अद्भुत महिमा सम्पन्न सन्त-सेवा के आश्रय से वह बड़े ही सौकर्य से अपना कल्याण कर सकता है, और अपने अलभ्य जीवन को यथार्थ चरितार्थ एवं पूर्ण कृतार्थ कर चिरन्तन आनन्द की दिव्योपलब्धि का सतपात्र बन सकता है।

इसी प्रस्तुत सन्दर्भ में अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज का निम्नांकित पद मननीय है,--

सत्संग विमल जल न्हाइये ।
जनम जनम की मिटैं हारि चलि, साधु सरोवरि जाइये ।।
सरधा लाय फुलेल सरस तन, सुमिरन करि सरसाइये ।
करहु उबटनौ कथा श्रवन हरि, मल अभिमान छुटाइये ।।
दया अंगोछे अंग पोंछ धरि, नवनि बसन छवि छाईये ।
'गोविंदसरन' जस रसना गाये, भक्ति मुक्ति फल पाइये ।।

श्रीसर्वेश्वर की व्यापकता में सन्देह अज्ञान मूलक है

"व्यापिनं परमसत्यमशिनं"

(सविशेष निर्विशेष श्रीकृष्णस्तवराजः)

विविधविचित्रसंस्थानसम्पन्न विलक्षणरचनात्मक परम अचिन्त्य और अगम्य इस सम्पूर्ण विश्व के प्रत्येक पदार्थ ही में नहीं अपितु अणु-अणु में वे सर्वान्तरात्मा सर्वनियन्ता सर्वाधिष्ठान परात्परब्रह्म भगवान् सर्वेश्वर वनमाली श्रीश्यामसुन्दर विराजित है। वे सर्वत्र सर्वकाल अविछिन्न रूपेण सबका विभिन्न रूपों से सृजन, पालन और लय करते हैं। बिना उनके निखिलविश्व-ब्रह्माण्ड का कोई भी पदार्थ अपनी क्रिया में समर्थ नहीं हो सकता। सर्वत्र उन्हीं श्रीहरि की सत्ता अबाधगति से नियमन करती है।

'भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' यह श्रीमुख वचन स्पष्ट ही है। अन्यत्र भी श्रीमद्भगवद्गीता में--

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।।
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।।
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।

हे धनञ्जय ! मेरे अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी अन्य वस्तु नहीं है, यह चेतनाचेतनात्मक सकल जगत् सूत्र में मणिसमूह की भाँति मेरे में गुंथा हुआ है। और हे अर्जुन ! मुझ अनुग्रहविग्रह सच्चिदानन्दघन अखिलात्मा से दृश्यादृश्य सम्पूर्ण विश्व परिव्याप्त हैं, तथा समस्त जीवगत मेरे संकल्प से आधारित हैं, सतरां वस्तुतस्तु मैं उनसे स्थित नहीं हूँ । हे अर्जुन ! कल्पान्त में सम्पूर्ण भूत मेरी अनिर्वचनीय प्रकृति को प्राप्त होते अर्थात् प्रकृति में स्थित होते हैं, कल्प के आदि में उन्हें मैं फिर से रचता हूँ।। और हे अर्जुन ! सभी का प्राप्य एवं सम्पोषणकर्त्ता, पूरे जगत् का स्वामी, शुभाशुभ फल का एकमात्र द्रष्टा और सबका निवास और शरण्य एवं अन्योपकार की अभिलाषा न कर सकलहित कामना में तत्पर और उत्पत्ति प्रलयादि का केवल एक आधार अविनाशी कारण मैं ही हूँ। मैं सर्व दृष्टा पुराण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही इस संसार की उत्पत्ति का प्रधान कारण हूँ तथा मेरे द्वारा ही यह निखिल जगत् प्रेरित होता है। इस प्रकार समझकर श्रद्धायुक्त भक्ति से विवेकी भक्तजन मुझ परमात्मा का ही सतत भजन करते हैं।

श्रीसर्वेश्वर की व्यापकता उपनिषदों में तो पद-पद पर बहुशः परिवर्णित है। संक्षेप में यथा ''तं दुर्दशं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।'' ''जगतः प्रतिष्ठाम्'' ''महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति'' ''एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष'' ''योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्'' इत्यादि असंख्येय श्रुति वचन है।

अतएव जगत् के अखिल वस्तुजात में अपने आराध्य सर्वेश्वर श्रीप्रभु का दर्शन करना परम अभीष्ट है, जिससे दिग्भ्रान्त मानव उन पूर्णब्रह्म परमेश्वर की उपलब्धि करने में उन्हीं के अनुग्रह बल पर सक्षम हो सके।

संसार के चाकचिक्यमय दुःखरूप पदार्थों की आसक्ति का परित्याग कर केवल अपने स्वाराध्य के मिलन की उत्कट उत्कण्ठा को जागृत करे। वे सर्वव्यापक श्यामसुन्दर तो परम कृपामय है, एकमात्र होनी चाहिए उनकी सर्वव्यापकता में दृढ आस्था । और यदि इस दृढ आस्था का हृदय-स्थल में आविर्भाव हो जाय तो मानव जघन्य कर्मों से बचकर अतुलनीय शान्ति को प्राप्त कर सकेगा ।

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय और भगवान् श्रीराम

अखिलब्रह्माण्डनायक, क्षराक्षरातीत, जगज्जन्मादिहेतु, ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिकिरीटकोटीडितपादपीठ, परब्रह्म अनुग्रहविग्रह, कौशल्यानन्दवर्द्धन, दशरथतनय, मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामभद्र का पावनतम चरित कितना समुज्जवल, दिव्य और शास्त्रमर्यादाओं से निबद्ध है--इसे प्राकृत भाषा में अङ्कित करना अति कठिन है। लोकाभिराम भगवान् श्रीराम का ऐसे अत्यन्त भीषण संकटकाल में आविर्भाव हुआ, जबकि दुर्दान्त रावण-कुम्भकरण एवं मेघनाद-खरदूषण जैसे अगणित प्रबल अत्याचारी क्रूरकर्मा निशाचर का अतिशय प्राबल्य था। गो-ब्राह्मण साधुजन, देवगण, ऋषि-मुनि-महात्मा नाना प्रकार से महाघोरकर्मपरायण इन असुरों के अकल्पनीय भयंकर कुकृत्यों से अत्यन्त उत्पीड़ित थे। त्रिभुवन-विमोहन करुणा-वरुणालय श्रीराघवेन्द्र प्रभु ने कृपा कर इन नृशंस दुष्ट दैत्यों का दलन और प्रपन्न भक्तजनों का परित्राण कर वैदिक-धर्म एवं शास्त्रमर्यादा की सम्यक् प्रकार से स्थापना की। आपके लोकपावन चरित का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर आज भी विभ्रान्त मानव सत्पथानुगामी बनकर आपकी महामहिमामयी परमानुकम्पा का सद्भाजन बन जाता है, तथा च आपके अति दुर्लभ मधुर दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त कर लेता है। भगवान् श्रीराम के सभी चरित्र इतने आदर्श और महान् हैं कि उनके स्मरणमात्र से ही त्रिविध ताप एवं पातकोप-पातक पल भर में ही प्रणष्ट हो जाते हैं।

रघुकुलतिलक श्रीराम के अखण्ड साम्राज्य में सर्वत्र सुख शान्ति की अजस्र धारा प्रवाहमाण थी। सम्पूर्ण प्रजा धन-जन-समृद्धि से सम्पन्न थी

और नित्यनव हर्षोल्लास का अनुभव करती थी। जनकतनया श्रीसीताजी सहित श्रीरामभद्र की अतुलित-अनुपम-सौन्दर्य-माधुर्यजन्य विलक्षण शोभा के दर्शन हेतु अगणित देव-ऋषि-मुनि वृन्द आ-आकर अपनी अनन्तकाल की उपार्जित तपःसाधना की उपलब्धि का साक्षात्कार करते थे। असीम बल निधान पवनतनय श्रीहनुमान् जिन भगवान् श्रीराम के युगल पदकंज में सदा अनुरक्त रहते थे, उन प्रभु की इच्छित सेवा-सामग्री को सतत प्रस्तुत करना कैसी आदर्श और उत्कष्ट भक्ति का निदर्शन है। श्रीप्रभु के सुविस्तृत राज्य में धर्म और नीति के अद्वितीय मर्मज्ञ महामुनि श्रीवसिष्ठ जैसे प्रमुख परामर्शदाता का होना रामराज्य की गरिमा का महत्तम द्योतक था। अवधेश महाराज दशरथ और माता कौशल्या का अनिवचनीय अगाध अनुराग बरबस किसे अनुप्राणित नहीं कर देता। लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न जैसे परम अजेय महामहिम भ्राता रामाज्ञा के अनुपालन में सर्वदा विनम्रभाव से सन्नद्ध रहते एवं तदनुवर्तन में अपना अतिशय सौभाग्य मानते हैं।

इस प्रकार मानव-जीवन का यथार्थ प्रेरक एवं उदात्त उद्‌बोधन-प्रदायक मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम का त्रैलोक्यपावन मङ्गलमय चरित सामने है। वह जिस दृष्टि से भी देखा जाय, सर्वोत्कृष्ट और दिव्यातिदिव्य है। नीलाम्बुज-श्यामल कोमलाङ्ग हृदयरमण नयनाभिराम श्रीराघवेन्द्र प्रभु के निखिललोकवन्दित परमाद्‌भुत चरित का श्रुति-स्मृति-पुराण-तन्त्रादि धर्मशास्त्र एवं वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण प्रभृति अनेक रामायणों तथा अनेक ऋषीश्वर, सम्प्रदायाचार्यों, सन्त-महात्माओं ने भी भव्य, सरस और अति विस्तृत रूप से वर्णन किया है। श्रीरामचरित मानस तो प्रसिद्ध ही है। श्रीगोस्वामीजी ने जिस अनूठे प्रकार से मानस का प्रणयन किया है, वह अद्वितीय है। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय के सर्वमूर्द्धन्य पूर्वाचार्य एवं परवर्ती आचार्यचरणों ने भी श्रीराम महिमा का गुणगान जिस अनुपमेय, अति ललित भाषा में किया है, वह भी विशेषतः द्रष्टव्य है।

श्रीमन्निम्बार्काचार्यपीठाधिरूढ जगद्विजयी जगद्‌गुरु श्रीकेशव-काश्मीरीभट्टाचार्यजी महाराज ने ''कृष्णशरणापत्तिस्तोत्र'' में भगवान श्रीकृष्ण की आकांक्षा करते हुए भगवान् श्रीराम की भी प्रपत्ति बड़ी ही सरसता से की है--

श्रीरामचन्द्र रघुनाथ जगच्छरण्य राजीवलोचन धनुर्धर रावणारे ।।
सीतापते रघुपते रघुवीर राम । त्रायस्व केशव हरे शरणागतं माम् ।।
(श्रीकृष्णशरणापत्तिस्तोत्र, श्लोक ४)

ऐसे ही श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने भी अपने ''श्रीपरशुरामसागर'' नामक वृहद् ग्रन्थ में अनेक दोहों और पदों से राजीवलोचन भगवान् राम का गुणगान किया है। उदाहरणार्थ कतिपय दोहे और पद यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं--

रंक विभीषन कौं लयो, लै रावन को राज ।
'परसा' परम उदार अति, राम गरीब निवाज ।।
'परसा' हित करि सेइयै, हरि तारन भवपार ।
और न को रघुनाथ सम, नेह निबाहन हार ।।
घर बाहर सनमुख सदा, हरि जहँ-तहँ इक तार ।
रामचन्द्र भजि 'परसराम', दाता परम उदार ।।
रामचन्द्र दसरथ सुअन, 'परसा' परम उदार ।
लंक दई जिन हेत करि, भयो अवधि दातार ।।
जिन तारी सिल सिंधु परि, 'परसराम' सो राम ।
ता सुमिरयां सब सुद्धरै, करिये जो कछु काम ।।
(श्रीपरशुरामसागर खंड२,दो० ९,११,१३,१४,१६,पृ०३४)

पद-रज पावन राम ! तुम्हारी ।
सदगति भई सिला अब-हीं-अब, देखि प्रकट साखी रिषि नारी ।।
पलट गयो पाषान पलक में, यह अचिरज लागत अति भारी ।
कटे कलंक सकल पद-पकज, परसत दिव्य देह जिनि धारी ।।
बरनि सकै कबि कौन सुमहिमा, जानि अजानि सेस बिसतारी ।
सोई दीजै, रघुनाथ ! कृपा करि 'परसा' जन-रज काज भिखारी ।।
(श्रीपरशुरामसागर खंड ४ पद ३६, २, पृ० ११९, २०५)

इसी प्रकार श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधिपति जगद्गुरु श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराज ने अपने निजप्रणीत ''गीतामृतगङ्गा'' नामक वाणी-ग्रन्थ में अवधेशकुमार श्रीरामलला की महिमा का अनेक स्थलों पर बड़ा ही

मार्मिक वर्णन किया है। यथा--

जय-जय रघुवर ! करुणासागर !, कार्मुकहस्त ! अयोध्यानागर !
भव-भय खण्डन ! निजजन मंडन !, हय-खुर कृत दानवपुर-कंडन
जनकसुता-सहचर गुणराशे, वितर दयां ''वृन्दावनदासे''

जागु रे मनवाँ ! लै रे राम कौ नाम ।
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह में, कत भटकत बेकाम ।।
बिनसि गऐं तन छिनक एक में, कोउ न छुवै है चाम ।
'(श्री)वृन्दावन' यह समझि, बावरे !, बेगि पकरि निज धाम।।

(श्रीगीतामृतगङ्गा घाट १०, १३, पद २०, ६)

श्रीनिम्बार्काचार्यपीठसमारूढ आचार्यवर्य जगद्गुरु श्रीगोविन्दशरण-देवाचार्यजी महाराज ने भी अपनी अति मनोहर मञ्जुल पदावली में रघुकुल तिलक जनकसुतापति विश्वविमोहन श्रीराघवेन्द्र के विवाहोत्सव एवं हिंडोरा-उत्सव का कितना हृदयग्राही और मनोरम वर्णन किया है, जिसका कुछ अंश नीचे उद्धृत है।

मिथिला आय जनकपुर हंसा । गुन रूप सील अवतंसा ।।
ठाढी जनक-लली जु अटा हैं । मानो रूप की घटा हैं ।।
सजनी सौं बोलीं बैना । ये काके कुँवर छबि-ऐना ।।
तन साँवल सरस सलोनें । सुन्दर अस भये ल होने ।।
यासौं मन-लगन लगी है । मेरी नींद रु भूख भगी है ।।
पितु कठिन धनुष पन लीनौं । कोउ कहे जाय कहा कीनौं ।।
ये मृदुल मनोहर गाता । यह धनुष कठिन अति ताता ।।
सब घातैं भई अकामी । (मैं) इनकी पतनी ये स्वामी ।।
जनकसुता की करुना-बानी । रघुपति अपने मन मानी ।।
सिव कठिन धनुष लै तोर्‌यौ । भट बीरन कों मद मोच्यो ।।
भयौ ब्याह, बधाई भलियाँ । सब गली गली रंगरलियाँ ।।
दुलही लै निजपुर आये । भये 'गोविंदसरन' मन भाये ।।

(श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी की वाणी, पद ६७)

झूलत जनकलली रघुनन्दन ।
अति अभिराम धाम छबि, गुननिधि धनुषबान कर कंजन ।।

सरजु तीर कलपतरु छइयाँ, हरित भूमि मनरंजन ।।
पावस रितु बन उपबन शोभा, निरखि होत मन मंजन ।।
उर बिसाल मुक्ताफल सोहैं, भक्तन के भय भंजन ।।
'गोविंदसरन' राजाधिराज नृप, तिलक असुर दल गंजन ।।

(श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी की वाणी, पद २०२)

यद्यपि श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के आराध्य नित्यनिकुंजबिहारी युगलकिशोर श्यामाश्याम भगवान् श्रीराधाकृष्ण हैं, तथापि सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण में अन्तर नहीं माना गया है। तत्त्वतः वे एक ही परात्पर-तत्त्व रसस्वरूप परब्रह्म हैं, लीला विलासहेतु भक्तों को आनन्द देने, धर्म संस्थापन एवं निशाचरों के दमनार्थ ही समय-समय पर विभिन्न रूप से अवतार लेते हैं, जैसे कि श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने स्पष्ट किया है--

राम कृष्ण हरि नाम में, भेद अभेद न कोय ।
पार करन कौं 'परसराम', परम पोत प्रभु सोय ।।

(श्रीपरशुरामसागर, प्र. खण्ड ३७०/२)

भगवान् श्रीराम का दिव्य चरित मर्यादास्थापनादि के उद्देश्य से की गयी अनेक लीलाओं से परिपूरित है और इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के लोकोत्तर, अप्राकृत ललित चरित का भी मुख्य उद्देश्य निज-प्रपन्नजनों को सुख देने के अतिरिक्त दिव्यकेलि रस प्रदान ही है, असुर-संहारादि कार्य तो प्रासङ्गिक है।

परमात्मज्ञान के बिना जीवन विफल है

जन्मजन्मान्तरीय सत्कर्मानुष्ठानों का फल तथा भगवान् श्रीसर्वेश्वर की अहैतुकी दिव्य कृपा जन्य यह मनुष्य शरीर मिलता है। इस अति दुर्लभ शरीर को प्राप्त कर अनन्त जन्माभिलषित निखिलानन्दकेन्द्र श्रीगोविन्दपद-कमलसुधारसानन्द की उपलब्धि नहीं की तो प्राणी के कर्म सारहीन और निष्फल हो जाते हैं। श्री हरिपदाश्रय-विमुखतापूर्वक किये गये सम्पूर्ण साधन, तप और सिद्धिबल भी हतप्रभ एवं असुखदायी ही होते हैं। आत्मज्ञानशून्य

मानव जीवन पशु तुल्यहीन तथा निरर्थक हैं। तत्त्वज्ञ मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने, मर्मज्ञ महा मनीषियों ने एवं सर्वज्ञ सन्त महात्माजनों ने अपने अनुभवपूर्ण उपदेशों में मानव को परमात्मज्ञान की ओर अग्रसर करने के लिये पुनः पुनः आदेश दिया है, महर्षि चाणक्य का यह दिव्य वचन उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि करता है--

अधीत्य चतुरो वेदान् व्याकृत्याष्टादश स्मृतीः ।
अहो श्रमस्य वैफल्यमात्मापि कलितो न चेत् ।।

चारों वेदों का अध्ययन एवं अठारहों स्मृतियों की सम्यक् व्याख्या करके भी यदि परमात्मज्ञान न हुआ तो सम्पूर्ण परिश्रम वृथा ही है।

वस्तुतस्तु निखिलशास्त्रों क अनुशीलन एवं उनके श्रवण करने पर भी यदि यह प्राणी भगवद् ज्ञान से विमुख रहे, श्रीहरि के परमानन्द सन्निधान युगलपदारविन्द से विमुख होकर जगत् के भौतिक, क्षणिक और क्लेशप्रद विषयों में समासक्त हो, तो इससे बढकर और कौनसी अज्ञानता है। जो विषयासक्त मानव शास्त्रोपदिष्ट उपदेश की अवहेलना कर स्वेच्छाचरण करते हैं उनको वेदादि शास्त्रों से पीड़ा परिपूरित लोकों की प्राप्ति का अधिकारी बताया है।

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचाऽत्महनो जनाः ।।

जो परमात्मज्ञान विहीन अपनी ही आत्मा का हनन करने वाले अज्ञानी जन मृत्यु के बाद घोर अन्धकार से आच्छादित असूर्यानामक कष्टपूर्ण लोकों को प्राप्त करते हैं।

यह नितान्त सत्य एवं अनुभवगम्य है कि संसृति समद्भूत यावत् पदार्थ आधि-व्याधिग्रसित है, फिर भी माया परिवेष्ठित प्राणी कुलाल चक्रवत् इस भयावह भवाटवी में संचङ्क्रमण कर रहा है। अपने स्वर्णिम अमूल्य जीवन को क्षुद्र लौकिक कर्मो में प्रवत्त रखता है। किन्हीं भगवद्भक्त ने ऐसे संसारासक्त मानव को बड़ा ही सुन्दर उद्‌बोधन किया है--

धिक्कुलं धिक्कुटुम्बं च धिग्गृहं धिक्सुतं च धिक् ।
आत्मानं धिक् शरीरं च श्रीगोपालपराङ्मुखम् ।।

जो निखिलानन्दकन्द नन्दनन्दन श्रीगोपाल से विमुख है उस कुल को, कुटुम्ब को, घर को, पुत्र को, आत्मा को तथा शरीर को धिक्कार है। धिक्कार है॥

श्रीभर्तृहरि ने भी इसी आशय को कितने हृदयग्राही शब्दों में व्यक्त किया है।

लब्धा विद्या राजमान्या ततः किं, प्राप्ता सम्पद्वैभवाढ्या ततः किम्।
भुक्ता नारी सुन्दराङ्गी ततः किं, येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत्॥

जिस मनुज ने अपनी आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया उसने यदि राजमान्या विद्या की उपलब्धि कर ली तो क्या ? विलक्षण वैभव सम्पन्न विपुल सम्पदा के अधिपति बनने पर भी क्या ? तथा परमसुन्दर नारी का सहवास जन्य क्षणिक सुख भी प्राप्त किया तो क्या ?

इस सम्पूर्ण कथानक प्रसङ्ग का निष्कर्ष है कि मनुष्य भवजाल के चाकचिक्यमय महाचक्र में आबद्ध न होकर अपने यथार्थ चरम लक्ष्य परमात्म ज्ञान को समझने का प्रयास करे । आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् ने भी ''वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी'' के अन्तिम श्लोक से यही उपदेश किया है कि जिज्ञासु भगवद्भक्त साधकजनों को--

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम् ।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्तर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पंच साधुभिः ॥

उपास्य अर्थात् भगवान् श्रीसर्वेश्वर का, उपासक (जीव) का, श्रीभगवत्कृपाफल का, भक्तिरस का और भक्तिपथ में विरोधी तत्त्वों का सुष्ठु ज्ञान परम अपेक्षित है ।

अतः श्रीयुगल पदपङ्कज मकरन्द पिपासु जनों को जागतिक सर्वार्थ का परित्याग कर निरन्तर अपने स्वाराध्य सर्वेश्वर (परमात्मज्ञान) की शाश्वती चिन्तना (उपासना) में अभिरत होकर अपने जीवन को चरितार्थ करना चाहिये। यथार्थतः बिना इस अवलम्ब के प्राणी का जीवन विफल है।

भववृक्ष के मूलाधार भगवान् श्रीसर्वेश्वर

१-जैसे पीपल के पत्र साधारण वायु से भी फरफराने लग जाते हैं, अर्थात् कभी स्थिर नहीं रहते, उसी प्रकार इस संसार की स्थिति है। इसीलिये शास्त्र में इस संसार को भी अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष की उपमा दी गई है। पीपल आदि के वृक्ष और इस संसार में इतना अन्तर है कि वृक्षों की जड़ें नीचे की ओर (पृथ्वी में) होती हैं और इस संसार का मूल ऊपर की ओर है। वृक्षों के शाखा पत्रादि ऊपर की ओर जाते हैं और संसार रूपी वृक्ष के शाखा पत्रादि नीचे की ओर जाते हैं। वृक्षों में उनके अवयव ही पत्र हैं और संसार रूपी वृक्ष में काम्यकर्म ही पत्र बनते हैं।

२- यह संसार वृक्ष उन वेदोक्त काम्य कर्मों के द्वारा अभिनव रूप से बढता है अर्थात् इसकी शाखा और पत्रों में भी जड़े प्रकट हो होकर ऊपर नीचे चारों ओर फैल जाती हैं और फिर रजोगुण से बढी हुई विषय-रूपी कोपलें प्रतिक्षण बढती रहती हैं।

३- इस संसार रूपी वृक्ष की रूप रेखायें प्रतिक्षण बदलती रहती हैं, जिससे यह पता लगना कठिन है कि यह सर्वप्रथम कब अंकुरित हुआ था। ओर भविष्य में कब यह मुझयिगा और कब तक यह इसी कंटीले रूप में फैला हुआ पथिकों को कांटे चुभाता रहेगा।

मार्ग अवरोध कंटीले वृक्षों का जिन कुल्हाड़ी आदि शस्त्रों से छेदन किया जाता है, उन शास्त्रों से यह नहीं काटा जा सकता। यदि कोई इसको काट छाँट करना चाहे तो उसे असंग (अनासक्ति रूपी शस्त्र तैयार करना चाहिये। उस असंग रूपी शस्त्र से जब इसकी चारों ओर फैली हुई शाखा प्रशाखायें काट दी जाती हैं तो एक सुन्दर प्रकाश फैल जाता है।

४-प्रकाश होने पर वह मार्ग अच्छी प्रकार दिखाई देने लगता है ज़िस मार्ग से चलकर प्राणी उस परम पुरुष के सन्निकट पहुँच सकता है जो इस संसार वृक्ष की ओट में छिपा हुआ है। वही इस वृक्ष को प्रकट करता है और वही इसको सींचता है, अतएव वही इस संसार वृक्ष का अधिपति है। यही कारण है कि जो व्यक्ति इस दुःखदाई कांटों वाले संसार वृक्ष के स्वामी की सन्निधि में पहुँच जाता है, उसके फिर इस वृक्ष के कांटे कभी भी नहीं चुभते।

५-यद्यपि उस सर्वाधार परम पुरुष के पास पहुँच कर आनन्द प्राप्त करने के लिये कौन उत्सुक न होगा। किन्तु लाखों में से कोई एक पूर्ण साहसी ही वहाँ पहुँच पाता है। कारण प्रत्येक प्राणी को मान, मोह, आशक्ति, आत्म-तत्व का अज्ञान, इच्छा, सुख दुःखादि द्वन्द्व इन छहों भयंकर भूतों ने जकड़ रक्खा है। अतएव जो इनसे छुटकारा पा जाय वही उस सच्चिदानन्दघन श्रीश्यामसुन्दर की सन्निधि में पहुँच सकता है ।

६-श्रीश्यामसुन्दर के उस अत्यन्त रहस्यपूर्ण धाम को खोजने में अग्नि, सूर्य, चन्द्र का प्रकाश सहारा नहीं दे सकता, क्योंकि उसके अद्भुत अपार तेज के आगे इन सबका तेज हतप्रभ हो जाता है।

७-यद्यपि समस्त जीव समुदाय उसी परम प्रकाशी श्रीश्यामसुन्दर के अंश हैं, अतः ये भी उसी के सदृश चित् (प्रकाश) स्वरूप एवं अविनाशी तथा मानमोहादि के बन्धनों से स्वरूपतः निर्मुक्त है। यथापि अनादि कर्म वासनाओं के अनुसार प्राकृतिक मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के परिवार में लिप्त होकर जीवात्मा बँध जाता है।

८- जैसे पुष्पों में से सुगन्ध और जहाँ-तहाँ से दुर्गन्ध को पवन उड़ाले जाता है वैसे ही मन और पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ (कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक) इस जीवात्मा को जहाँ तहाँ भिन्न भिन्न शरीरों में भटकाते रहते हैं, अतः इन छहों से सावधान रहना चाहिये।

९-यद्यपि जीवात्मा स्वयं आनन्दरूप एवं आत्माराम है, अतः इसको कहीं भी भटकने की आवश्यकता नहीं, तथापि अहंता, ममता के जाल में फँस जाने पर कान, नेत्र, त्वचा, जीभ, नाक और मन, प्राण तथा हाथ, पैर, वाणी, उपस्थआदि ये जिधर इसे ले जाते हैं उधर ही इसे विवश होकर जाना पड़ता है और इन्हीं के सहारे यह परतन्त्र की भाँति सुख दुःखादि विषयों का उपभोग करता है।

१०-यह जीवात्मा इन देहेन्द्रियादि एवं इनके कारण गुणों में ऐसा मिल जाता है कि-देव मनुष्य आदि योनियों में स्थित रहते हुए, वहाँ खाते-पीते हुए एवं वहाँ से जाते-आते हुए को साधारण ज्ञान वाले व्यक्ति न देख ही सकते और न जान ही पाते। वास्तव में यह जीव इन देह इन्द्रियादि प्रकृति के संघात से विभिन्न एवं इनका अधिपति है। किन्तु जिनको शास्त्र

और आचार्यों द्वारा ज्ञान रूपी चक्षु प्राप्त हो चुके हैं। वे ही ज्ञानी जीव अपने इस स्वरूप को जान सकते हैं।

११-इस जीवात्मा को देखने के लिये बड़े-बड़े योगी, यति और ज्ञानियों को भी बहुत प्रयास-पूर्वक प्रयत्न करने पड़ते हैं, तब कहीं इसे वे समझ पाते हैं। अज्ञजनों को यत्न करने पर भी इसकी झांकी नहीं हो पाती।

यहाँ यह विचार करना चाहिये कि यत्न करने पर भी जीव अपने को क्यों नहीं देख पाते ?

यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जब कभी अन्धेरी रात में अपने मकान के अन्दर की कोठरी में पड़ी हुई, जानी-बूझी देखी हुई स्थूल वस्तु को भी पकाश बिना नहीं देख पाते, तब सूक्ष्म से सूक्ष्म इस जीवात्मा को बिना किसी प्रकाश का सहारा लिये कैसे देख सकते हैं? इसलिये परम-प्रकाश-स्वरूप सर्वाधार श्रीसर्वेश्वर प्रभु का अवलम्ब लेकर उनकी भक्ति के द्वारा उनकी कृपा एवं प्रकाशमयी किरणों से ही जीव आत्मपरमात्मस्वरूप को जान सकता है।

१२-आत्म स्वरूप एवं परमात्मतत्त्व को अग्नि, चन्द्र, सूर्य आदि प्रकाशित नहीं कर सकते, क्योंकि उनके प्रकाश के सामने इनका तेज मन्द है, उसी प्रभु से इन तेजोमय तत्त्वों को प्रकाश मिला है। जीवात्मा उस धाम को एक बार प्राप्त कर लेने पर फिर इस संसार के चक्कर में नहीं गिरता। अतः उसी तत्त्व को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिये।

१३-श्रीसर्वेश्वर प्रभु सर्वान्तिर्यामी हैं, अतः पृथ्वी के अन्दर प्रविष्ट होकर वे ही समस्त भूत प्राणियों को धारण करते हैं एवं सोमरस के रूप से वनस्पतियों में प्रविष्ट हो उनको भी वे ही हरी-भरी बनाते हैं।

१४-प्रत्येक प्राणी के शरीर में वैश्वानर रूप से स्थित हो प्राण और अपान इन दोनों की स्थिति ठीक रख कर खाये पिये हुए पदार्थों को भी वे ही पचाते हैं।

१५-वह सर्वाधार सर्वान्तिर्यामी प्रभु समस्त प्राणियों के हृदय में ही बिराजते हैं। अतएव उनसे ही समस्त प्राणियों के हृदय में स्मृति, विस्मृति, ज्ञान-अज्ञान आदि भ्रमों की उत्पत्ति होती है। इसलिये घट-घट में छिपे हुए

उस आत्मा को वेद शास्त्रों के द्वारा अवश्य जान लेना चाहिये। परम कृपालु प्रभु ने प्राणियों पर कृपा कर इसीलिये वेदों का प्राकट्य किया है और इसी से उन्हें वेद-वेद्य कहते हैं।

निष्काम भक्त को ही वास्तविक सुखशान्ति

प्राणी मात्र के हृदय में नित नई लालसायें उठती रहती हैं, सभी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उसकी पूर्ति का प्रयत्न भी करते हैं। दैवयोग से कभी किसी को लालसा की यत्किंचित् (थोड़ी बहुत) पूर्ति भी हो जाती है। किन्तु फिर भी अपेक्षित शान्ति नहीं मिल पाती। विद्या, धन, जन-प्रतिष्ठा आदि कितना भी वैभव क्यों न मिल जाय फिर भी प्राणी भटकता ही रहता है। कुछ अपूर्णता सी ही अनुभव करता रहता है। विविध कामनायें उसे चारों ओर भ्रमित करती हैं।

इन कामनाओं से मुक्ति पाने का संसार में कोई उपाय नहीं। हाँ, यदि हरि-गुरु-कृपा से जब कभी अगाध सुख-शान्ति के गम्भीर समुद्रस्वरूप प्रभु के चरण-कमलों का आधार मिल जाता है तो अवश्य इन कामनाओं से निवृत्ति हो जाती है और तब उस महानुभव की स्थिति समुद्र के समान हो जाती है, जैसा कि-भगवान् श्रीश्यामसुन्दर ने व्यक्त किया है--

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रवशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।

(गी० २/७२)

अपनी मर्यादा में सुप्रतिष्ठित रहने वाला अतएव परिपूर्ण समुद्र में जैसे चारों ओर से अपने आप नदियाँ आ-आकर मिलती हैं। उसी प्रकार निष्कामी भक्त के सन्निकट समस्त सुख-भोग, ऐश्वर्य अपने आप खिंचे हुए आते हैं। जैसे ग्रीष्म ऋतु में सूर्य किरणें समुद्र का जल खींच लेती हैं किन्तु समुद्र को किसी प्रकार का शोक नहीं होता! वर्षा ऋतु में नदियों का समूह आकर अपार जल प्रदान करता है उस समय भी उसकी वही स्थिति रहती है, कोई विशेष हर्ष नहीं होता। उसी प्रकार निष्कामी भक्त भी निन्दा-स्तुति से विषण्ण या हर्षित नहीं होता ।

आत्मसन्तुष्ट महापुरुषों को धन-जन, मान-सम्मान, ऐश्वर्य प्रतिष्ठा आदि किसी भी प्रकार के वैभव की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु जड़-चेतन सभी उसके चरणों में न्यौछावर होने के लिये लालायित रहते हैं। श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सन्निधि में पहुँच जाना ही वे अपने जन्म की सफलता मानते हैं। वस्तुतः कामना रहित महापुरुषों की सन्निधि में अपूर्व-अनुपम शान्ति का अनुभव होता है, वह वाणी का विषय नहीं। वहाँ तक साधारण व्यक्तियों की पहुँच भी नहीं। यह प्रत्यक्ष देखा गया है कि दूषित दृष्टि वालों को श्वेत-स्वच्छ वस्तु भी मलीन दिखाई देती हैं। जैसे पाण्डु रोगी को श्वेत शंख भी पीला दिखाई देता है। बस, उसी प्रकार सांसारिक जीव सत्पुरुषों में भी गर्हित भावों की कल्पना करते हैं, जो केवल ईर्ष्या जन्य होती हैं। क्योंकि प्रभु की ओर झुकने मात्र से ही प्राणियों के समस्त कल्मष धुल जाते हैं जैसा कि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के मुख से श्रीगोस्वामीजी कहलाते हैं--

सन्मुख होय जीव मोहिं जब हि। कोटि जन्म अघ नाशों तब ही।।

शरणागत होते ही भक्तों के कल्मष तिरोहित हो जाते हैं और प्रभु उन्हें अभय प्रदान कर देते हैं।

श्रीनिम्बार्क भगवान् के एक दिव्य चरित से शिक्षा

श्रीनिम्बार्क भगवान् के बाल्यकाल की यह लोक पावन चरित विश्व प्रसिद्ध है जिसमें कि अनन्त उपदेश समाविष्ट हैं। श्रीनिम्बार्काचार्य जब अष्ट वर्ष की ही आयु में थे आपके पिता श्रीअरुण ऋषि और माता श्रीजयन्ती देवी ये दोनों व्रजस्थ गोवर्धन के निर्जन वन में तपश्चर्या कर रहे थे, उस समय एक दिन सूर्यास्त के समय एक दिवाभोजी यति ने अरुण ऋषि के आश्रम में प्रवेश किया ऋषि समाधिस्थ थे। ऋषि पत्नी भगवान् के लिये नैवेद्य बना रही थी, ऐसी स्थिति में भोजन में विलम्ब और रात्रि का आगमन सन्निकट देखकर ऋषि पत्नी के अनुनय विनय करने पर भी यति आश्रम से चल पड़े, आशा लगाकर घर आये हुए अतिथि का निराश होकर लौट जाने से ऋषि पत्नी के चित्त में बड़ा दुःख हुआ। उस समय बाहर प्रांगण में क्रीड़ा करने वाले अष्टवर्षीय बालक श्रीनियमानन्द ने यति से

अनुरोध कियाऔर आश्वासन दिया कि आप भूखे न जांय अच्छी प्रकार भोजन करें अभी रात नहीं होगी ।

बालक की चमत्कारी वाणी से यति प्रभावित होकर ठहर गये, साथ ही साथ भगवान् सूर्य का प्रकाश भी उसी निम्ब वृक्ष पर स्थित हो गया जिसकी शाखाओं पर कि बालक श्रीनियमानन्द ने उन यति को अपनी कराङ्गुली से सूर्य दिखलाया था, यति ने बड़े आनन्द से भोजन किया, इधर भोजन कार्य सम्पन्न हुआ उधर सहसा एक प्रहर रात्रि व्यतीत होने जैसा समय प्रतीत हुआ, इस घटना से यति चकित हो गये। ध्यान दृष्टि से उन्हें ज्ञात हुआ कि यह बालक, बालक नहीं अपितु श्रीकृष्ण करकमलस्थ सुदर्शन चक्रराज के अवतार हैं। नीम के वृक्ष पर श्रीसुदर्शन चक्रराज सूर्यवत् दिखलाने के कारण यति ने बालक श्रीनियमानन्द का नाम ''आचार्य श्रीनिम्बार्क'' रक्खा, साष्टांग दण्डवत् और स्तुति की, यति रूप ब्रह्मा अन्तर्धान हो गये। श्रीनिम्बार्काचार्य का यह बाल चरित्र केवल जनश्रुति मात्र ही नहीं है अपितु इतिहास पुराणादि शास्त्र सम्मत है। श्रीनिम्बार्क भगवान् के इस दिव्य चरित से आपके चक्रावतार के स्वरूप-दर्शन का एवं अतिथि-सत्कार का महत्व स्पष्टतया प्रतिपादित है।

श्रीनिम्बार्क भगवान् का दार्शनिक सिद्धान्त स्वाभाविक-द्वैताद्वैत एवं उपासना भगवान् श्रीराधाकृष्ण की वृन्दावन निकुंजरस परक लोक-प्रसिद्ध है। 'ब्रहमसूत्र पर वेदान्त पारिजात सौरभ' नामक वृत्यात्मक भाष्य परम सरस एवं संस्कृतविदों के लिये अतिशय उपादेय है। 'श्रीनिम्बार्क भगवान् के पट्ट शिष्य पांचजन्यशंखावतार श्रीनिवासाचार्यजी महाराज हैं, जिन्होंने आपके भाष्य का 'वेदान्त कौस्तुभ' नाम से विस्तार किया। श्रीनिम्बार्क भगवान् का आविर्भाव दक्षिण भारत गोदावरी सलिला के पुनीत तट पर सुशोभित-वैदुर्यपत्तन (वर्तमान में पैठण के निकट मूंगी ग्राम) में महर्षि अरुण के पावन आश्रम में माता जयन्ती के कुक्षि से हुआ। ८ वर्ष की आयु में आपने व्रजवासियों के साथ अपने माता-पिता सहित व्रज में श्रीगोवर्धन के निकट निम्बग्राम में पधार कर तपश्चर्या की। यहीं पर देवर्षि नारद द्वारा आपको 'श्रीगोपाल-मन्त्रराज का उपदेश एवं श्रीसनकादि सेवित शालग्राम स्वरूप अतिसूक्ष्म विग्रह श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा प्राप्त हुई। एकादशी व्रतों,

श्रीभगवज्जयन्तियों में आपश्री ने शास्त्रसम्मत कपालवेध सिद्धान्त की ही प्रमुखता दी है तथा आपने भारत में सर्वत्र विचरण कर वैष्णव धर्म का विपुल प्रचार-प्रसार किया।

भगवच्चरणामृत पान से समग्र संकटों का परिहार होता है

प्रतिदिन भगवान् श्रीशालग्राम विग्रह एवं भगवत् प्रतिमाओं का विधिवत् वेद मन्त्रों द्वारा सौगन्धिक द्रव्यों से सुवासित अतिशय पवित्र सुन्दर जल से अभिषेक होता है वही जल श्रीभगवच्चरणामृत नाम से व्यवहृत होता है। श्रीहरिपदारविन्द विराजित समंजरीक तुलसीदल समन्वित इस दिव्य चरणामृत की महिमा पुराणादि ग्रन्थों में विपुल रूप से परिवर्णित है। समस्त पापराशि के परिशमन में सक्षम इस परम सुधामय चरणामृत के नित्य पान करने पर जागतिक सामान्य व्याधियों की तो बात ही क्या ? परंच इस दुस्तर भव व्याधि से प्राणी उन्मुक्त होकर सर्वेश्वर श्रीगोविन्द की दिव्यातिदिव्य सुरमणीय धाम की प्राप्ति कर लेता है। इसीलिये तो हमारे दैनन्दिन-सतकर्मानुष्ठानों में श्रीशालग्राम सेवा सर्वाधिक महत्वशाली है। जिस सेवा के समाश्रय से हमें प्रतिदिन श्रीभगवच्चरणोदक उपलब्ध हो सके। जो व्यक्ति सश्रद्ध पवित्रान्तकरण पूर्वक इस भगवदीय पादोदक का शास्त्रविधि से प्रत्यह पान करता है वह निस्सन्देह श्रीप्रभुकृपाभाजन होजाता है। जिस नगर, ग्राम एवं घर में भगवान् सर्वेश्वर श्रीवासुदेव तथा जगद्वन्द्य पुराण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीनृसिंह वाराह आदि श्री भगवत्प्रतिमाओं की एवं स्वतः प्रतिष्ठित भगवान् श्रीशालग्राम विग्रह की विधिपूर्वक समर्चना की जाती है, वहाँ सर्वदा मङ्गल ही मङ्गल और सर्वविध-रूपेण सुख-समृद्धि अतुल वैभव लिये स्थित रहती है। देववृन्द पुलकित मनस्क होकर श्रीहीन घर को अपरिमित दैवी सम्पदा से परिपूरित कर देते हैं। वस्तुतः वे पावन गृह श्रीभगवद्धाम रूप बन जाते हैं। ऐसे घरों में श्रीहरिपादोदक के अमित प्रभाव से कठिन संकट एवं अत्यन्त क्लेशदायक व्याधियों का परिशमन भी स्वतः सिद्ध है। पद्मपुराण के कतिपय वचनों से

श्रीविष्णुपादोदक की दिव्य महिमा सुस्पष्ट है--

समस्त पातकध्वंसि विष्णुपादोदकं शुभम् ।
कणमात्रं वहेद्यस्तु सर्वतीर्थफलं लभेत् ।
विष्णुपादोदकं पापी यः पिबेत्तस्य किल्विषम् ।
शरीरस्थं क्षयं याति कृतं ब्रह्मन्न संशयः ।।
तुलसीपर्णसंयुक्तं विष्णुपादोदकं द्विज ।
यो वहेच्छिरसा भक्त्या चान्ते याति हरेर्गृहम् ।।
कोटितीर्थसहस्रैस्तु सेवितैः किं प्रयोजनम् ।
नित्यं यदि पिबेत्पुण्यं शालग्रामशिलाजलम् ।।

कायिक, वाचिक, मानसिक, समस्त पापराशियों को शमन करने वाला परम पवित्र भगवच्चरणामृत के बिन्दु मात्र भी जो मनुष्य पान करे और निज शिर में अभिसिंचित करे तो उसे भूमण्डल के निखिल तीर्थों में अवगाहन का फल प्राप्त हो जाय। हे ब्रह्मन् ! जो पातकी जन विष्णुपादोदक का नित्य पान करे उसके शरीरस्थ सम्पूर्ण पापों का क्षय हो जाता है। इसमें लेशमात्र सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। हे द्विजवर ! जो भक्त श्रद्धा भक्ति के साथ तुलसीदल मिश्रित भगवच्चरणोदक शिर से वहन (धारण) करता है उसे अन्त में निश्चय ही भगवद्धाम गोलोकादि दिव्य लोकों की प्राप्ति होती है। जो भक्त यदि निरन्तर अर्चावतार हिरण्यगर्भ गण्डकीनन्दन भगवान् शालग्राम शिला का अभिषेक करता है और उस सकल तीर्थमय परमपावन चरणोदक को ग्रहण करता है उसे हजारों, लाखों किंवा करोड़ों तीर्थों की सेवा (यात्रा) करने से भी कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि सब तीर्थों का पुण्य तो भगव-च्चरणोदक में ही प्राप्त है अन्य तीर्थ यात्रा तो पिष्ट पेषण के समान हैं।

ऐस, ऐसे भगवच्चरणामृत पान के महत्व से सम्बन्धित अगणित प्रमाण उपलब्ध होते हैं। समस्त तीर्थों में शिरोमणि भगवती पुण्तोया भगीरथी गङ्गा का जिसका लोकोत्तर वैभव एवं महत्व है वह भी उन्हीं हरि के चरणारविन्द से समुद्भूत होने से ही है। साथ ही आद्यशंकराचार्य ने **"गंगाजल लवकणिका पीता"** कह कर गंगा की अलौकिक महिमा का प्रतिपादन किया। अतः प्रत्येक वैष्णव जन किंवा मानव मात्र को

विष्णूपादोदक़ का नित्य पान करना चाहिये जिससे मानव जीवन सफल बने।

वैदिक धर्म के विरोधी तत्त्वों से सदा सावधान

भारतवर्ष (हिन्दुस्तान) धर्मप्राण देश है, इसकी पुण्य वसुन्धरा पर अखिलब्रह्माण्डनायक भगवान् सर्वेश्वर समय-समय परअवतीर्ण होकर वैदिक धर्म का संस्थापन एवं उसके विरुद्ध आचरण करने वाले तत्त्वों का विनाश करते हैं। अगणित देव-वृन्द इसी रम्य धरा पर मानव रूप से जन्म लेने को अनवरत उत्सुक रहते हैं। वेद-पुराणादि सम्पूर्ण शास्त्र इस परम पवित्र देश की अतुलनीय महिमा सोल्लास वर्णन करते हैं। गङ्गा-यमुना-सरस्वती-सरयू-कृष्णा-कावेरी -गोदावरी प्रभृति अनेक सुपावन नदियाँ जहाँ अपने कल-कल निनाद से प्रवाहित हैं। रत्नाकर, महोदधि आदिक विशाल सागर अपनी उत्ताल तरङ्गों से उद्घोष पूर्वक परिखारूप में प्रहरी बने सुरक्षा के लिए सर्वदा कटिबद्ध हैं। इसी भाँति हिमालय भी किसी से पीछे नहीं, अपनी अपूर्व दिव्य धवलिमा से प्रकाश पुंज को विकीर्ण करता हुआ अविचल रूप से स्थित है। चतुर्धाम, सप्तपुरियाँ तथा सर्वोपरि धाम व्रज-वृन्दावन एवं असंख्येय प्रयाग-पुष्करादि दिव्य तीर्थ अपनी अनिर्वचनीय गरिमा लिये विद्यमान हैं।

ऐसी इस परमोत्कृष्ट भारत-वसुधा का सर्वविध रूपेण अमित महत्व है। यह महामहिमामयी धरा वैदिक धर्माचार्यों की तो आराधना स्थली रही है। ऋषि-मुनी-तपस्वी-सन्तजन जहाँ पर निरन्तर समाधिस्थ हो भगवत्साक्षात्कार करते रहे हैं। भीष्म-अर्जुनादि महाभागवत भक्ताग्रगण्य परमबलशाली योद्धा एवं रन्तिदेव-कर्ण जैसे दानी, ध्रुव-प्रह्लाद जैसे बालक भक्त, जनक जैसे परमज्ञानी, सीता-सावित्री जैसी पतिव्रतायें जिस सुविस्तीर्ण धरा की पवित्र क्रोड़ में स्थित रहकर अनन्त सुख की उपलब्धि की है। महाराणा प्रताप-शिवाजी जैसे शोर्यशाली वैदिक संस्कृति के प्राणाधार योद्धाओं की यह प्रसविनी भूमि है। भगवन्निश्वास-भूत वेद-वाङ्मय मन्त्रों के दिव्य घोष की महापावन यही दिव्य अवनि है।

ऐसी इस मनोभिराम परम पुनीत धरणी पर कालक्रम से वैदिक-

धर्म विरोधी तत्त्वों का यत्र-तत्र प्राबल्य होता देखा जा रहा है। कितने ही उच्छृङ्खल मतों का प्रसार वैदिक-संस्कृति (हिन्दू-संस्कृति) के लिये प्रबल घातक है। अनेक स्वार्थान्ध धूर्त अपने आपको भगवान् कृष्ण किंवा भगवान् राम का अवतार बता कर अज्ञजनों को भ्रान्त बनाकर स्वेच्छाचार करते हैं। वेद-पुराणों की भर्त्सना, देव-मन्दिरों की अनावश्यकता कह-कह कर स्वयं की पूजा कराकर घोर अनर्थ करते हैं। स्वयं तो पातकी हैं ही, अन्य जनसामान्य को इस मार्ग के अनुगामी बनाने के प्रयत्न में हैं। कोई हंस-मार्ग, तो कोई ब्रह्मकुमारी मार्ग, तो कोई जय गुरुदेव मार्ग आदि नामों से ये शास्त्र विपरीत आचरण कर अबोध लोगों को दुराचरण की ओर प्रवृत्त करते हैं। **''अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा''** वाली स्थिति है। स्वयं तो निरयगामी बनेंगे ही अपर लोगों को भी निरय भाजन बनायेंगे। तथा च इसके अतिरिक्त ईसाई-मुस्लिम इत्यादि अन्य अनेक मजहब हिन्दू-धर्म के प्रति अपना तीक्ष्ण प्रहार करने को विविध प्रकार से कुचेष्टा करने में संलग्न है।

इस अवस्था में इन सभी विनाशकारी तत्त्वों से भारतीय जनता को बड़ी ही सतर्कता से रहना है। इन वेद-विपरीत आचरण करने वालों से सदा सावधान रहते हुए अपने वेद-पुराणादि प्रतिपादित सनातन धर्म के अनुकूल अपने आपको बनाना नितान्त अपेक्षित है। आश्चर्य तो तब होता है कि कितने ही साक्षर जन उनके मायाजाल में आबद्ध होकर स्वयं को खो बैठते हैं। इन ऐसे साक्षर जनों को अपने धर्म शास्त्रों का यथार्थ मनन एवं श्रेष्ठ प्रज्ञावान् शास्त्रमर्मज्ञों के उपदेश का आश्रय लेकर अपनी कुण्ठित मनोवृत्ति को सन्मार्ग की ओर अग्रसर करनी चाहिये, जिससे दूषित मतों के झंजावात से सुरक्षित रहा जा सके । सावधान मानव व्यवधान की ओर प्रस्थान नहीं करता। अतः प्रत्येक जन को वैदिक सनातन धर्म विरोधी तत्त्वों से सदा सावधान एवं जागरूक रहना चाहिये ।

सुख और शान्ति का वास्तविक उपाय भगवदाराधन ही है

आज प्रत्येक राष्ट्र की जनता अपने-अपने देश की उन्नति में संलग्न है। सभी देशोन्नति के उपाय सोच रहे हैं, स्वतन्त्र भारत के वासी भी अपने देश को सम्बृद्ध, शान्त, सुखी एवं विकसित रूप में देखना चाहते हैं।

यद्यपि स्वार्थपरायण व्यक्ति केवल अपने ही भरण पोषण और अपने ही सुख के लिए प्रयत्न करता है, वह अपने ही स्वार्थ की सिद्धि के निमित्त दिन रात प्रयत्नशील रहता है, तथापि उसे न सच्चा सुख ही मिलता न शान्ति ही रहती है, न ठीक-ठीक भरण-पोषण ही। क्यों ? यदि इस प्रश्न का उत्तर खोजें तो शास्त्रों द्वारा यही समाधान मिलेगा, कि जो मनुष्य ओरों का उदर न भरे जो ओरों को प्यासा रखकर अपनी ही प्यास बुझाना चाहे, दूसरों का शोषण कर स्वयं सम्पन्न बनना चाहे, उसे उस व्यक्ति के समान समझना चाहिये जो कि मूल को न सींचकर एक पत्ते को दिन रात पानी में डुबोये रख रहा हो। यह कौन नहीं जानता कि मूल को जल मिले बिना शाखा पल्लव हरे भरे नहीं रह सकते इसीलिए सभी लोग वृक्ष के मूल में ही जल देते हैं। यह संसार भी एक महान् वृक्ष एवं उसकी शाखा पल्लव रूप कहलाता है, इस विश्व का मूल है सर्वाधार विश्वम्भर श्रीसर्वेश्वर। अतएव उनकी अर्चा पूजा करना ही इस संसाररूपी वृक्ष के मूल को सींचना है, उस मूल को सींचने से ही समस्त राष्ट्र तृप्त, सन्तुष्ट एवं सुखी हो सकते हैं। श्रीमद्भागवतकार विश्वशान्ति का यही उपाय बतलाते हैं--

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ।।

जैसे मूल को सींचने से ही समस्त शाखा पल्लव हरे भरे हो जाते हैं, प्राणों के पोषण से ही अच्युत भगवान् के यजन करने से ही विश्व में शान्ति स्थापित रह सकती है, सभी राष्ट्र सुखी हो सकते हैं। श्रीसर्वेश्वर प्रभु के यजन में अधिक वस्तु साहित्य की भी आवश्यकता नहीं, व्यासस्मृति में कहा गया है--

दद्यात् पुरुषसूक्तेन यः पुष्पाण्यप एव वा ।
अर्चितं स्याज्जगदिदं तेन सर्वं चराचरम् ।।

यदि पुरुषसूक्त के मन्त्रों को पढकर पुष्प और जल भी भक्ति श्रद्धापूर्वक प्रभु के अर्पण करे तो उससे चराचरात्मक समस्त विश्व पूजित हो जाता है। यदि पुरुषसूक्त के मन्त्र भी कोई न जानता हो और पुष्प भी न मिलें तो स्कन्दपुराण में और सुगमता कर दी गई है--

सलिलेनाऽपि भगवान् पूजितः क्लेशहा हरिः।
निवृत्तिं परमां याति पान्थः स्वशरणं यथा ।।

अर्थात् और कोई भी सामग्री की सुविधा न हो तो केवल जल से ही भगवान् श्रीश्यामसुन्दर का अर्चन पूजन किया जाय तो उस साधक के समस्त क्लेश मिट जाते हैं और उसे वास्तविक शान्ति मिल जाती है। जैसे किसी अपरिचित और श्रान्त यात्री को सुन्दर अनुकूल विश्राम स्थान मिलने पर सुख शान्ति का अनुभव होता है, वैसे ही नाना प्रकार के क्लेशों से पीड़ित संसार-सागर के यात्री को श्यामसुन्दर की आराधना से सुख शान्ति की प्राप्ति निश्चयात्मक रूप से होती है यह समस्त शास्त्रों का एक निष्कर्ष है। विश्वशान्ति का यही सच्चा उपाय है।

मानव जन्म की विशेषता

श्रीसर्वेश्वर प्रभु की निर्हेतुकी कृपा से ही प्राणियों को ८४ लाख योनियों में सर्वश्रेष्ठ यह मानव शरीर मिलता है, अतः प्रत्येक नर-नारी को उचित है कि ऐसे रत्न रूप इस नर तन को व्यर्थ न खो दें। जो उत्पन्न होता है वह कभी न कभी एक दिन विलीन भी अवश्य होता है जैसा कि--

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च"

भगवान् ने यह अटल नियम निर्दिष्ट किया है। यद्यपि उत्पत्ति स्थिति और लय की अवधि भी है, तथापि यह पता लगना कठिन है कि कब क्या होगा ? अपने पिता, पितामह, माता, मातामही एवं भाई बन्धु आदि कई एक परिवार के व्यक्तियों का सभी सज्जन जन्म अथवा मरण देखते हैं, किन्तु उसको शीघ्र ही भूल जाते हैं, और जैसे एक शिशु (बालक) क्रीड़ादि कार्यों में ही पूरा दिन समाप्त कर देता है, **वैसे ही सोचने समझने वाला**

व्यक्ति भी सांसारिक कार्यों में ही अपना पूरा जीवन बिता देता है।

देखा जाता है कि जब कोई व्यावसायिक कार्य के लिए कहीं की यात्रा करे और वह वहाँ व्यावसायिक कार्य तो दूर रहा पास की गठरी भी खो बैठे तो उसे कितना दुःख होता है। वही दशा व्यर्थ जीवन खोने वालों की होती है। मानव शरीर द्वारा जीव बहुत कुछ प्राप्त कर सकता है, किन्तु उन सब व्यावसायिक कार्यों में मुख्य तीन कार्य कहे जा सकते है--

१. विद्या (ज्ञान), २. धन संग्रह और, ३. धर्म । अतः प्रत्येक क्षण में मनुष्य विद्या का संचय करे और कण-कण संचित कर धन का संग्रह करे। इन दोनों के संचय करते समय वार्द्धक्य और मृत्यु को भी चाहे भुला दें। परन्तु धर्म संचय के समय तत्परता और तल्लीनता विशेष रखनी चाहिये। जैसा कि शास्त्र में कहा गया है--

अजराऽमरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ।।

अर्थात्-ज्ञान प्राप्ति के समय वृद्ध भी अपने को वृद्ध न जानैं और धन प्राप्ति समय मौत को भी भुला दे। किन्तु धार्मिक कृत्यों में यह धारणा छोड़ दे, उस समय तो यही समझे कि मृत्यु सन्निकट ही नहीं अपितु वह हमारी शिखा पकड़े हुए खड़ी है। वास्तव में है भी ऐसा ही, मरने में देरी नहीं लगती। एक श्वास का भी विश्वास नहीं, प्रत्येक शरीर में ऐसी अणुशक्ति रखी हुई है, कि न जाने वह किस समय निर्गत हो जाय और इस शरीर रूपी एक समूचे देश को विध्वस्त कर दें। इसलिए पहिले धर्म की चिन्ता करनी चाहिए, रोटी, वस्त्र, स्थान, कुटुम्ब आदि की चिन्ता पीछे करो, क्योंकि महती आपत्ति के समय परलोक में एक धर्म ही सहायता कर सकता है, माता, पिता, पुत्र, स्त्री और जाति वालों में एक भी वहाँ तक साथ नहीं जा सकता--

''नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ।।''

यहाँ भी इनमें से कोई भी सच्चा साथ नहीं देता, अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है और अपने सुकृत दुष्कर्मों का फल सुख

दुःख भी अकेले कर्म करने वाले को ही भोगना पड़ता है।

''एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एको नु भुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ।।''
(मनु ४/२४०)

जीव का सच्चा साथी हैं धर्म, जो कभी भी साथ नहीं छोड़ता। अतएव संसार की समस्त लभ्यमान वस्तुओं की अपेक्षा धर्म ही मानव शरीर का मुख्य प्राप्तव्य है, जिसने इस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं की उसका नर तन पाना व्यर्थ है और उसका संचित किया हुआ विद्या एवं अर्थ (द्रव्य) रूपी धन भी व्यर्थ है।

सुखाय कर्माणि करोति लोकः

अखिलब्रह्माण्डनायक करुणावरुणालय सर्वशक्तिमान् सर्वाधार सर्वान्तिर्यामी भगवान् श्रीसर्वेश्वर श्यामसुन्दर की नाट्यस्थली इस विश्व के पात्र रूप प्राणियों की प्रवृत्ति देख कर यह अनुभव होता है--''सुखं मे स्यात् दुःखं मा भूयात्'' अर्थात् सदा सर्वदा सब प्रकार से हम सुखी ही रहें कभी भी दुःखी न हों, प्रत्येक प्राणी की यही लालसा लगी रहती है। अतः उस सुख की आशा को पूर्ण होने के लिए ही अपनी बुद्धि और बल के अनुसार ये प्राणी निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। उन प्रयत्नों से कदाचित् थोड़ा सा सुखाभास मिल जाता है तो वह बड़ा प्रमुदित होता है, किन्तु उसी क्षण अन्य सन्तापों का प्रवाह उमड़ पड़ता है और वह सुखाभास भी उसी प्रवाह में बह जाता है। दुःख प्रवाह में बहते हुए उस सुख को प्राप्त करने के लिए वह प्राणी फिर प्रयत्न करने लगता है। किन्तु ज्यों ही सुख की कुछ अनुभूति मिली कि दुःख की लहरें उमड़ पड़ती हैं।

इस प्रकार आशा ही आशा में प्राणी अपना जीवन खो बैठता है, किन्तु उसे स्थायी सुख नहीं मिल पाता। ऐसी दशा प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इसीलिए अपार दुःखागार इस संसार को अनुभवी साधक सन्त और विद्वानों ने आशा की गम्भीर नदी माना है। श्रीभर्तृहरि की यह शब्दावली मननीय है-

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णा तरङ्गाकुला
राग-ग्राहवती वितर्कविहगा धैर्य्यद्रुम-ध्वंसिनी।
मोहावर्त-सुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।।

यह आशा रूपी गम्भीर नदी (संसार समुद्र) मनोरथ रूपी जल से भरी हुई है जो तृष्णा रूपी तरंगों स सदा क्षुभित रहती है। विषयानुराग ही वकादि-जल चर पक्षी हैं ।

जिस प्रकार बढी हुई नदियाँ अपने तटों के वृक्षों को उखाड़-उखाड़ कर बहा ले जाती हैं उसी प्रकार यह आशा नदी भी धैर्यरूपी तरुवर को विनष्ट कर देती है।

मोह रूपी आवर्तो (भंवरों) के कारण यह नदी गहन और दुस्तर बनी हुई है । चिन्ता ही इस नदी के ऊँचे-ऊँचे तट हैं । जिनका चित्त शुद्ध हो जाता है वे ही योगीश्वर इस भयङ्कर आशा नदी को पार करके वास्तविक सुख का अनुभव करते हैं। जब तक प्राणी आशा नदी के पार नहीं पहुँचता तब तक उसे सच्चा सुख नहीं मिल सकता। इस नदी को पार वही कर सकते हैं जिन्होंने प्रभु का आश्रय लेकर उनके भजन साधन द्वारा अन्तःकरण को विशुद्ध बना लिया हो।

चित्त शुद्ध होते ही आशा, तृष्णा, राग, मनोरथ, तर्क, वितर्क, चिन्ता और मोह ये सब अदृश्य हो जाते हैं और वह आशा रूपी नदी सूख जाती है। पानी सूखने पर नदी के पार जाना सुगम हो जाता है। वह मनोरथ रूपी जल अन्तःकरण में अद्भुत ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश से ही सूख सकता है, अतः प्रत्येक प्राणी को सांसारिक क्षणिक सुखों की उपेक्षा न रख कर अपने चित्त में भक्ति ओर ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश करना आवश्यक है।

भक्ति द्वारा ही सहज में भगवत्प्राप्ति हो सकती है

यह निश्चित है कि प्राणियों का वास्तविक कल्याण तब ही हो सकता है जबकि भगवान् के चरण कमलों में अबाधित प्रेमा भक्ति हो, प्रेमा भक्ति के बिना चाहे कितने ही जन्मों तक कर्म करते रहो और कितने ही चाहे ज्ञानार्जन में जन्म व्यतीत किये जायें किन्तु भगवत्प्राप्ति होना कठिन है यद्यपि बहुत से वाक्य ऐसे भी मिलते हैं कि जो 'न ज्ञानादृते मुक्ति' (अर्थात् ज्ञान बिना मुक्ति नहीं हो सकती) इस वाक्य का समर्थन करते हैं किन्तु उनका तात्पर्य परम्परया समझना चाहिये, जैसे कि कर्मादि से अन्तःकरण शुद्धि द्वारा ज्ञानाभिव्यक्ति तत्पश्चात् भक्ति तदनन्तर ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है। इसी आशय को ही 'श्रीब्रह्माजी' ने स्पष्ट किया है--

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो !
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।।
(भा० १०/१४)

अर्थात् जो परम कल्याणकारिणी भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान का ही अवलम्ब लेते हैं उनको तुषों को पीसकर भूसा निकालने वाले की भाँति केवल कष्ट की ही प्राप्ति होती है भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव भक्तजनों को भक्ति का ही अवलम्ब लेना चाहिए। आद्याचार्य भगवान् श्री निम्बार्काचार्य ने भक्ति के स्वरूप के साथ-साथ भक्ति के बाधक (विरोधी) भावों को जानने की भी आज्ञा की है क्योंकि जब तक विरोधियों का ज्ञान ही नहीं, तब उनका निराकरण कैसे किया जा सकता है। विरोधी भाव भी बहुत से हैं, उनमें प्रमुख भावों का यहाँ दिग्दर्शन किया जाता है, जैसा कि आदि पुराण अ० ७ में उल्लेख किया गया है--

विघ्नभूतास्तु पंचैव निघ्नन्तेऽत्र शरीरिणः ।
देवतान्तर-सेवा स्त्री - संगमो धनसंचयः ।।२६।।
स्वबान्धवेषु वासक्ति--रभिमानञ्च पंचमम् ।
एतैर्मोहितचित्तस्य न भक्तिस्स्याज्जनार्दने ।।२७।।

अर्थात् अन्यान्य देवों की पूजा, अवैध स्त्री संगम, अन्याय पूर्वक

धनसंचय, कुटुम्ब परिवार में विशेष मोह और धन जन, विद्या, रूप, यौवन आदि का अभिमान ये पात्र भगवान् की भक्ति में विघ्न स्वरूप महान् बाधक हैं, इनमें से एक-एक विघ्न भी भक्ति से विमुख माना जा सकता है, फिर जहाँ सब एकत्रित हो जायें उस प्राणि के चित्त में तो भगवद्भक्ति का अकुंर भी जमना कठिन है।

इसलिए भगवद्भक्ति के उपासकों को चाहिये कि वे इन विघ्नों से बचने का पूर्ण प्रयत्न करें।

अपने उपास्य देव के अतिरिक्त क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति के लिए अन्यान्य देवों की स्वतन्त्रतया आराधना न करें, केवल वंशस्थिति के अतिरिक्त विषय-वासनाओं में रत होकर स्त्री संग न करें, जीवन निर्वाह के लिए भी अनुचित ढंग से द्रव्योपार्जन न करें, इस प्रकार पुत्र-पौत्रादिकों को भी भगवान् की वस्तु समझ कर उनका पालन-पोषण करें, उन पर अपना स्वतन्त्र आधिपत्य न समझें। उपरोक्त चारों विघ्नों से छुटकारा पा लेने पर अभिमान पर भी विजय पाने की शक्ति हो सकती है, विनम्रता की अभिव्यक्ति होते ही वह भक्त भगवत्कृपा का पात्र बन जाता है फिर भगवद्भक्ति द्वारा उसको सुविधापूर्वक भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

निष्काम कर्म योग

भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुन को उपदेश कर रहे हैं कि--

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।

(गीता ३/५)

कोई भी व्यक्ति किसी में क्षण मात्र भी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। निःसन्देह सब ही पुरुष प्रकृति से समुत्पन्न गुणों द्वारा परवश हुये कर्म करते ही हैं। अतः यह निश्चय है कि कोई भी प्राणी हो कर्म किये बिना नहीं रहते अवश्य ही कुछ न कुछ कर्म करते ही रहते हैं।

यह पुण्य भूमि भारतवर्ष कर्म क्षेत्र ही तो है। यहाँ कर्म की ही

प्रधानता है। अब कर्म कैसा होना चाहिये यह मानव की बुद्धि पर निर्भर है। इसके लिए भी भगवान् अर्जुन को संकेत करते हैं कि--

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।
(गीता ३/१९)

अर्जुन ! तू अनासक्त हुआ निरन्तर कर्तव्य कर्म का भली प्रकार आचरण कर, कारण कि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि फल की आकाँक्षा अर्थात् संसारासक्त होकर कर्म करना संसार बन्धन का कारण और फलासक्ति रहित होकर कर्म करना संसार बन्धन की निवृत्ति का हेतु कहा गया है।

फलासक्ति रहित और निर्लिप्त कर्म करने का नाम ही कर्म है। पर अनासक्त और निर्लिप्त हम होंगे कैसे? हमारे अन्तःकरण में जो वासना सर्पिणी छिपी हुई है वह कर्मों का रस पीती रहती है। उपदेश देने के लिए तो हम कह देते हैं कि ''वासना का हवन करो'' 'प्रवृत्ति को परास्त करो', 'अनासक्त और निर्लिप्त कर्म करो' पर इन उपदेशों से कर्म योग की समस्या का समाधान नहीं होता। वासना के विराट् अन्धकार में विवेक का प्रज्वलित दीपक प्रकाश तो देता हैं, पर बिना भगवत्कृपा के वह प्रकाश चिरस्थायी नहीं होता । कर्मेन्द्रियों को निराहार रखने से वासना नहीं मिटती। प्रवृत्ति को बलात् रोकने से वह वैध मार्ग छोड़कर अवैध मार्ग ग्रहण करेगी। वासना असंख्य जन्मों के प्रारब्ध कर्मों का परिणाम है। उसको हम केवल उपदेशों और वाक्य ज्ञान से नष्ट नहीं कर सकते। प्रवृत्ति का सूक्ष्म रूप है, उसके निरोध की चेष्टा प्रकृति के साथ एक भीषण संग्राम है। यह सत्य है कि अनासक्त होकर कर्म करने से कर्म आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकता, पर अनासक्त होना हो तो जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। यदि बिल्ली के गले में घण्टी बाँध दी जाय तो चूहे सुरक्षित हो जायें, पर बिल्ली के गले में बन्धे कैसे ? यहीं पर भक्ति योग आकर कर्म योग की सहायता करता है। अकेला कर्म योग जिस समस्या का समाधान नहीं कर सका था, भक्ति आकर उसे सरल कर देती है। भक्ति कहती है कि ''जीवन के सारे कर्मों को करो'' पर उन्हें भगवन्निमित्त करो, भगवत्कैंकर्य समझ कर करो। हमें भोग वासना से

प्रेरित होकर कर्म नहीं करना चाहिये, पर कर्तव्य की प्रेरणा से भगवत्कैंकर्य समझ कर करना चाहिये। सारे कर्मों को यदि हम भगवान् को समर्पित कर दें तो फिर आत्मा को बाँधने के लिए हमारे पास कर्म बच ही कहाँ जाता है। जब तक हमारे अन्तःकरण में भगवान् का साक्षात्कार नहीं हो जाता, तब तक हमारे मनोमन्दिरों में प्रेम सिंहासन पर श्रीसर्वेश्वर प्रभु नहीं आ विराजते, तब तक अनेक चेष्टायें करने पर भी मोह नहीं टूटता ।

माधव मोह पास क्यों टूटै ।
बाहरि कोटि उपाय करिय, अभ्यन्तर ग्रन्थि न छूटै ।।
घृत पूरन करहि अन्तर्गत, ससि प्रतिविम्ब लखावै ।
ईंधन अनल लगाय कलय सत, औटत नास न पावै ।।

इन्द्रियों को बल पूर्वक विषय भोग से रोकने तथा निराहार रखने से आसक्ति नहीं मिटती, आसक्ति तो तब मिटती है, जब प्रभु का साक्षात्कार हो जाता है।

इसमें--

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।

श्रीमुख वाक्य प्रमाण है।

ममता तरुण तमी अन्धियारी ।
रागद्वेष उलूक सुख कारी ।।
तब लगि वसति जीव मन माहीं ।
जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं ।।

तिमिरमयी रजनी में मानव एक पिच्छल पथ पर चल रहा है। दोनों ओर खाइयां है और अन्धकार में पैर फिसलने का भय है। कामिनी और काँचन में प्रवृत्त हुआ मानव अन्तर्द्वन्द्व से जर्जर है, पीड़ित है, व्यथित है, वासना उसे पीछे की ओर घसीटती है। ऐसी परिस्थिति में प्रभु भक्ति भूली-भटकी मानवता को असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाती है।

संकट कालीन समय में हमारा कर्त्तव्य

आज विश्व में चारों ओर आतङ्क छाया हुआ है, किसी मानव एवं प्राणी के चित्त में शान्ति नहीं दिखाई दे रही है। ''अशान्तस्य कुतः सुखम्'' जिसको शान्ति नहीं उसको फिर सुख कहाँ। कहीं अनावृष्टि, कहीं अतिवृष्टि और कहीं अन्य प्रकार से प्राणियों का विनाश हो रहा है। दुर्भिक्ष और विविध बाधाओं के कारण बहुत से मनुष्य और पशु काल-कवलित होते जा रहे हैं। ये घटनाएँ प्रत्यक्ष है। यह सब क्यों हो रहा है ? हमारे पापाचार से अथवा ईश्वर की इच्छा से ! संक्षेप में उपर्युक्त जिज्ञासा का यही समाधान हो सकता है कि इसमें मुख्यता बढे हुये पापाचार को ही देनी चाहिये।

पृथ्वी के किसी एक स्थल पर जो पाप हो उसका और पास के क्षेत्रों तक भी प्रभाव पड़ता है। उसकी निवृत्ति के लिए सर्वत्र सोच समझकर सत्प्रयत्न करते रहना चाहिये। वस्तुतः इन्हीं पापों के फलस्वरूप समय पर ग्रहों के अनिष्ट योग और अनेक प्रकार की आधि-व्याधियां उद्भूत होती हैं। उनके सब शमन के लिए शास्त्रों में इष्टदेव की आराधना दीन दुखियों की सेवा आदि विविध उपाय बतलाये हैं। उन सब में ईश्वर आराधन सर्व सुगम सरल अतएव सर्वश्रेष्ठ है।

जब मानव प्रभु को भुला देता है, तभी यह झूंठ, कपट, छलछिद्र, दुराचार, अनाचार, तस्करता आदि पापाचारों में प्रवृत्त होता है। उसकी बुद्धि मलिन हो जाती है। उसी के परिणाम स्वरूप स्वयं दुष्कर्मी और हो सके परिणाम में सङ्ग-साथ परिवार वालों को भी दुःख भोगना पड़ता है। यदि सदा सर्वान्तिशर्यामी सर्वव्यापी श्रीसर्वेश्वर प्रभु का ध्यान रहे तो बुद्धि निर्मल रहती हैं और अच्छे बुरे का उसे विवेक रहता है, जिससे वह पाप कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता और सदा सुखी बना रहता है। इसीलिए तो अष्टादशपुराण प्रणेता भगवान् भागवतकार श्रीवेदव्यास ने कहा है--

''हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्''

जप, तप, स्वाध्याय, यज्ञ, यागादि सभी साधनों से प्रभु की स्मृति होकर पापों की निवृत्ति होती है। चारों ओर सुख शान्ति का प्रसार होता है। श्रीहरि की स्मृति से उनके आराधन उपासना से सम्पूर्ण संकटों का परिहार

सुगमतया हो जाता है। अतः सर्वदा श्रीसर्वेश्वर ही मनसा, वाचा, कर्मणा, समग्ररूप से अपने हृदय में अवधारणीय हैं।

सर्व भूत हिते रताः

प्राणिमात्र के प्रति हित चिन्तन करने वाले भारतीय संस्कृति के संपोषक ऋषि-महर्षियों का यह सिद्धान्त रहा है कि सभी सुखी रहे, स्वस्थ रहे, शुभ कार्य देखें और कोई भी किसी प्रकार से दुखी न हो।

जब सब के हृदय में एक ही प्रभु का निवास है तो प्राणी मात्र का कर्तव्य है कि वह अपने समान ही दूसरे प्राणियों के दुःख-सुख को समझे। यदि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को दुःखी करता है, सताता है, बाधा पहुँचाता है तो वह उस मनुष्य के प्रति ही अपराध नहीं करता, परंच वह तो हृदयस्थ ईश्वर के प्रति अपराधी है। इसलिए धर्म ग्रन्थों में एक जीव के द्वारा दूसरे जीव के प्रति किये जाने वाले व्यवहार का निर्देश करते हुये कहा गया है-

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।

धर्म का सार सुनो और सुन कर उसे हृदयङ्गम कर लो। जो अपने प्रतिकूल जान पड़े, जिस बात से अपने लिये पीड़ा पहुँचे उसको दूसरों के प्रति मत करो। और भी कहा है--

न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदा जनः ।
एष सामासिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ।।

दूसरे के प्रति हमको वह कार्य नहीं करना चाहिये, जिसको यदि दूसरा हमारे प्रति करे तो हमको बुरा प्रतीत हो। संक्षेप में मानव धर्म तो यही है। दूसरे अन्य धर्मों का पालन तो किसी स्वार्थ पूर्ण कामना से किया जाता है। महाभारत में श्रीव्यासजी ने कहा है--

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ।।

जो चाहता है कि मैं जीऊं, उसे क्या अधिकार है कि वह दूसरे के प्राणों को हरण करने की सोचे। जो-जो बात मनुष्य दूसरों से अपने लिये

करवाना चाहता है उसको चाहिये कि वही -वही बात वह औरों के लिए भी सोचे।

इसी भावना के कारण हिन्दू लोग आदि काल से सृष्टि के अनन्त निर्दोष जीवों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुये आये हैं। गाय को उसने अपनी जननी, माता से भी बढकर उसकी पूजा, सर्प की भी उसने देवता के समान उपासना की, कीट-पतङ्ग और पशु-पक्षियों के लिये भी उसने अपनी खेती में से भाग निकाला। यदि हम उन्हीं पवित्रात्मा निष्कलुष भावना वाले महर्षियों की सन्तति हैं, यदि हम भगवान् के हैं तो यह हमारा सबसे पहला कर्त्तव्य है कि हम जियें और दूसर को जीने दें।

भगवद्दर्शन में माया ही बाधक है

श्रीसर्वेश्वर की माया बड़ी प्रबल है। इसी के प्रबल आर्वत में आबद्ध होकर जीव इस असीम संसृति के झंझाबात में चक्कर काटता हुआ जन्म-मरण के भयंकर दुःख को भोगता रहता है। यह ऐसी अद्भुत है कि- साधारण जन की तो बात ही क्या बड़े-बड़े "मायिनामपिमोहिनीम्" मायावियों को भी मोहित कर देती है। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि- "दैवी ह्येषागुणमयी मम माया दुरत्यया" यह अलौकिक अति विचित्र त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, इसके साथ ही साथ यह भी कहा कि "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" जो पुरुष मेरे को ही निरन्तर भजते हैं, वे इस माया को उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसार से तर जाते हैं।

वास्तव में माया एक ऐसी मोहिनी शक्ति है कि जिसके पाश में आबद्ध होकर जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है। कोई-कोई भगवत्कृपा पात्र ही भगवत्कृपा द्वारा अपने स्वरूप को पहिचान पाता है।

श्रीचक्रसुदर्शनावतार आद्याचार्य श्रीनिम्बार्काचार्य भगवान् ने भी बताया है कि--

अनादिमाया परियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात् ।।

(वेदान्त दशश्लोकी दशश्लो० २)

अनादिमाया परियुक्त स्वरूप वाले इस जीव को तो भगवान् के

अनुग्रह से ही जान सकते हैं।

इस माया के स्वरूप का वर्णन करते हुये मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने भी लक्ष्मणजी को बतलाया है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी के शब्दों में--

मैं अरु मोर तोर ते माया । जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ।।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानहु भाई ।।
तेहि कर भेद सुनउ अब सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ।।
एक दुष्ट अतिसय दुःख रूपा । जा बस जीव परा भव कूपा ।।
रचै एक जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके ।।

(रामचरित मानस)

भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण एवं श्रीनिम्बार्क भगवान् ने जीव के सम्बन्ध में जो बात कही वही बात गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज भी कह रहे हैं--

ईश्वर अंश जीव अविनाशी । चेतन अमल सहज सुख रासी ।।
सो माया वस भयउ गुसाँई । बन्ध्यो कीर मरकट की नांई ।।
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई । यद्यपि मृषा छूटत कठिनई ।।
श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई । छूट न अधिक अधिक उरझाई।।
जबते जीव भयो संसारी । ग्रन्थि न छूट न हो सुखारी ।।

(रामचरित मानस)

ब्रह्म और जीव के बीच बस माया ही का पर्दा है। इसकी निवृति हो जाने पर फिर ब्रह्म साक्षात्कार में कोई सन्देह नहीं । इसका उदाहरण भी गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने बहुत ही सुन्दर दिया है । वन गमन काल में भगवान् राघवेन्द्र की छवि का वर्णन है--

आगे राम लखन पुनि पाछे । तापस वेष धरे अति काछे ।।
उभय बीच सिय सोहहीं कैसे । जीव ब्रह्म विच माया जैसे ।।

(रामचरित मानस)

संसाराशक्ति दूर होना ही माया की निवृत्ति है। अतः इसके लिये एक मात्र भगवच्छरणागत होकर भगवद्भजन करना ही परम साधन है। इसी

साधन द्वारा इसकी निवृत्ति हो सकती है ।

सर्वनियन्ता श्रीसर्वेश्वर प्रभु की विचित्र रचना से सुशिक्षा

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक सर्वाधार श्रीसर्वेश्वर प्रभु की अचिन्त्य विचित्र रचना को प्रत्येक प्राणी अपने नेत्रों से देख रहा है, किन्तु इसकी विशेषतायें और इनके द्वारा मिलने वाले उपदेश की ओर बहुत थोड़े व्यक्तियों का ध्यान जाता है। इस रचना में क्या विचित्रता है ? इस प्रश्न का समाधान एक साधारण से प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। एक बड़े भारी लम्बे-चौड़े-ऊँचे विस्तृत बड़ या पीपल के पेड़ को लीजिए । हजारों मनुष्य उसकी छाया में बैठ सकते हैं, किन्तु वही पूरा पेड़ एक ऐसे सूक्ष्म बीज में समाया हुआ रहता है कि उस जैसे हजारों बीजों को एक अति लघु शिशु भी अपनी मुट्ठी में दबा लेता है।

इन दृश्यमान पदार्थों में और भी बहुत से आश्चर्य निहित हैं जो प्राणियों को उनके चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देते । जल की एक बूंद से अभिव्यक्त होने वाले मानव शरीर की भी यही आश्चर्यमयी स्थिति है। प्रत्येक मानव के शरीर में एक ब्रह्माण्ड रूपात्मक अवस्था निहित है, किन्तु सूक्ष्म-ईक्षण बिना उनका अनुभव नहीं होता--जिनका नाम सुनते ही मनुष्य के रोमांच हो उठते हैं, वह मृत्यु भी प्रत्येक प्राणी के शरीर में स्थित रहती है और उससे बचाने वाला अमृत भी यहाँ ही विद्यमान है। यही बात शास्त्रों में भी कही गई है--

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युरापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ।।

किन्तु लौकिक क्षणिक सुखों में भटकने वाला मोह के वशीभूत हुआ पथभ्रष्ट मानव इन बातों का विचार ही नहीं करता और सच्चे, सीधे, सरल मार्ग को छोड़कर दुर्गम एवं नाशक-पथ को अपना लेता है, अर्थात् मोह में व्यर्थ आसक्त हुआ मानव इस अपार संसार-सागर में डूब मरता है। वही मानव यदि सत्पथ का आश्रय लेकर चलता है तो इस दुःखप्रद संसार-

समुद्र से मुक्त हो जाता है। आज मानव की नेत्र-ज्योति पर लोभ का आवरण फैलता जा रहा है। वह सत्य के मार्ग से कोसों दूर हट गया है। क्या शासक-वर्ग और क्या प्रजा-सभी भौतिकवाद की चकाचौंध में उलझ गये हैं । आज का मानव जिस प्रकार के धन, शक्ति, शिक्षा और शरीर-पोषण में तल्लीन है, वह उसे सत्य-मार्ग से दूर हटाता जा रहा है। क्योंकि-

धनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते, बलेन किं येन रिपुर्न बाध्यते ।
श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत्, किमात्मना यो न जितेन्द्रियो वशी।।

उस धन संग्रह से क्या लाभ जिसका न उपयोग हो न किसी दीन-दुःखी को दान ही दिया जा सके। वह शक्ति किस काम की जिससे के ऊपर चढा हुआ शत्रु भी पराजित न किया जा सके। उस शिक्षा से क्या लाभ जो धर्माचरण से दूर हटाती हो । वह शारीरिक पुष्टि भी व्यर्थ है जिससे इन्द्रियाँ और मन वश में न रह सकें ।

अतः मानव-समाज का कर्तव्य है कि वह प्रकाश स्वरूप अपने पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट सत्पथ का अनुशरण करते हुए प्रभु की विवित्र रचना और उनकी शक्ति का चिन्तन करे और बुद्धि, बल ऐश्वर्य आदि समस्त विभूतियों के साथ उसी जगदाधार के चरणों में आत्मसमर्पण कर दे। तभी वह इस संसार सिन्धु से पार हो सकता है।

उत्तम कर्म में विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है

मानव के जीवन में विपत्तियों का आना स्वाभाविक है। विपत्तियाँ बहुजन्मार्जित कर्म विपाक बाहुल्य से अथवा असङ्ग से असदाचरण एवं कालक्रम से आती हैं और मानव अज्ञानवश उनको आकस्मिक मान कर विपरीत आचरण करने को तत्पर होजाता है। किन्तु यह बड़ी भूल है, इससे वह स्वयं का ही पतन करता है। विपत्तियाँ तभी आती हैं जब मानव अहम् के वश होकर इतर जनों के अहित एवं अमङ्गल का चिन्तन करता है। सदा क्रूरता को धारण किये वक्र दृष्टि बनाये मदोन्मत्त होकर स्वेच्छाचारिता का आचरण करता है। और निरन्तर आत्मश्लाघा के लिये उत्कण्ठित हुए विकल मनस्क हो जाता है। इसी का परिणाम विपत्ति है। विरुद्ध आहार-

विहार के करने पर जिस प्रकार से रोगोत्पत्ति होती है, उसी प्रकार शास्त्र विरुद्ध आचरण से विपत्ति आती है।

विपत्ति का परिहार भी होता है, जैसे पथ्य पासलन एवं भैषज सेवन से रोग निवृत्ति, ऐसे ही विशुद्ध चित्त से प्रभु आराधना, शास्त्र मर्यादा पालन, महापुरुषों की उत्तम सङ्गति। इनके करने पर विपत्तियाँ स्वतः विलीन हो जाती है। ''हरिस्मृतिः सर्वविपद्-विमोक्षणम्'' श्रीसर्वेश्वर आराधना की इतनी बड़ी महिमा है कि विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है। वृत्रासुर, प्रह्लाद, ध्रुव, पाण्डव प्रभृति घोर विपत्ति को प्राप्त करने पर भी सम्पत्तिशाली बन गये। उनके पास आयी विपत्ति भी परम सम्पत्ति बन गई। इसलिए मानव को सदा शास्त्राज्ञा के अनुसार अपने जीवन को परम शुद्ध सरल अहम् हीन एवं पवित्र बनाना चाहिये । ऐसा करने पर विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है।

जो विवेकी जन सन्मार्ग का उत्तमोत्तम श्रेष्ठ पुरुषों का पावन सत्संग करता है वह कैसी भी विपरीत कष्टप्रद विपत्ति भी उपस्थित हो जाय तो वे कभी अपने सत्कर्तव्य से धैर्य से विचलित नहीं होते। प्रज्ञावान् पुरुषों का यथार्थतः यही पवित्र स्वरूप होता है। जो अज्ञानतावश असत्पथ के अनुगामी बन जाते हैं वे निश्चय ही विविध विपत्तियों के नानाविध कुचक्रों में आबद्ध हो जाते हैं और फलतः परिणाम स्वरूप उन्हें विविध विपत्तियों के झंझावात में आजाना अस्वाभाविक नहीं अतः उन्हें उत्तम पुरुषों उत्तम शास्त्रों का श्रेष्ठ संग एवं अनुशीलन करना नितान्त आवश्यक है जिससे उनके समक्ष आयी हुई विपत्ति भी सम्पति का ही स्वरूप धारण करले अतः यही उत्तम मार्ग परम हितावह है।

दीन भक्तों के हेतु ही भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार होता है

यद्यपि श्री प्रभु के अवतार के अनेक हेतु हैं किन्तु उन सभी हेतुओं में प्रमुख हेतु है भगवत्प्रपन्न अति दीन रसिकभक्तों की श्रीहरि दर्शन हित उत्कण्ट अभिलाषा। बस यही एकमात्र सर्वाधिक सर्व विलक्षण हेतु उन जगन्नियन्ता सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर श्रीकृष्ण को इस अवनितल पर अवतरित होने को प्रेरित कर देता है। श्रीनिम्बार्क भगवान् ने 'वेदान्त कामधेनु-दशश्लोकी'' में प्रस्तुत प्रसङ्ग का बड़ा ही सुन्दर भाव व्यक्त किया है। 'भक्तेच्छयोपात्त सुचिन्त्यविग्रहात्' अर्थात् भक्तों की प्रबल भावनानुसार ही कृपार्णव श्रीहरि इस धराधाम पर दिव्य मङ्गलविग्रह स्वरूप में अवतीर्ण होते हैं। श्रीप्रभु इतने कृपामय हैं, दयामय हैं, दीनवत्सल हैं, भक्तावांछा कल्पतरु हैं, जो अपने प्रिय भक्तों के लिये सतत प्रमुदित मनस्क रूप से उन्हें अपने अनिर्वचनीय दर्शन प्रदान के लिए समुत्सुक रहते हैं, वस्तुतः श्रीसर्वेश्वर की यह निस्सीम करुणावरुणालयता है। श्रीमद्भगवद्गीता में ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'' इस उपदेश-वचन से श्रीहरि ने सर्वात्म समर्पण करने वाले भगवज्जनों पर सहज कृपावृष्टि का मधुर सरस संकेत कर स्पष्ट कर दिया है। आचार्य प्रवर श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज ने भी अपनी ललित पदावली में कितना मनोहर सरस वर्णन किया है--

माधौ जी सदा दीन हितकारी ।
जहाँ जहाँ भीर परी भक्तनि कौं, तहाँ तहाँ विपति निवारी ।।
दूसासन कच गहे सभा मधि, दुरपद सुता पुकारी ।
'हा करुनामय नाथ !' सुनत आये, जन मन बिपति बिदारी ।।
गज कौं जल में चल्यौ खैंचि कैं, ग्राह महा हंकारी ।
दुख टारन हरि नाम सुनत आये, जन की सुरत सँभारी ।।
इन्द्र कोप कीनौं व्रज ऊपर, मेघ माल लै डारी ।
राखि लियौ अपनैं परिकर तब, नाम भयो गिरधारी ।।

ठौर ठौर संकट संतन के, टारे सब अघहारी ।
विरद जानि अब गोविंदसरन कौं, लीजै भुजा पसारी ।।

उपर्युक्त इस पद में आनन्दकन्द नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण की अवतार महिमा एवं असीम कृपालुता का कितना अनुपम कमनीय वर्णन है जो परम द्रष्टव्य है। श्री प्रभु केवल अपने दैन्यादि गुण संवलित भक्तों पर ही अनुग्रह करते हैं, और उन्हीं के निमित्त ही कृपावारिधि समय-समय पर वे अवतरित भी होते हैं ।

मानव का सच्चा सहायक धर्म ही है

संसारासक्त मानव, जीवन में अनेक सहायक-जनों का, नाना सहायक पदार्थों का अन्वेषण करता है। कभी वह स्त्री-पौत्र-बान्धवों को तो कभी मित्र-परिकर को और कभी राजकुल को कभी धन-धान्य पृथ्वी को एवं कभी विभिन्न वैभवपूर्ण सम्पदाओं को स्वर्ण मुद्राओं को हीरा-पन्ना-प्रवाल-मुक्ता-मणि-माणिक्यादि नाना रत्नों को शासनसत्ता तथा उच्चपदों को श्रेष्ठ-प्रेष्ठ समझता है। किन्तु मानव की यह सर्वथा भ्रान्त धारणा नितान्त भूल मूलक है। इन इह लौकिक विनश्वर जगज्जाल जंजालपूर्ण मायिक पदार्थों में केवल क्लेश ही क्लेश है। अक्लेश निरामय सुखद आनन्द तो एकमात्र निरवधिकसौन्दर्य-सिन्धु जगदाधार जगद्व्यापारवर्ज्य मुक्तोपसृप्य सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीसर्वेश्वर के युगलपदाम्भोजमकरन्द सेवन में ही है।

जो मानव शास्त्र की इस दिव्यनिष्ठा उज्ज्वल भावना एवं दृढ विश्वास में आस्था पूर्ण होकर अपने जीवन को धर्म की ओर उन्मुख करके निर्वाह करता है, वह निश्चय ही भवदुःख दावानल से कभी भी त्रास नहीं पाता। और सर्वदा अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न उन सर्वात्मा सर्वेश्वर की अनन्त कृपा का पवित्र भाजन बनता है। धर्म ही मानव का एतमात्र सहायक है, धर्म के अतिरिक्त इस जगत् में सहायक की कल्पना एक विडम्बना है। ऋषि-मुनियों के आप्त वचन वेदादि शास्त्रों के सारपूर्ण महनीय मन्त्र समूह भी धर्म परायणता की ओर ही इङ्गित करते हैं। पर मायासक्त मानव शास्त्र और वचनों को भूल की जगत् के दुःख द्वन्द्वों में आबद्ध होकर दन्दह्यमान होता

रहता है। जगदाश्रय की परिणति केवल क्लिष्ट क्लेश प्रदायिनी ही है। इससे कभी भी सुख की आशा सर्वथा अज्ञानता है। इसलिये धर्म सेवन का सबसे प्रमुख लक्ष्य होना आवश्यक है। धर्म ही पंचत्व प्राप्ति पर साथ जाता है। संसार के सभी स्वजन इहलोक में ही रह जाते हैं। परलोक का साथी केवल धर्म है। भगवान् मनु ने धर्म को ही यथार्थ सहायक बताया है-

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्र दारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ।।

''परलोक में सहायक के लिये पिता-माता नहीं रहते, तथा इसी भाँति स्त्री-पुत्रादि स्वकीय जन स्वजाति वाले भी नहीं जा सकते। वहाँ एकमात्र धर्म ही सहायक रूप से स्थिर रहता है। भगवान् मनु ने तो यहाँ तक बताया है--

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मेनिवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ।।

''अधर्म परायण पापात्मा पुरुषों की अविलम्ब ही दुर्गति होती है, ऐसा मानकर मानव को चाहिये कि वह धर्म से क्लेश पाता हुआ भी अधर्म में अपने मन को प्रवृत्त न करें ।''

उपर्युक्त इन शास्त्र वचनों से सुसस्पष्ट ही है कि बना धर्म के जीवन विकारमय है। इसीलिये तो सर्वनियन्ता सर्वेश्वर श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में ''यतो धर्मस्ततो जयः'' यह उपदेश किया है। अतः मानव मात्र को धर्म पालन, धर्म में अनुरक्ति, धर्म परक जीवन अर्थात् सर्वरीत्या धर्मानुष्ठान, यही सर्वविध रूप से अनुष्ठेय है। और यही मानव का सच्चा सहायक भी है ।

तपः साधना पर ही विद्या की उपलब्धि होती है

श्रीमद्भगवद्गीता में ''स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते'' अर्थात् वेदादिशास्त्रों के स्वाध्याय का जो अभ्यास किया जाता है वह निस्सन्देह तप ही कहा गया है और मनोनिग्रह पूर्वक इस तप में जो संलग्न होता है वह निश्चय ही उत्तम स्थिति को प्राप्त करता है। स्वाध्याय अर्थात् विद्या की उपलब्धि हेतु जो साधना संवलित रूप से श्रम किया जाता है, वह उच्चतम तप है। बिना तप किये परमार्थ विद्या की उपलब्धि भी सम्भव नहीं। यहाँ विद्या से केवल शब्द-ज्ञान करना मात्र ही नहीं हैं। शाब्दिक ज्ञान से केवल लौकिक सामान्य ज्ञान ही सम्भव है, इससे जीवन को वास्तविक चरितार्थता सुलभ नहीं । इसीलिये श्री प्रभु ने श्रीगीता में ''अध्यात्म विद्या विद्यानाम्'' का उपदेश कर अध्यात्म विद्या को ही उत्कृष्ट बताया है। श्रुति-स्मृति-पुराणादि शास्त्र विधि से आत्म-परमात्मतत्त्व का जो सम्यक् चिन्तन किया जाय वही यथार्थ में अध्यात्म विद्या का स्वरूप है, जिससे श्रीमान् पुरुष ''विद्ययाऽमृतमश्नुते'' अध्यात्म विद्या के द्वारा अमृत्त्व अर्थात् भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

महाराज भर्तृहरि ने भी ''विद्या परं दैवतम्'' उक्त विद्या को ही उत्तम देव कहा है। यों साधारणतया शास्त्र-ज्ञान भी विद्या ही है। ''विद्या समं नास्ति शरीर भूषणम्'' यह मनीषी जनों का भी उपदेश है। विद्या मानव के सही रूप का दर्शन कराती है, जिससे वह उभयत्र आनन्द की सम्प्राप्ति करता है। विद्या विहीन मानव अनेक विध बाधाओं से आक्रान्त रहता है। श्रीभर्तृहरि ने ''विद्यामृते योगिनः'' विद्या राहित्य से परम तपस्वी योगी का भी सुमङ्गल नहीं, इन शब्दों में प्रतिपादन किया है। इसलिये विद्या मानव के जीवन में परम अपेक्षित है। विद्या से सार्वदेशिक ज्ञान, बुद्धि विकास, परमार्थ दर्शन आदि सभी कुछ सुलभतया प्राप्त हो जाते हैं। यदि बाल अवस्था से ही इस मनुज को विधिवत् विद्यार्जन का सौभाग्य मिल जाय तो उसका सर्वतोमुखी अभ्युदय ध्रुव है। वह इतना प्रखर मेधावी, सक्षम, सर्वजनप्रिय तथा परमार्थ पथ सेवी बन सकता है। शास्त्रों में इसी दृष्टि से अष्ट वर्ष की आयु में ही वेदारम्भ का विधान विहित किया है। जीवन की

आधार शिला बाल अवस्था है, और यह यदि दृढ है, तो अग्रिम जीवन के उन्नयन में कहीं अन्तराय की सम्भावना नहीं । वेदों का वचन है ''स्वाध्यायान्मा प्रमद'' स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करो, सतत सच्छात्रों का अनुशीलन चिन्तन करना ही अपना लक्ष्य स्थिर करो। अतः इन शास्त्र वचनानुसार निरन्तर यावज्जीवन स्वाध्याय (विद्याभ्यास) करते ही रहना अभीष्ट है। यह सदा ही मङ्गलकारक है। शास्त्र का यह निम्न वचन कितना सुन्दर है--

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम् ।।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ।।

कल्पलता स्वरूप यह विद्या इस जगत् में क्या-क्या सिद्ध नहीं करती ? माता के सदृश यह रक्षा करती है, पिता सदृश निज-हित में प्रवृत्त करती है, स्त्री के सदृश ताप निवृत्त पूर्वक आनन्ददायिनी है, लक्ष्मी की अभिवृद्धि करती है और चतुर्दिक् कीर्ति का विस्तार करती है।

इस प्रकार विद्या सर्वविध रूप से हितकर है। अतः सुविज्ञजनों को अनवरत शास्त्र नियमानुसार विद्या प्राप्ति का स्वाध्याय संसेवन कर जो जीवन की प्रमुख अभीष्ट फल सिद्धि श्रीसर्वेश्वर प्राप्ति की ओर अग्रसर होना ही सर्वान्तिम लक्ष्य होना आवश्यक है।

विश्वान्तरात्मा के आराधन से ही प्राणीमात्र का हित है

साम्प्रतिक युग में जन हित के लिए विविध उपायों के अन्वेषण हो रहे हैं। तदर्थ प्रयत्न बाहुल्य भी दृष्टिगत होता है, एवं नाना क्रियाओं के द्वारा लोकहितार्थ मेधावी जन इहलौकिक साधन सम्पन्नता के बल पर भी उच्चता की कल्पना करते हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक उपायों के अन्वेषण में संलग्न हैं। किन्तु उन सभी में मूल के अभाव जनित निराशा से संताप का अनुभव करते हैं। जब उन्हें सर्वत्र विफलता के दर्शन होते हैं, तब पुनः जगत् के तीव्र झंझावात के आवर्त में आबद्ध होकर किसी मार्गप्रदर्शक की

गवेषणा करते हैं। यदि कहीं आरम्भ से ही श्रुति-स्मृति-पुराणादि दिव्य शास्त्रों की सरणि पर एवं आप्त काम पूर्णकाम तत्त्वविद् महामुनियों ऋषीश्वरों के अनन्त ज्ञान पुंज प्रदायक अनुपम उपदेश को अवधारण कर तदनुकूल आचरण करें तो अनायास सम्यक् मार्ग का उन्हें बोध हो, जिससे अपने जगदासक्त जीवन को सपत्थ की ओर अग्रसर कर सकें।

शास्त्र राहित्य से ही विपरीत ज्ञान होता है, फिर यह मानव स्वच्छन्दतापूर्वक अपने अमूल्य अवसर को केवल स्वकीय शरीर सम्पोषण में समाविष्ट कर देता है। इसीलिये शास्त्र कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता का यह वचन कितना महनीय है--

''बीजं मां सर्व भूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्''

(गीता अ० ७ श्लोक १०)

''मत्तः परतरं नान्यत्किचिंदस्ति धनंजय''

(गीता अ० ७ श्लोक ७)

''तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्''

(गीता अ० १२ श्लोक ७)

''मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय''

(गीता अ० १२ श्लोक ८)

उपनिषदों में भी--

''महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति''

(कःउ० अ० १ व० म० २२)

''यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवाभिपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।''

(इ० उ० म० ६)

इन उपर्युक्त वचनानुसार अपनी जीवन की दिशा को बदल दें तो फिर कहीं क्लेश की सम्भावना ही नहीं । निखिल जगत् के एकमात्र परमाधार गोविन्द श्रीराधाकृष्ण प्रभु के युगलपदपल्लव मकरन्द के सेवन में यदि जीवात्मा प्रवृत्त हो जाय तो ये कृपामय प्रभु ऐसे दीनवत्सल हैं जिन्हें दर्शन प्रदान हेतु स्वयं ही पधारने की अनुकम्पा करते हैं। परन्तु विस्मय तो यह देखा जाता है कि ये जगत् के प्राणी अज्ञानवश पौनः पुन्येन जगत् को ही सब कुछ

मानकर जगत् से विपद्-ग्रस्त होकर नाना कष्टों का वरण करते हैं। और अन्ततः पश्चात्ताप के अतिरिक्त अन्य कुछ शेष भी नहीं रह जाता। इसलिये शास्त्र सरणि (मार्ग) ही मानव मात्र के लिए सर्वविधा से उपादेय है। अतः जिज्ञासु साधकों का प्रतिक्षण कर्तव्य है कि वे विश्वात्मा के मङ्गलमय आराधन में अपने आपको सन्निविष्ट कर दें। जिससे सर्वत्र उन्हें हित ही हित दृष्टिगोचर होगा । सुदर्शन चक्रावतार आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् ने ''उपासनीयं नितरां जनैः सदा'' का उपदेश किया है और प्राणीमात्र को भगवत्परायणता की आज्ञा प्रदान की है। वस्तुतः जीवन भी तभी सफल होगा जब हम सर्वात्मभाव से उन जगन्नियन्ता श्रीसर्वेश्वर के युगल चरणकमलों में अपने आपको न्यस्त करदें ।

दुर्जन की प्रियवादिता भी अहितकर है

जगत् में कितने ही लोग ऐसे होते हैं जो सर्वदा साधु पुरुषों का निरन्तर अमङ्गल करने में ही अपना सौभाग्य मानते हैं। उनके अन्तःकरण में कभी भी परहित कामना की कल्पना ही नहीं आती । कदाचित् उन्हें किंचित् भी वर्चस्व मिल जाय तो फिर स्वर्ण में सुगन्ध वाली लोकोक्ति उनके लिये चरितार्थ है। ऐसे दुर्जन लोग प्रत्यक्ष में तो बड़े ही मधुरभाषी होते हैं किन्तु उनका अन्तर्मानस निश्चय ही कलुषित होता है। प्रतिक्षण वे इतरजनों के अहित के लिए दुश्चिन्तन एवं दुश्चेष्टायें करते रहते हैं। वे दुरात्मा न केवल दुश्चिन्तन मात्र ही करते अपितु अप्रत्यक्षरूप से जघन्य कृत्यों का आश्रय लेकर अकथनीय अनर्थों के करने में भी सशंकित नहीं होते । नीतिशास्त्र के महामर्मज्ञ महर्षि चाणक्य ने दुर्जन के सम्बन्ध में क्या सुन्दर निरूपण किया है।

दुर्जनः प्रियपादी च नैतद्विश्वासकारणम् ।
मधुतिष्ठति जिह्वाग्रे हृदये तु हलाहलम् ।।

दुरात्मा के द्वारा मधुर भाषण किये जाने पर भी वह विश्वास योग्य नहीं, क्योंकि उसकी जिह्वा पर मधु (शहद) के समान मधुरता का भास होता है, किन्तु यथार्थ में उसका हृदय हलाहल विष से प्रपूरित है।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ।।

दुर्जन यदि विद्यावान् है, अधीतशास्त्र है, तब भी वह सर्वथा त्याग किये जाने योग्य है। मणिधर सर्प क्या भयङ्कर नहीं होता, अर्थात् वह सदा ही हानिकर है।

सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात् क्रूरतरः खलः ।
मन्त्रौषधिवशः सर्पः खलः केन निवार्यते ।।

यद्यपि सर्प निष्ठुर स्वभाव का होता है तो दुष्ट भी निष्ठुर स्वभाव वाला होता है, परन्तु दुर्जन सर्प से कहीं विशेष निष्ठुर होता है, क्योंकि सर्प तो मन्त्र एवं औषधि द्वारा वश में किया जा सकता है, पर दुर्जन का निवारण किस प्रकार किया जाय, अर्थात् दुष्ट पुरुष को सन्मार्ग पर लाना बड़ा कठिन है।

पादपानां भयं वातात् पद्मानां शिशिराद्भयम् ।
पर्वतानां भयं वज्रात् साधूनां दुर्जनाद्भयम् ।।

वायु के प्रबल वेग से वृक्षों को, उषःकाल की ओस से कमल पुष्पों को, वज्र से पर्वत समूह को, तथा साधुजनों को दुर्जन से भय रहता है।

इन उपर्युक्त वचन समूह से सुस्पष्ट ही है दुर्जन की प्रियवादिता सदा ही अत्यन्त घातक है। दुर्जन का अन्तःकरण कालिमा युक्त रहता है। वह अनवरत अनिष्ट कल्पनाओं कामनाओं के झंझावात से भरा रहता है। दुर्जन का तो दर्शन ही अमङ्गल कारक है। इसीलिये तो चाणक्य कहते हैं-

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।।

दुरात्मा दुष्टों के मन, वचन, तथा कर्म के भिन्न-भिन्न भाव रहते हैं, किन्तु सज्जन पुरुष मन, वचन, तथा कर्म से सदा एक ही भाव से स्थिर रहते हैं।

देवर्षिवर्य्य श्रीनारदजी ने ''नारद भक्ति सूत्र'' ग्रन्थ में ''दुस्सङ्गः सर्वथैव त्याज्यः'' कहकर दुर्जनों के सङ्ग का निषेध किया है । अतएव नीतिशास्त्र धर्मशास्त्र आदि सभी सद्ग्रन्थों एवं अनुभव से भी यह सुसिद्ध है कि दुर्जनों की प्रियवादिता सदा ही अहितकर है। उनसे सर्वकाल बचते ही

रहना चाहिये। उनके कृत्रिम मधुर वाक्जाल में आबद्ध होने पर क्लेश ही क्लेश है। अतः दूर से ही त्याग हितकर है।

श्रीभगवद्गीता के दिव्य श्लोकों के अनुष्ठान से अद्भुत लाभ

विश्व का कौन ऐसा व्यक्ति है जो श्रीमद्भगवद्गीता की अलौकिक दिव्य महिमा से अपरिचित हो। अखिलब्रह्माण्डाधिपति अनन्ताचिन्त्य-स्वाभाविक-दिव्यगुण-गणनिलय सर्वनियन्ता सर्वेश्वर आनन्दकन्द नन्दनन्दन व्रजचन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जिसका उपदेश करते हों, उस श्रीमुखकमल निर्झरित परम रसमय दिव्य वाणी की असीम महिमा का परिवर्णन मानव सामर्थ्य से सुलभ नहीं। गीता का उपदेश-क्रम भी इतना गम्भीर और अद्भुत है जिसमें आप्तकाम पूर्णकाम निष्काम तपःपूत मनस्वी तपस्वी भी निरन्तर अवगाहन करते हैं, परन्तु उसके गम्भीर थाह के परिज्ञान में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। कितना अपुनम आश्चर्यमय यह महान् ग्रन्थ है जिसके पठन मात्र से ही मानव इस भवाब्धि को पार कर श्रीप्रभु का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है ''गीता-गङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते'' ''गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः'' यह सुप्रसिद्ध ही है । जिस प्रकार गीता के पठन से मानव का कल्याण होता है, ऐसे ही इसमें श्लोकानुष्ठान के अनेक प्रयोग भी इतने विलक्षण हैं, जिसनके करने पर इहलौकिक एवं पारलौकिक कार्य भी सम्यक्तया सम्पन्न हो जाते हैं।

यद्यपि अनन्य भक्तों की दृष्टि से उनकी उपादेयता सीमित है। क्योंकि अनन्य भक्तों को श्रीहरि की अनन्य भक्ति अनन्य शरणागति ही अभिप्रेत है। वे अपने आराध्य के अतिरिक्त लौकिक कामनाओं से सदा ही बचते हैं। प्रतिक्षण प्रतिश्वास एवं प्रत्येक क्रिया में स्वकीय उपास्य का स्मरण, चिन्तन, ध्यान ही उनका सर्वोत्तम लक्ष्य है। एतावता वे ''सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'' ''तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत'' के अनुसार अपना सर्वात्म समर्पण श्रीसर्वेश्वर के अमल-पद-कमल-युगलों में करते हैं, सुतरां अनन्य शरणागति ही उनका सर्वोत्कृष्ट

—

ध्येय है। किन्तु सामान्यतया जगत् के अधिकांश अर्थार्थी भक्तों का आधिक्य है जो इहलौकिक वांछानुरूप ही उपासना करते हैं। उनके लिये भी गीता में विविध अनुष्ठान विधियाँ मिलती हैं, जिनके करने पर त्रिविध तापों का बड़ी सुगमता से परिशमन होजाता है। और इसी भाँति श्री, ओज, ऐश्वर्य आदि अभिवृद्धि होती है। उदाहरणार्थ--

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तनां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।

इस श्लोक के विशिष्ट अनुष्ठान से सर्वेश्वर श्रीगोविन्द आज भी प्रत्यक्ष कृपा करते हैं।

इसी प्रकार नाना बाधाओं से रक्षार्थ--

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ।।

इस श्लोक को भोज-पत्र पर अष्टगन्ध या केवल श्रीखण्ड चन्दन अथवा गोपीचन्दन से यन्त्रस्थ करके दाहिनी भुजा पर बाँध दिया जाय तो नाना रोग एवं प्रेतादि विविध बाधाओं से रक्षा होती है। यदि गाय, बैल, भैंस आदि इन पशुओं के भी गले में या सींग पर उपर्युक्त विधि से बाँध दें तो निश्चय ही उनके रोग दृष्टि-दोषादिक (नजर) कष्टों का निवारण होजाता है। इस प्रकार अनेक प्रयोग हैं जिनके भिन्न-भिन्न अनुष्ठान प्रकार से भिन्न-भिन्न लाभ होते हैं ।

श्रीभगवद्दर्शन की प्रबल उत्कण्ठा के लिये श्रीगोपालमन्त्रराज के साथ--

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।

इसके जपने पर श्रीप्रभु कृपा प्रसाद प्राप्त होता है। तीव्र उत्कण्ठा, असीमनिष्ठा एवं दृढ विश्वास की अपेक्षा तो सर्व-प्रथम है, इसके बिना कुछ भी सुलभ नहीं ।

यथार्थ में श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोक केवल श्लोक ही नहीं अपितु वे कल्पवृक्ष रूप मन्त्र समूह हैं, साक्षात् श्रीभगवद्वाणी रूप हैं। इस भगवद् वाङ्मय स्वरूप श्रीगीता के नित्य पाठ से अनन्त लाभ होता है। भगवज्जन प्रतिदिन श्रीगीता का श्रद्धापूर्वक पाठ करें तो उन्हें सभी कुछ प्राप्त है।

सच्चे सन्तों का संग सदा ही कल्याणकारी है

मानव को यदि सन्त पुरुषों का संग मिल जाय तो उनका जीवन उत्तम बन जाता है और वे अपने कल्याण करने में समर्थ होजाते हैं। वस्तुतः जीवन को परिष्कृत करने का सबसे सुलभ यही उपाय है। यद्यपि साधन तो और भी मिलते हैं, किन्तु सर्वोत्तम सर्वोपादेय साधन तो उत्तम सन्तों का सङ्ग ही है। श्रेष्ठ सन्त सभी के हित की मङ्गल-कामना करते हैं। सन्तों की समस्त क्रियायें जगत्कल्याण के निमित्त ही होती है, किसी के प्रति अहित की तो वहाँ गन्ध ही नहीं रहती, उसकी वहाँ कल्पना ही नहीं। प्राणीमात्र की मङ्गलकामना करना ही उनकी सबसे बड़ी तपश्चर्या होती है। वे स्वयं कष्ट उठाकर निखिल जीव जात को सुख प्रदान करने को तत्पर रहते हैं। देवर्षि प्रवर नारदजी से किसी जिज्ञासु ने प्रश्न किया-भगवन्! 'कस्तरति कस्तरति मायाम्' उन सर्वान्तिर्यामी भगवान् श्रीसर्वेश्वर की अघट-घटना-पटीयसी त्रिगुणात्मिका अविद्याकर्मात्मिका अचिन्त्य अनिर्वचनीय माया के भीषण झंजावात के प्रताड़न से कौन सुरक्षित रह सकता है ? इस पर देवर्षि ने उपदेश करते हुए बताया ''यः सङ्गांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते'' अर्थात् जो इतर अवांछनीय सङ्गों का त्याग कर देता है तथा उत्तम सन्त महानुभावों का दिव्य सङ्ग करता है वह ''स तरति स तरति स लोकांस्तार-यति'' स्वयं भी माया जंजाल से तरता है एवं अन्य जनों को भी तार देता है। इसलिए ''तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम्'' उसी महत्सङ्ग का सेवन करो।

इसी प्रकार अन्यत्र भी शास्त्रों का वचन है--

कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते सा कामधुक्कामितमेव दोग्धि।
चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते सतां हि सङ्गः सकलं प्रसूते।।

कल्पवृक्ष केवल इच्छित वस्तुएँ ही प्रदान करता है, कामधेनु केवल अभिलषित विविध भोग सामग्री ही देती है और चिन्तामणि भी चिन्तन किये गये अमित द्रव्य वैभव ही दिया करती है। परन्तु पुण्य श्लोक महापुरुषों का उत्तम सङ्ग सर्वस्व प्रदान कर देता है।

तत्त्वं चिन्तय सततं चित्ते परिहर चिन्तां नश्वरवित्ते।
क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका।।

मन में प्रतिक्षण परमतत्त्व का चिन्तन करो, क्षणिक धन के व्यर्थ चिन्तन का परित्याग कर दो, सत्पुरुषों की क्षणमात्र की श्रेष्ठ सङ्गति संसार सागर से तैरने का अनुपम नौका रूप साधन हो जाती है।

परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति नो सदुपदेशम् ।
यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि ।।

यदि सन्त-जन कदाचित् उपदेश न भी करें तथापि उनकी सेवा करनी ही चाहिये, क्योंकि उनके जो स्वाभाविक उपदेश होते हैं वे शास्त्ररूप ही होते हैं।

श्रीमद्भागवत का यह सुप्रसिद्ध वचन कितने महत्व का है--

तुलयामो लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।

भगवान् श्रीसर्वेश्वर में समासक्त सन्तों का यदि एक क्षण का भी सङ्ग होजाय तो उससे स्वर्ग तथा मोक्ष तक की भी तुलना नहीं की जा सकती। फिर इतर ईप्सित वस्तुओं की तो बात ही क्या। उपर्युक्त इन सभी उद्धरणों से सत्सङ्ग की अनिर्वचनीय महिमा स्पष्ट है। शास्त्रों में, भक्त गाथाओं में सन्तों की महिमा का अपूर्व वर्णन मिलता है।

श्रीभगवच्चिन्तनहीन जीवन धिक्-रूप है

श्रीभगवत्परायणता बड़ी दुरूहता से आती है। अगणित अन्तराय उपस्थित हो जाते हैं, कितनी ही प्रतिकूलतायें आ घेरती हैं, जगत् के नाना व्यवसाय अपनी ओर आकृष्ट करते हैं स्वार्थी स्वार्थान्ध हो साधक को साधनाच्युत करने में संलग्न रहते हैं। मोहासक्त मानव अपने मोहजाल में सत्पथ परायण प्राणी को आबद्ध करने की प्रतिक्षण प्रबल चेष्टा करता है। किन्तु इन सभी विपरीतताओं के होने पर भी श्रीभगवत्पदप्रपन्न आराधक विचलित नहीं होता। ध्रुव, प्रह्लाद, भीष्म, अर्जुन, सूर, तुलसी, मीरां प्रभृति के समक्ष न जाने कितनी ही प्रतिकूलतायें आयीं परन्तु वे तनिक भी पथ विचलित नहीं हुए । भगवदलम्ब उनके जीवन का मूलाधार था। श्रीभगवच्चरणाश्रित प्राणी कभी भी बाधाग्रस्त नहीं होता, प्रत्युत वह अपने सुखद सौरभ से सभी को उल्लसित कर देता है।

किन्तु जिन हतभाग्य जनों का जीवन श्रीभगवच्चिन्तनहीन है वे सर्वत्र नाना आपदाओं से आक्रान्त कष्टमय जीवन का यापन करते हैं और नित्यशः अनादृत रहते हैं। तथा उसकी अन्तिम परिणति सतत दारुण क्लेश ही क्लेश है। वस्तुतः ऐसे मानव धिक् रूप ही हैं, शास्त्रों के इन वचनों से स्पष्ट ही है--

धिक्कुलं धिक्कुटुम्बं च धिग्गृहं धिक् सुतं च धिक्
।
आत्मानं धिक् शरीरं च श्रीगोपालपराङ्मुखम् ।।

भुवनमोहन व्रजविहारी श्रीगोपाल प्रभु से जो विमुख है, उसके कुल, कुटुम्ब, गृह, पुत्र शरीर और उसको आत्मा सभी को धिक्कार है। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीविलासाचार्यजी महाराज का भी-

प्राप्य जन्म यदि मानुषं नरः सेवते न तव पादपङ्कजम् ।
धिक् च जन्म कुलमादि देव तद्यौवनादि सकलं न शोभते ।।

हे प्रभो ! यह प्राणी मानव शरीर प्राप्त करके यदि आपके युगल चरण-कमलों का सेवन नहीं करता है, तो इसके जन्म कुल आदि सभी को धिक्कार है। उसके यौवन आदि कोई भी सुशोभित नहीं होते हैं।

यह महनीय उपदेश हैं। अतएव प्रतिक्षण अपने इस उत्तम जीवन को श्रीभगवत्परक करना ही मानव जीवन की वास्तविक चरितार्थता है। जीवन को निरर्थक करना अमानवता है, असुरता है, पशुता है। काल की समुचित गति को हृदयङ्गम करते हुए सत्पथारूढ रहकर जीवन को श्रेष्ठ बनाना श्रीभगवत्परक करना यही सर्वाधिक यथार्थ कार्य है। इसका अभाव ही हीनता है, मलिनता है, बाधा है और समग्र दृष्टया यह कण्टकाकीर्ण सरणि है। इसीसे शास्त्रों ने श्रीभगवच्चिन्तनहीन जीवन धिक् रूप कहा है।

विवेकीजन को धर्म का संग्रह निरन्तर करना चाहिये

भगवान् श्रीसर्वेश्वर की इस अचिन्त्य विचित्र रचना वाली सृष्टि में जीव अनेक योनियों में भटक रहे हैं, उन सब योनियों के यदि संक्षेप में विभाग किये जायँ तो दो विभागों में बांट सकते हैं, एक भोग योनि और दूसरी कर्म योनि। पहली सभी योनियाँ भोगयोनियों के अन्तर्गत हैं, जिनमें पशु-पक्षी, कीट-पतंग सभी समाविष्ट हैं।

दूसरी कर्म-योनियों में केवल मनुष्य योनि की ही गणना की जाती है। यह योनि ज्ञानेन्द्रियों से और कर्मेन्द्रियों से सम्पन्न है, अतएव इसमें ज्ञान का विकास अधिक होता है। विचार शक्ति और क्रिया शक्ति की क्षमता उच्चकोटि तक जा पहुँचती है। इसी मनुष्य शरीर में जीव को लोक-परलोक सम्बन्धी तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान होता है, तत्सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन और उस पर विचार विमर्श भी इसी शरीर में हो सकता है। उनकी प्राप्ति भी इसी शरीर में सुलभ हैं। यदि ऐसे अनुपम शरीर को प्राप्त करके भी इसके योग्य कार्य न किया जाय तो फिर इससे बढ कर हानि ही क्या है?

इसीलिए वेद-पुराण, स्मृति-सूत्र सभी चेतावनी दे रहे हैं। नर-नारियों को निरन्तर जागृत कर रहे हैं--

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ।।

वस्तुतः जिस पांचभौतिक शरीर को भौतिक प्रसाधनों से दिन-रात सुसज्जित करते हैं ये अनित्य हैं, सदा नहीं रहेंगे । प्रतिक्षण क्षीण होते जा रहे हैं। शरीर भी क्षणभङ्गुर है। किन्तु यह ज्ञात नहीं होता है। अथक परिश्रम से जिस धन, जनादि वैभव को जुटाने में लगे रहते हैं। जिसके लिए उचित-अनुचित का भी विचार नहीं करते। वह वैभव सदा नहीं रहेगा। एक क्षण में कुछ से कुछ हो जाता है, यह प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। मृत्यु सदा-सर्वदा सन्निकट रहती है, जब चाहे तभी आ सकती है। इसलिये मानव शरीर से ऐसा संग्रह करना चाहिये जिसमें स्थायित्व हो। यदि संग्रह करने की प्रवृत्ति ही है तो जिस प्रकार इन क्षुद्र वैभवों को जुटाने में व्यस्त रहते हैं वैसे ही

सर्वात्मना धर्म-संग्रह में प्रवृत्त होना चाहिये।

यद्यपि धर्म का रहस्य गहन है तथापि उसका संक्षिप्त सार श्रवण कर उसे अपने हृदय-पटल पर अंकित करना चाहिये।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्य्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।

भगवान् के पावन चरित्रों को श्रवण पूर्वक उनको हृदय में धारण करना चाहिये, जिन-जिन आचरणों से अपने हृदय में व्यथा पहुँचती हो, दुःख होता हो, जिस व्यवहार से अपना चित्त दुःखी होता हो वैसे आचरण और वैसा व्यवहार दूसरों के साथ नहीं करना चाहिये।

श्रेय प्राप्ति में विषयों का त्याग नितान्त आवश्यक है

मानव की तभी वास्तविक मानवता है जब वह श्रेय पथ की ओर अग्रसर होकर भगवत्सान्निध्य प्राप्त करले। केवल यों ही पशु-तुल्य जीवन यापन करना मानवता नहीं है। जीवन निर्वाह मात्र तो अखिल प्राणि भी अपने कर्मानुसार करते ही हैं। किन्तु भक्तवांछाकल्पतरु कृपामय श्रीप्रभु ने अनुग्रह कर श्रेय-प्राप्ति के लिए मानव शरीर प्रदान किया है, जिस शरीर में कर्तव्याकर्तव्य विवेकाविवेक, उचितानुचित, धर्माधर्म, सत्यासत्य, सदसत्, पथविपथ आदि का सम्यक् परिबोध होता है। यह सब होते हुए भी यदि मानव सत्पथ का परित्याग कर विषयोन्मुख हो जाता है, तो फिर क्लेश के अतिरिक्त कुछ भी उपलब्धि नहीं। ऋषीवर अष्टावक्र के ये वचन कितने यथार्थ हैं--

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यजेः ।
क्षमार्जवदयाशौचं सत्यं पीयूषवत् पिबेः ।।

''यदि तुम्हें मुक्ति की अभिवांछा है तो इन सांसारिक विनाशकारी विषयों को विष के सदृश त्याग कर क्षमा, सरलता, दया, पवित्रता तथा सत्य का अमृतवत् सेवन करो ।''

शास्त्र तो यहाँ तक उद्‌घोष करते हैं--

अधीत्य चतुरो वेदान् व्याकृत्याष्टादशस्मृतीः ।
अहो श्रमस्य वैफल्यमात्मापि कलितो न चेत् ।।

सम्यक् प्रकार से वेदों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करने पर अष्टादश (अठारह) स्मृतियों की विधिवत् व्याख्या करने पर भी यदि आत्मज्ञान न हो तो परिश्रम निष्फल है।

शास्त्रों के सारभूत इन उपदेशों से यह स्पष्टतया परिलक्षित ही है कि विषयों के त्याग करने पर ही मानव उच्चता को प्राप्त कर सकता है। निश्चय ही बिना विषय राहित्य के कथमपि वह श्रेय-प्राप्ति नहीं कर सकता। जागतिक क्षणिक सुखाभासरूप विषय पतनोन्मुख करने वाले हैं। उत्तम पुरुष इनसे सदा दूर रहकर शास्त्र नियमों का, शास्त्र प्रतिपादित सदाचारों का, शास्त्र परायण महापुरुषों का सङ्ग कर सत्साधन में प्रवृत्त हो उत्तम मार्ग का अनुगमन करते हैं। वस्तुतः ऐसे श्रेष्ठ पुरुष पुण्यश्लोक बन जाते हैं और संसारासक्त विषयरत मानवों को विषय त्याग के महत्व को स्वयं आचरित कर निर्दिष्ट करते हैं। विवेकी साधकजनों का यह परम कर्तव्य है कि वे प्रतिक्षण श्रीसर्वेश्वर पद कमल स्मृति अपने अन्तःकरण में रखते हुए श्रेय साधन में प्रवृत्त रहें, और विषयों को अपने निकट न आने दें। इसी में परम हित है। आचार्यप्रवर श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज ने इसी का स्पष्टीकरण करते हुए बहुत ही सुन्दरतम उपदेश किया हैः--

मानुष तन बिनु पुण्य न पैवौ ।
राधामाधव भजि तजि आसा, हरि विमुखन के संग न जैवो ।।
साधु संग में कृष्न कथा रस, पी-पी श्रवनन काल बितैबो ।
गौरस्याम सोभा के वारिधि, निरखि नैंन मीनन सुख दैवो ।।
समझि बिचारि देखि मन अपनै, तजि अमृत विष विषया खैवो ।
गोविन्दसरन इहि मुख मन राखहु, क्यौं भावै जम द्वारै जैवौ ।।

अनासक्त व निर्लिप्त होकर कर्म करना ही कर्मयोग है

फलासक्ति रहित और निर्लिप्त कर्म करने का नाम ही ''कर्मयोग'' है। पर अनासक्त और निर्लिप्त हम होंगे कैसे? हमारे अन्तःकरण में जो वासना-सर्पिणी छिपी हुई है, वह कर्मों का रस पीती रहती है। उपदेश देने के लिये तो हम कह देते हैं कि ''वासना का हनन करो'' प्रवृत्ति का निरोध करो, अनासक्त और निर्लिप्त होकर कर्म करो'', पर इन उपदेशों से कर्मयोग की समस्या का समाधान नहीं होता। वासना के विराट् अन्धकार में विवेक का क्षीणज्योति रूप दीपक प्रकाश तो देता है पर बिना भगवत्कृपा के वह प्रकाश चिरस्थायी नहीं होता। कर्मेन्द्रियों को निराहार रखने से वासना नहीं मिटती। प्रवृत्तिको बलात् रोकने से वह वैध मार्ग छोड़ कर अवैध मार्ग ग्रहण करेगी। वासना असंख्य जन्मों के प्रारब्ध कर्मों का परिणाम है। उसको हम केवल उपदेशों और वाक्यज्ञान से नष्ट नहीं कर सकते । प्रवृत्ति प्रकृति का सूक्ष्म रूप है, उसको विफल करने की चेष्टा प्रकृति के साथ एक भीषण संग्राम है। यह सत्य है कि अनासक्त होकर कर्म करने से कर्म आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकता, पर अनासक्त होना ही तो जीवन जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। यदि बिल्ली के गले में घण्टी बाँध दी जाय तो चूहे सुरक्षित हो जाँय, पर बिल्ली के गले में घण्टी बँधे कैसे? यहीं पर भक्ति योग आकर कर्मयोग की सहायता करता है। अकेला कर्मयोग जिस समस्या का समाधान नहीं कर सका था, भक्ति आकर उसे अवरुद्ध कर देती है। भक्ति कहती है कि 'जीवन के सारे कर्मों को करो, पर उन्हें भगवन्निमित्त करो, भगवत्कैंकर्य समझ कर करो, हमें भोग-वासना से प्रेरित होकर कर्म नहीं करना चाहिये, पर कर्तव्य की प्रेरणा से भगवत्कैंकर्य समझ कर कर्म करना चाहिये। सारे कर्मों को यदि हम भगवान् को समर्पित कर दें तो फिर आत्मा को बांधने के लिए हमारे पास कर्म बच ही कहाँ जाता है। जब तक हमारे अन्तःकरण में भगवान् का साक्षात्कार नहीं हो जाता, जब जक हमारे मनो-मन्दिरों में प्रेम सिंहासन पर श्रीसर्वेश्वर प्रभु नहीं आ विराजते, तब तक अनेक चेष्टायें करने पर भी मोह-पाश नहीं टूटता ।

माधव मोह फाँस क्यों टूटै ।
वाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रन्थि न छूटै ।।
घृत पूरन कराह अन्तर्गत, ससि प्रतिबिंब लखावै ।
ईंधन अनल लगाय कलप सत, औंठत नास न पावै।।

इन्द्रियों को बलपूर्वक विषयों से रोकने पर आसक्ति नहीं मिटती, आसक्ति तो तब मिटती है, जब प्रभु का साक्षात्कार हो जाता है--

भगवान् के ध्यान से, चिन्तन से, स्मरण से हृदय के सारे विकार अपने-आप नष्ट हो जाते हैं ।

भगवान् के चिन्मय, ज्ञानमय, आनन्दमय रूप का प्रकाश हृदय में आते ही अन्तकरण का अन्धकार आप से आप विलीन हो जाता है।

मतता तरुन तमी अँधियारी । राग द्वेष उलूक सुखकारी ।।
तब लगि बसति जीव मन माहीं । जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं ।।

तथा श्रीमद्भगवद्गीता में भी--

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।

(गीता २/५६ ।

तिमिरमयी रजनी में मानव एक पिच्छल पथ पर रुक-रुक कर जा रहा है। दोनों ओर खाइयां हैं और अन्धकार में पैर फिसलने का भय है। कामिनी और कांचन में प्रवृत्त हुआ मानव अन्तर्द्वन्द्व से जर्जर है, पीड़ित है, व्यथित है। वासना उसे पीछे की ओर घसीटती है। ऐसी परिस्थिति में भक्ति का उज्जवल आलोक उसका पथ-प्रदर्शन कर रहा है। भक्ति भूली-भटकी मानवता को असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाती है। अतः विषयों से विरक्ति पूर्वक श्रीहरिभक्ति का ही भगवज्जनों को आश्रय लेना चाहिए । इसी से जीवन रसमय आनन्दमय बनेगा, और सर्वद्रष्टा करुणार्णव श्रीसर्वेश्वर अपने भक्तिनिष्ठ भक्त पर कृपा कर देंगे।

अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्

मानव के श्रेय साधन लिये शास्त्रों में अनेक प्रकार के उपाय बतलायें गये हैं, जिनके द्वारा नर-नारी अपना कल्याण कर सकें। किन्तु साधारण व्यक्ति कभी-कभी भ्रम में पड़ जाता है, इसलिए बुद्धिमान् को चाहिये कि उन सभी शास्त्रों में से सार-वस्तु ग्रहण कर ले। श्रीमद्भागवत के ४ वें स्कन्ध के १८ वें अध्याय में कहा भी है--

सर्वतः सारमादत्ते यथा मधुकरो बुधः ।
अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।।
दृष्ट्वा योगा प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयः प्रसिद्धये ।
तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान् ।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा ।।
ताननादृत्य यो विद्वानर्थानारभते स्वयम् ।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः ।।

तत्त्वदर्शी मुनिजनों द्वारा निश्चित कुछ योग इस लोक और परलोक दोनों में सहयोग पहुँचाते हैं। उन योगों का श्रद्धा-पूर्वक उपयोग करने पर साधारण व्यक्ति भी प्राप्त करने योग्य वस्तुओं की प्राप्ति कर सकता है। यदि कोई उन योगों का उपयोग नहीं करता है, तो वह चाहे कैसा भी विद्वान् क्यों न हो, उनके वास्तविक लाभ से वंचित ही रहता है। वह बारम्बार कार्यों का आरम्भ करता है, किन्तु उसके सभी कार्य निष्फल हो जाते हैं। इसलिए पूर्वाचार्यों के द्वारा निर्धारित किये हुए मार्गों का ही उपयोग करना चाहिए ।

उन्हीं योगों में एक योग है-आत्म-निक्षेप-योग जो भगवत्प्रपत्ति का एक प्रमुख अङ्ग है। इसका तात्पर्य है- आत्मा-आत्मीय सब कुछ प्रभु के अर्पण कर देना । सब कुछ प्रभु के अर्पण कर देने पर उस व्यक्ति के सभी कार्य-भार प्रभु अपने ऊपर ले लेते हैं, जैसी कि उनकी प्रतिज्ञा है--

तेषां नित्याऽभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।

अर्थात् जिन्होंने सब कुछ मेरे अर्पण कर दिया और निरन्तर मुझ में ही लगे रहते हैं, उनके योग-क्षेम का उत्तरदायित्व भी मुझ पर ही आ जाता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग कहते हैं और प्राप्त वस्तु की रक्षा

को क्षेम कहते हैं।

सारांश यह है कि भक्तों को जिस वस्तु की आवश्यकता होती है उसकी प्राप्ति भी भगवान् ही करते हैं और जिस वस्तु की रक्षा नहीं कर पाता उसकी रक्षा भी प्रभु ही कर देते हैं। इतना ही नहीं, कदाचित् किसी आधि-व्याधि व अन्य वातादि दोषों के कारण से प्रपन्न भक्त भगवान् का स्मरण न भी कर पावे, तो भगवान् स्वयं उसका ध्यान रखकर उसे याद करते रहते हैं और स्मृति भी कराते रहते हैं, साथ ही वे उसे परमगति प्रदान कर देते हैं--

यदि वातादिदोषेण मद्भक्तो मां च न स्मरेत् ।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ।।

अनुग्रहविग्रहस्वरूप श्रीसर्वेश्वर की अहैतुकी कृपा का यह अनुपम उदाहरण विलक्षण है।

भगवच्छरणागति ही भगवत्प्राप्ति का मुख्य साधन है

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।ः।

(गीता १८/६६)

शरणागति में अनन्य भाव और अकिंचन भाव होना आवश्यक है। शरणागति में यदि अहंभाव रहता है तो वह शरणागति भक्ति में सहायक नहीं होती। दुर्वासा ऋषि अम्बरीष के प्रति दुर्व्यवहार करके विपन्न होकर भगवान् के शरणापन्न हुये थे। परन्तु भगवान् ने कहा कि 'आप मेरे भक्त के शरण जाइये। मैं भक्त के अधीन हूँ, आपको भक्त के विरुद्ध शरण देने में असमर्थ हूँ।' दुर्वासा ऋषि अम्बरीष के पास जाकर शरणापन्न हुए, तब कहीं सुदर्शन-चक्र से उन्हें त्राण मिला। अतएव शरणागत होने में अभिमान् का त्याग करना आवश्यक है। जो शरीर, मन, और प्राण-अपना सब कुछ भगवान् को अर्पण कर सकता है, वही शरणागत भक्त है।

जिस वस्तु को हम किसी को स्वेच्छापूर्वक दे देते हैं, उस वस्तु पर जैसे अपना कोई ममत्व नहीं रहता, उस वस्तु के नाश होने पर हम दुखी नहीं होते, इसी प्रकार जो भक्त अपना शरीर वाणी, मन और अहंकार कुछ भगवान् को अर्पण करके शरणागत हो गया है, उसके लिए भगवत्सेवा के

अतिरिक्त और क्या शेष रह जायगा ? आत्मसमर्पण के बाद भी यदि हम शरीर और मन को किसी अपवित्र कार्य में लगाते हैं तो हम दत्तापहारी (देकर वापस छीन लेने वाले) होते हैं। शरीर और मन तो हमारे रहे ही नहीं, जो हम उन पर ममता करें। जिसकी वस्तु हैं वह चाहे उसकी रक्षा करे या उसको नष्ट कर दे, इसमें हम कौन बोलने वाले होते हैं। किसी वासना द्वारा प्रेरित होकर हम उस समर्पित शरीर और मन को भोग्य पदार्थों में नहीं लगा सकते। भगवान् के आज्ञानुसार उनको सत्कर्म या भगवान् की सेवा में ही लगा सकते हैं। भगवान् का उपदेश है-सब धर्मों का त्याग करके मेरे शरणापन्न हो जाओ।' अतः यदि सब धर्मों का त्याग करके हम भगवान् के शरण नहीं हो जाते तो हम शरणागत होकर यथेच्छाचारी ही होंगे और इससे अनर्थ की प्राप्ति होगी। शरणागत के लिए समय और शक्ति का अपव्यय सर्वथा वर्जनीय है। शरणागत भक्त एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोता ।

भक्ति का ही एक सुगम उपाय शरणागति है। भगवान् से मिलने के लिए प्रबल व्यग्रता को शरणागति कहते हैं। भक्त सोचता है कि भगवान् मेरे हैं, अतएव भगवान् की सेवा का भार मेरे ऊपर आधारित है। मेरे बिना दूसरा कोई सेवा नहीं कर सकेगा। शरणागत समझता है कि मैं भगवान् का हूँ, अतएव मेरी और मेरी भक्ति का भार भगवान् के ऊपर है। भक्त की उपमा बन्दर के बच्चे से तथा शरणागत की उपमा बिल्ली के बच्चे से दी जाती है। बन्दर का बच्चा स्वयं मां को पकड़े हुए रहता है, उसके लिये मां को कोई चिन्ता नहीं होती। वह केवल एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर कूदती रहती है। बिल्ली का बच्चा अपने स्थान पर बैठ कर बोलता रहता है, उसमें एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की शक्ति नहीं होती, जब आवश्यकता होती है, तब बिल्ली उसे दांतों से पकड़ कर दूसरे स्थान पर ले जाती है। उसी प्रकार शरणागत की भक्ति के निर्वाह का भार भगवान् के ऊपर होता है।

श्रीयुगल शरणागति ही जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए

मानव का जीवन अगणित प्रत्यवायों से परिपूरित है, और वह सर्वदा अशान्त, दुःखी एवं अस्त-व्यस्त है। जब तक वह यथार्थ लक्ष्य की ओर प्रवृत्त न हो, शास्त्र समुचित सरणि का अवलम्ब न ले, आप्तोदिष्ट वचनानुकूल तदग्रसर न हो, अध्यात्मविद्या-विद्योतितान्तःकरण न बने, वह त्रिकाल में भी दिव्यानन्द रसकण की उपलब्धि नहीं कर सकता। ''नान्या गतिः कृष्ण पदारविन्दात्'' इस उपदेश से आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् ने श्रीप्रभु शरणागति को ही मूल बताया है। श्रीशङ्कराचार्यजी ने भी अपने (प्रबोध सुधाकर) ग्रन्थ में--

कन्दर्पकोटिसुभगं वाञ्छितफलदं दयार्णवं कृष्णम्।
त्यक्त्वा कमन्यविषयं नेत्रयुगं द्रष्टुमुत्सहते ।।

जो कोटि-कोटि कामदेव से भी अतिशय सुन्दर हैं, इच्छित फल के प्रदाता परम दयार्णव भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त किस विषय प्राप्ति की इच्छा के लिए आतुर है।

पुण्यतमामतिसुरसां मनोऽभिरामां हरेः कथां त्यक्त्वा।
श्रोतुं श्रवणद्वन्द्वं ग्राम्यं कथमादरं वहति ।।

परम पावन परम कमनीय तथा परम सरस श्रीहरि कथा को छोड़ ये दोनों कर्ण (कान) जगदासक्त जनों की चर्चा श्रवण में क्यों श्रद्धवान् होते हैं।

दौर्भाग्यमिन्द्रियाणां कृष्णे विषये हि शाश्वतिके ।
क्षणिकेषु पापकरणेष्वपि सज्जन्ते यदन्यविषयेषु ।।

सर्वदा शाश्वत् श्रीकृष्णरूपी विषय के विद्यमान रहते भी पाप परक क्षणिक विषयों में ये इन्द्रियाँ जो प्रवृत्त होती हैं यह इनका अत्यन्त दुर्भाग्य ही है।

और भी ''तस्मान्मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना'' यह आद्य श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज का उपदेश भी तत्परक ही है।

इन उपर्युक्त वचनों से भी सुस्पष्ट ही है कि ''नान्यः पन्था विद्यतेऽय-

नाय'' अर्थात् बिना उन श्रीराधासर्वेश्वर के अवलम्ब लिए और कोई भी आश्रय नहीं है।

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज ने श्रीराधामाधव प्रभु की शरणागति पर कितना सुन्दरतम भाव व्यक्त किया है--

हम तो सरन हैं राधावर की।
और आस तजि एक आस उर, सीख सुनी श्री गुरु की ।।
मन संका न आन काहू की, पकरी टेक सुघर की ।
हरि जस नाम सुनत सुख उपजत, सेवा अच्युत घर की ।।
गावत गुन प्रसाद पावत पति, चाह न भूत पित्तर की ।
माला तिलक देख हरि बानौं, आह न जम किंकर की ।।
उपज्यौ मन विस्वास कियो जब, छाप लिखी निजकर की ।
बहे जात सब भव प्रवाह में, गनति न नारी नर की ।।
गोबिंदसरन निरभै भै नैंक न, मिटी डलनि दर दर की ।
सेवत वृन्दाविपुन-पुरंदर, मति औरन सौं तरकी ।।

वस्तुतः श्री भगवत् शरणागति ही एक ऐसा दृढतम आश्रय है जिसे मानव पाकर चिरन्तन दिव्यतम आनन्द की प्राप्ति करता है। समग्र शास्त्र भी इसी का उद्बोधन करते हैं और समग्र सन्त-वाणियाँ भी इसी ओर इङ्गित करती हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डाधिपति सर्वनियन्ता सर्वेश्वर श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण ने भी श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीमुख कमल वचन से--

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।।

''तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत''

इन दिव्य वचनों से निज प्रपन्नता का ही उपदेश किया है। अतः भावुक धार्मिक जन अपने जीवन का सर्वस्व आधार श्रीभगवत् शरणागति के समाश्रित हों। तथा च अपने जीवन का चरम लक्ष्य इसे ही समझें, इसी में परम कल्याण सन्निहित है।

भाव शुद्ध रहने पर ही इष्ट-कृपा साध्य है

जीवन में किसी भी सत्कार्य सम्पादन में भाव की पवित्रता नितान्त आवश्यक है। यदि उसमें भाव-पवित्रता नहीं है, शुद्धता नहीं है सत्यता नहीं है, वास्तविकता नहीं है तो केवल बाह्योपचारों से इष्ट-कृपा सम्भव नहीं। वे सर्वनियन्ता श्रीसर्वेश्वर एकमात्र अपने प्रपन्न साधक भक्त के विमल भाव को ही निहारते हैं। उस भक्त की निर्मल भाव परम्परा पर ही परम प्रमुदित होकर अपनी रसवर्षिणी कृपावारिधारा से उस भक्त को परितृप्त कर उसे पूर्ण कृतार्थ करते हैं और यही तो उनका सहज अनुग्रह है, यही उनका दृढ संकल्प अपरिहार्य नियम एवं अटल सिद्धान्त है और यही उनकी करुणावरुणालयता है। वस्तुतः भाव ही सर्वोपरि है। आचार्यवर्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने ''श्रीपरशुराम सागर'' ग्रन्थ में 'भगति न उपजे भाव बिन' यह मार्मिक उपदेश किया है। इसी प्रकार आचार्यश्री ने इन निम्नांङ्कित वचनों से भी भाव को ही परमोत्तम बताया है--

''भाव भगति अंतर गति हित सौं सहज सुन्य मन मान्यो''

''माया भगत न होइये भगत यही जो भाव ।
भाव-भगति-विश्वास बिन 'परसा' सो बहि जाय।।''

''माया ब्रह्म अपार की जन की जीवनि भाव ।
भाव बिना जो दास है 'परसा' सो बहि जाय।।''

इसी प्रकार श्रीमद् गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज ने भी 'श्रीरामचरित मानस' में--

भाव सहित खोजइ जो प्रानी।
पाव भगति मनि सब सुख खानि।।
सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त विचारि ।।

इन परम भावमय दिव्यतम वचनों से भाव की गरिमा का कितना गरिष्ठतम प्रतिपादन किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं श्रीमुख से 'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते' उपदेश किया है, और साथ ही साथ

यह भी संकेत किया है कि--

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता अ. ८ श्लोक ६)

अर्थात् यह जीवात्मा जिस भाव से युक्त होकर शरीर त्याग करता है वह उसी भाव से भावित होकर उसी की उपलब्धि करता है।

सभी शास्त्र इसीलिये उपदेश करते हैं कि भाव शुद्ध हो, श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने तो इसे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है--

''भाव भगति वेसास हीण नर भ्रमि भ्रमि जनम गंवावै''

अतएव अपने आराध्य में शुद्ध सात्विक भाव को रखने पर ही उनकी अनिर्वचनीय अनन्त कृपा का सत्पात्र बनता है। श्रीमद्भागवत में विप्र पत्नियों द्वारा अपने उपास्य सर्वेश्वर श्रीश्यामसुन्दर में किये गये दिव्य भाव का परिवर्णन कितना मधुरतम किया है--

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ ।
दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान् ।।

(श्रीमद्भा. स्क. १० अ. २३ श्लो. ४१)

वेदज्ञ विप्रों ने कहा-कैसा विस्मय है जरा देखो इन स्त्रियों की जगद्गुरु सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण में कितना महान् अत्यन्त अगाध भाव है, कितना अविरल प्रेम है, इसी के द्वारा इन्होंने गार्हस्थ्य वन्धन की भयावह फाँसी काट फेंकी ।

इन विविध आप्त वचनों से स्पष्ट ही है कि सभी साधनों में उत्कृष्टतम साधन भाव ही सर्वाग्रगण्य है। यदि निर्मल हृदय में शुद्ध-भाव की अभिव्यक्ति हो गई तो सर्वशरण्य सर्वाधार भगवान् सर्वेश्वर श्रीराधमाधव की अनिर्वचनीय कृपा में फिर विलम्ब कहाँ। अतः श्रीभगवच्चरणकमलमकरन्द-रसपिपासुजन प्रतिक्षण अपने स्वच्छ मानस में उसी दिव्य भाव के आविर्भाव की आकांक्षा करें, इसमें जो असीम आनन्द है, असीम रस है, असीम शान्ति है, असीम प्रभा है वह निश्चय ही अति विलक्षण, अतिशय श्रेष्ठ एवं परम महिमापूर्ण है।

वैदिक संस्कृति पालन पर ही हिन्दुत्व की रक्षा संभव है

भारतवर्ष परम पुण्य विशालतम राष्ट्र है। इसकी पवित्र धरा पर जगन्नियन्ता सर्वान्तरात्मा श्रीसर्वेश्वर राम-कृष्ण-नृसिंह-वामन-परशुराम प्रभृति अवतारों के रूप में अवतीर्ण हो वैदिक संस्कृति का संस्थापन धर्म का अभिवर्द्धन लोकाचार लोकमर्यादा शास्त्रसिद्धान्त का प्रतिष्ठापन करते हैं। भारतवर्ष की समग्र दृष्टि से दिव्यतम गरिमा एवं अमित महिमा है। सदा से भारत के पवित्र अंक में सनातन वैदिक धर्म की सरस, सुखद, शीतल छाया में हिन्दुत्व का सम्पोषण रहा है।

हिन्दू संस्कृति शास्त्र सिद्धान्त पर आधारित है, शास्त्र की अवज्ञा न केवल हिन्दू-संस्कृति की अवज्ञा है। अपितु विश्वनियन्ता विश्वम्भर सर्वेश्वर श्रीहरि की अवज्ञा है और ऐसा करने से राष्ट्र की सर्वाधिक क्षति निश्चित है। इसलिए मूलतः शास्त्र प्रतिपादित शास्त्र निर्धारित, शास्त्र मर्यादित पवित्र सरणि पर चलने पर ही हिन्दुत्व का संरक्षण संभाव्य है। ''आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'' जो अपने सदाचार से, अपने धर्म से, अपनी संस्कृति से अपने स्वरूप से, अपने आदर्श से, उत्तम गुणों से हीन है उन्हें वेदादि शास्त्र भी पवित्र नहीं करते हैं। सुतरां शास्त्रोपदेश नितरां अनुपालनीय है। तभी हिन्दू संस्कृति का अभ्युत्थान, हिन्दू संस्कृति का अभिवर्द्धन, हिन्दू संस्कृति का वैभव, हिन्दू संस्कृति का सुघटित संघटन, हिन्दू संस्कृति का समवेत विकास सम्भव है। कतिपय शास्त्रानज्ञिजन स्वकीय स्वेच्छाचारितानुसार जो नवीनाचरण की परिकल्पना करते हैं, साम्प्रतिक किंवा भावी अभ्युत्थान की आकांक्षा करते हैं यह उनकी नितान्त अज्ञता हैं, इससे इहलोक-परलोक-कहीं भी कल्याण की संभावना नहीं। ईश्वर-भक्ति, आध्यात्मिक जीवन, सदाचारानुष्ठान, पवित्र-विचार, पवित्र-शास्त्रज्ञान, पवित्र सत्सङ्ग सेवन, पवित्र-शिक्षा दान, पवित्र-चरित्र एवं सत्य-अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अक्रोध आदि का जीवन में संगम परम अपेक्षित है। इसी एकमात्र सर्वोत्कृष्ट आदर्शपूर्ण अवलम्ब से हिन्दू संस्कृति का यथार्थ-स्वरूप प्रतिष्ठित है। वस्तुतः यह संस्कृति सम्पूर्ण विश्व को आलोकित एवं दिव्य शिक्षा प्रदान करती है--

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।

इस सर्वोच्च महनीय सनातन आदर्श का प्रतिष्ठापन कर अपने सनातन स्वरूप को, सनातन संस्कार को, सनातन उच्च भावना को, पुनः चारुतया प्राप्त करने में सर्वदा सन्नद्ध रहना परम कर्तव्य होना चाहिये तभी हिन्दुत्व की रक्षा सम्भव है।

सनातनधर्म की शीतल छाया में ही संघटन सम्भव है

पता नहीं आज का अशान्त मानव क्यों सत्य को त्याग कर इतस्ततः भ्रान्त-मार्गों का अनुसरण कर रहा है। दिव्य शास्त्रों को आप्त-वचनों को अनुभवशील धीर पुरुषों के सदुपदेशों को स्वस्थ चित्त से श्रवण न कर मनमानी असम्बद्ध वादों का आश्रय लेकर उनमें संघटन की असंभाव्य परिकल्पना करता है और परिणाम में जब उसे यथार्थता का परिज्ञान होता है तब स्वकीय आचरित कर्मों का अनुसन्धान करता है फिर उन्हें स्मरण कर पश्चात्ताप करता क्लेशाकुल होकर संताप का अनुभव करता है।

वस्तुतः समग्रतया शास्त्रों का परिशीलन करने पर स्वतः स्वयं की आत्मा ही स्वच्छ-मार्ग का दर्शन करा देगी, सम्यक् बोध करा देगी, किससे हमारे जीवन में समाज में राष्ट्र में संघटन की उच्चतम अवस्था उत्पन्न हो। श्रीमनु का यह परम दिव्य वचन हमें कितना सुन्दर संकेत करता है--

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ।।

वेदतत्त्वज्ञ कोई द्विज श्रेष्ठ जो समाधान, निर्णय कर दे उसे ही परम धर्म समझना चाहिये । किन्तु दश-हजार मूर्ख जो समाधान, निर्णय उपस्थित करें वह धर्म नहीं है।

यथार्थ में सनातन वैदिक धर्म का अवलम्ब न केवल मानव मात्र का अपितु पशु-पक्षी जड़-चेतन सभी का कल्याण एवं सुसंघटन करता है। जिन पशुओं मं, जिन पक्षियों में, जिन कीट-पतङ्गों में भी यदि कहीं

सामान्यतया भ्रमवशात् भी धर्म का आचरण हो जाता है तो उनका एकमात्र संघटन ही नहीं परञ्च परम-श्रेय प्राप्ति की सत्पात्रता प्राप्त हो जाती है। यह केवल कथनमात्र ही नहीं शास्त्रों में और प्रत्यक्ष में भी इसके अगणित उदाहरण हैं।

यद्यपि मानव कुछ सुबुद्ध प्रबुद्ध भी हो जाता है, शास्त्रों का भी अनुशीलन करता है तथापि नाना स्वार्थलिप्साओं के कारण फिर भ्रान्त की भांति इधर-उधर भटकता है और यथार्थ, सत्य पथ को छोड़कर नये पथ की कल्पना करता है, फलतः यही उसकी सर्वाधिक भूल हो जाती है जिसका दुष्फल अधर्म झञ्झावात के कालचक्र में सञ्चञ्क्रमण करता हुआ असंख्य क्लेशों का अनुभव करता है। यदि प्रारम्भ से ही कहीं वह धर्म सेवन में अग्रसर हो जाय तो स्वतः ही संघटन, स्वतः ही विवेक, स्वतः ही सर्वविध सुख सर्वविध शान्ति उसके जीवन में सुलभ है। केवल इदमित्त्थं ही नहीं अथ च धर्म-परायणता से अपना सम्पूर्ण राष्ट्र सुसंघटित सुव्यवस्थित और समस्त वैभव समस्त सुख-सम्वृद्धि से समन्वित होकर अपने अतीत गौरव-गरिमा को सुलभतया प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। इसलिए सनातनधर्म की सुखद शीतल छाया का आश्रय लें, उसमें विश्राम करें, उसका सेवन करें, अपने आप सारा विघटन दूर होकर स्वतः सम्भव है।

पवित्रता मानव का भूषण है

मानव के जीवन में यदि सर्वाङ्गीण पवित्रता आजाय तो वह मानव मानव ही नहीं अपितु वह देवरूप हो जाता है। ऐसे मानव का गुण-गान देव वृन्द भी मुक्त-कण्ठ से करते हैं। इहलोक में वह सर्व वन्दनीय एवं ऊर्ध्दलोकों में परमानन्द का अनुभव करता है ।

पवित्रता केवल वाह्य रूप में ही न हो परञ्च वह मानसिक भी हो। मनसा, वाचा, कर्मणा सर्वविध रूपात्मक पवित्रता ही देवत्व को प्रदान करती है। अनन्त सुख एवं श्रीभगवत्सान्निध्य कराती है। पवित्रात्मा को सभी चाहते हैं, पवित्रात्मा के दर्शन, वन्दन, सङ्ग से असंख्य प्राणियों का हित होता है। शास्त्र वचन भी यही संकेत करते हैं ''ये रमणीयाश्चरणाः ते रमणीयां योनिमापद्येरन्'' अर्थात् जो पवित्र आचरण करते हैं वे पवित्र शरीर

को प्राप्त करते हैं। पवित्रता का सभी क्षेत्र में विचार किया जाता है--काल पवित्रता, स्थान पवित्रता, सङ्ग पवित्रता, वाणी पवित्रता, दान पवित्रता, शरीर पवित्रता, शुद्धि पवित्रता, चित्त पवित्रता, विचार पवित्रता, श्रवण पवित्रता, दृष्टि पवित्रता, घ्राण पवित्रता, रसना पवित्रता, गति पवित्रता, चरित्र पवित्रता, अर्थ पवित्रता, वस्तु पवित्रता, अन्न पवित्रता, जल पवित्रता, सेवा पवित्रता आदि-आदि सभी दृष्टि से पवित्रता जीवन में समाविष्ट हो जाय तो वह मानव प्रत्यक्ष में देव-स्वरूप में प्रातर्वन्दनीय हो जाता है। इसके विपरीत यदि कहीं अपवित्रता का वरण हो जाय तो वहीं असुरता का उद्भव स्वभाविक है। और फिर वह अपवित्रान्तःकरण मानव उभयत्र सर्वत्र सर्वदा उपेक्षणीय अनादरणीय दण्डनीय होता है। सतत विविध क्लेशों का उपभोग करता हुआ अन्ततः परलोक में भी अगणित कष्टों को प्राप्त करता है। इसलिये जीवन में पवित्रता का प्रसार हो पवित्रता का समादर हो और पवित्रता का ही साम्राज्य हो। इत्त्थंभूत पवित्रता व्यष्टि से समष्टि का कल्याण कर सकती है। इस प्रकार न केवल एक राष्ट्र ही अपितु समग्र विश्व ही पवित्रता के आचरण से शान्तिमय, आनन्दमय एवं सम्वर्द्धनशील हो सकता है। सभी पारस्परिक कलह द्वन्द्व निरस्त हो सकते हैं। आज सर्वत्र जन-जीवन मे जो एक अशान्ति है अन्तर्द्वन्द्व है जय-पराजय है, ईर्ष्या-कलह-बुभुक्षा पिपासा है सब पवित्रता के अवलम्बन से स्वतः निवृत्त हो जायेंगे और अपने अशान्त जीवन में रस सुधा धारा प्रवाहित होने लगेगी तथा पवित्रता पयोधि भगवान् श्रीसर्वेश्वर स्वयं उन पूतात्मा को अपने पवित्र धाम में पवित्र स्थान प्रदान करेंगे जिससे यह विभ्रान्त पथिक पवित्र होकर पवित्रतानन्द का अनुभव करने लगे।

अगणित भक्तों के पवित्र चरित्र का चिन्तन करें उनका जीवन कितना पवित्र रहा है। नाना संकटों में भी उन्होंने अपने पवित्र कर्तव्यों का परिहार नहीं किया। सर्वदा पवित्र-कर्म में निरत रहना ही उनका श्रेष्ठतम कार्य था। आज भी जिनका जीवन इत्त्थंभूत है वे सभी के आराधनीय बन जाते हैं। इसी प्रकार जिस राष्ट्र में पवित्रता है वह राष्ट्र भी सर्व-मूर्द्धन्य कीर्तिभाजन आदर्शरूप हो जाता है। जहाँ पवित्रता का अभाव है वहीं आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक त्रिविध ताप-परिताप प्रकट होने

लगते हैं और विनाश की अवस्था आजाती है। उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष में ही अनुभव करें, परम पवित्र राष्ट्र भारत की पवित्र भूमि पर जो साम्प्रतिक महा अपवित्र ही क्या जो अत्यन्त घृणित अतिघोर गो-वध कर्म हो रहा है वहाँ कैसे पवित्रता की कल्पना की जाय। कैसे वहाँ सुख-सम्वृद्धि हो अक्षुण्ण शान्ति हो तथा किस प्रकार वह दिव्य वैभव पूर्ण हो। मद्यपानादि नानाविध मदान्धता अपवित्रता सर्वविध रूप से घृणित एवं अशान्ति मूलक है। इससे जीवन में कितना ह्रास-विनाश, पापाचार हो रहा है जो अकथनीय है। अतएव यदि सर्वत्र पवित्रता का सञ्चार हो जाय तो ये सभी संकट स्वतः पलायमान होने में किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं । इन सभी दृष्टियों से पवित्रता सर्वदा वरणीय है जिससे इहत्र परत्र सर्वत्र मङ्गल ही मङ्गल है।

सेवा परायणता से छात्र जीवन में उज्ज्वलता आती है

छात्रों के निर्मल उज्ज्वल जीवन में जिस प्रकार शिक्षा प्राप्ति का महत्व है उसी प्रकार उनके पवित्र जीवन में सेवा परायणता का भी अन्यतम महत्व है। छात्रों का मानस स्वाभाविक रूप से दर्पणवत् स्वच्छ होता है। यदि उनके निश्छल चित्त में सम्यक् शिक्षा की उपलब्धि के साथ-भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति हो जाय तो वे न केवल अपने परिजन के निज ग्राम के या अपने क्षेत्र के ही अपितु अपने समग्र राष्ट्र के आदर्श पुण्यश्लोक के रूप में परिगणित होने लगेंगे। उनका सुपावन जीवन धर्म, परोपकार, वैदिक संस्कृति सेवन, भगवद्भक्ति, सदाचार पालन, सेवा-भावना आदि में अनुरक्त रहकर परम उदात्त बन जायेगा। उनका वह सेवा भाव प्रत्येक प्राणिमात्र को आकृष्ट किये बिना नहीं रहेगा। पशु-पक्षी भी उत्तम सेवाभावी का निर्भयता से वरण करते हैं देवता भी उनके गुणगान करने में अपना सौभाग्य मानते हैं। सेवानुरक्ति से समस्त ज्ञान-विज्ञान स्वयमेव स्फुरित होने लगते हैं। निखिलभुवनमोहन सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को श्रीमद्भगवद्गीता का दिव्य उपदेश करते हुए ज्ञानार्जन का मुख्य साधन सेवा ही इङ्गित किया है--

तद्विद्धि प्राणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।
(श्रीमद्भगवद्गीता अ० ४ श्लो० ३४)

तत्त्वद्रष्टा ज्ञानीजन दिव्य ज्ञान का तभी उपदेश करते हैं जब जिज्ञासु प्रणति पूर्वक गुरुजनों की सेवा करे और उनसे अपनी जिज्ञासायें विनम्रता से प्रकट करे ।

श्रीमद्भगवद्गीता में ही अ० १३ श्लो० ७ में भी ''आचार्योपासनम्'' वचन से गुरु सेवा का उपदेश किया है।

श्रीमद्भागवत में भी श्रीमुख वचन से सर्वेश्वर श्रीहरि ने गुरुजनों की सेवा का कितना महनीय माहात्म्य उपदिष्ट किया है--

नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन च ।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रुषया यथा ।।
(श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अ. ८० श्लो. ३४)

सर्वभूतात्मा श्रीप्रभु यज्ञ, प्रजा, तप, शमदमादि साधनों से इतने प्रसन्न नहीं होते जितने प्रसन्न वे गुरुसेवा से होते हैं।
''विष्णुधर्म'' में भी--

न गुरोरप्रियं कुर्यात् ताडितः पीडितोऽपि च ।
नावमन्येत तद्वाक्यं नाप्रियं हि समाचरेत् ।।

दण्डित होने पर भी गुरु के प्रति शिष्य अप्रिय कार्य न करे। उनके वचन की अवहेलना न करे और न अप्रिय आचरण ही करे।

कूर्मपुराण के इन दिव्य वचनों से सेवा की महत्ता और भी स्पष्ट हो जाती है--

उदकुम्भं कुशान्पुष्पं समिधोऽस्याहरेत्सदा ।
मार्जनं लेपनं नित्यमङ्गानां वासमाचरेत् ।।
नान्यनिर्माल्य--शयनं पादुकोपानहावपि ।
आक्रमेदासनं छायामासङ्गद्वा कदाचन ।।
साधयेद्दन्तकाष्ठादीन् कृत्यं चास्मै निवेदयेत् ।
अनापृच्छ्य न गन्तव्यं भवेत्प्रियहिते रतः ।।

न पादौ साधयेदस्य सन्निधाने कदाचन ।
जृम्भाहास्येच नोकुर्यात् सन्निधाने कदाचन।।
वर्जयेत्सन्निधौ नित्यमङ्गास्फोटनमेव च ।
आयान्तमग्रतो गच्छेद्गच्छन्तं तमनुव्रजेत्।।
आसने शयने वाऽपि न तिष्ठेदग्रतो गुरोः ।।

जल कलश, कुश, पुष्प, समिधा आदि की व्यवस्था, स्थान का जलादि से मार्जन, मृत्तिका गोमय (गोबर) आदि से लेपन (लीपना) आदि अङ्गीय परिचर्या का प्रतिदिन नियमित पालन करे। इसी प्रकार शयन स्थान, पादुका (खड़ाऊ) पादत्राण, आसन, गुरुजनों की छाया का उल्लङ्घन न करे। दन्तधावन आदि सेवाकृत्य को नियमित रूप से सम्पादित करे। बिना आज्ञा के कहीं न जावे, उनके प्रिय कार्य में सदा लगा रहे। उनके सन्मुख पैरों को लम्बा फैला के न बैठे, जम्भाई, हास्य-विनोद, मस्तक घुमाना, अपने अङ्गों पर हाथों से फट-फट ध्वनि करना आदि असम्बद्ध चेष्टायें न करे। गुरुजन जब आवें तो उठकर उनके सन्मुख विनीत भाव से जावे तथा वे जब जाने लगें तो उनके पृष्ठ भाग में चले । आसन, शयन स्थान पर तथा उनके सामने प्रौढासनादि से न बैठे ।

महाभारत में धौम्य ऋषि के शिष्य उद्दालक एवं उपमन्यु का चरित लोक प्रसिद्ध है उन्होंने अपनी अद्भुत सेवा से समस्त विद्यायें तथा अनन्त ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया था । श्रवणकुमार का आख्यान भी इसी प्रकार सेवा की अनुपम निष्ठा व्यक्त करता है। सन्त श्रीएकनाथ ने मार्ग में व्यथित गर्दभ की सेवा कर साक्षात् भगवान् रामेश्वर श्रीशिव के दर्शन प्राप्त किये। शास्त्रों में इतिहास में अगणित ऐसे उदाहरण हैं जो सेवा के महत्व को व्यक्त करते हैं। अतः छात्रों को अपने विद्यार्थी जीवन में सर्वदा शिक्षा ग्रहण के साथ गुरुजनों की सेवा में अनुरक्त रहकर परम आदर्शशाली बनने का सौभाग्य प्राप्त करना चाहिये। व्यर्थ वार्तालाप में असत्साहित्य पठन में असङ्गत स्थान के सेवन में, अहितकर धूम्रादि पान में, पारस्परिक कलह में, मिथ्याचरण में, असत्कर्म में कभी भी प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। इससे पवित्र मानव जीवन निकृष्ट बनता है। असुरता बढती है। अपना उत्तम स्वरूप विकृत होता है और अन्ततः जीवन में कष्ट ही कष्ट है। अतः सर्वदा इन विकारमय कर्मों से

सर्वथा दूर रहकर सत्कर्मानुष्ठान में संलग्न रहकर अपने सुपावन जीवन को कृतार्थ करना ही परम अभीष्ट है।

मानव जीवन में स्वार्थान्धता विनाश का कारण है

इस चराचर निखिल सृष्टि में जहाँ भी कहीं विप्लव, विद्वेष आक्रोश, अनाचार, दुराचार, आदि जो भी जघन्यतम कृत्य हो रहे हैं उनके मूल में स्वार्थान्धता ही प्रमुख कारण है। ''स्वार्थी दोषं न पश्यति'' यह सूक्ति स्पष्टतया चरितार्थ है। मानव जब तक अपने स्वार्थ का त्याग नहीं करता तब तक वह किसी भी उपायन्तर से सुन्दर स्वस्थ वातावरण का संचार नहीं कर सकता। यह स्थिति आज ही नहीं अपितु सृष्टि के आरम्भकाल से ही परिलक्षित है। पुराणेतिहासों के गहन चिन्तन पर तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है। देवासुर संग्राम, इसमें असुरों की स्वार्थलिप्सा प्रसिद्ध है, राम-रावण युद्ध जिसमें रावण का स्वार्थ लोक प्रसिद्ध है, महाभारत युद्ध जहाँ कौरवों की स्वार्थान्धता स्पष्ट है, अथवा उसके बाद में होने वाले सभी विग्रह स्वार्थपरता पर आश्रित हैं आज साम्प्रतिक काल में भी जो कुछ विपरीत कर्म हो रहे हैं सब स्वार्थपरता का ही प्राधान्य है। जहाँ देखो चोरी लूट-खसोट, अत्याचार, अनाचार, हत्यायें, अत्यन्त क्रूर कर्म ये सभी तो स्वार्थ निहित दुष्ट विचारों पर ही आधारित है।

जिस भारत की परम पवित्र धरित्री पर अखिलान्तरात्मा सर्वेश्वर श्रीहरि के वैदिक वाङ्मय के रूप में ये उपदेश प्रतिष्ठित हैं--

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

इस चेतनाचेतनात्मक जगत् में व्यक्ताव्यक्त जो कुछ भी दृष्टिगत हो रहा है यह सब उन्हीं सर्वान्तरात्मा श्रीसर्वेश्वर से ही परिव्याप्त है। उन कृपामय श्रीगोविन्द के द्वारा प्राप्त पदार्थों का प्रसाद रूप में उपयोग करें। कोई भी परस्पर किसी के परार्थ का हरण न करें।

वस्तुतः कितना दिव्य उपदेश है श्रीप्रभु का परन्तु जगज्ज्वाला-दन्दह्यमान जीवात्मा केवल अपने स्वार्थान्धकूप में निपतित होकर विभिन्न

विपदाओं का स्वमेव वरण करता है और अन्त में अतिशय प्रपीड़ित होकर सत्पथ की अभिकामना करता है। "स्वभावो दुरतिक्रमः" के अनुसार जन्माजन्मान्तरों के दुष्ट स्वभाव से मुक्ति पाना इसके लिए दुष्कर हो गया है। तथापि-उन अनन्त कृपा कोष श्रीसर्वेश्वर श्रीहरि ने--

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।

यदि अत्यन्त दुराचारी भी अपने किये हुये कर्मों पर पश्चात्ताप करके मेरी शरण आ जाता है तो उसे मैं भी परम श्रेष्ठ सुन्दर ही समझता हूँ।

मानव अपनी समग्र स्वार्थ लिप्साओं का विनियोग कर स्वच्छ-स्वस्थ होकर सत्कर्म में प्रवत्त हो जाय तो विश्व की सम्पूर्ण विकट समस्यायें स्वमेव विलीन हो जायेंगी। निस्सन्देह सर्वत्र अखण्ड आनन्द की अजस्र धारा प्रवाहित होने लगेगी । लोगों में परस्पर की विद्वेषाग्नि अपने आप शान्त हो जायेगी ।

श्रीवृन्दावन का श्रावण झूला महोत्सव

भारत की सुरम्य सुपावन वसुन्धरा पर परम पुनीत असंख्य तीर्थ और दिव्यातिदिव्य धाम विद्यमान हैं। उन सभी धामों में श्रीधाम वृन्दावन की लोकोत्तर महिमा अनिर्वचनीय है। जहाँ कलकल कल्लोलिनी पुण्यतोया कलिन्दतनया श्रीयमुनाजी अपनी गम्भीर तरङ्गों से समुच्छलित होती हुई कङ्कणाकार रूप में श्रीवृन्दावन की अनुपम शोभा की वृद्धि कर रही है। कदम्ब-जम्बू-चम्बीर-तमाल-आम्र-कदली-मालती-मल्लिका-चम्पा-जुही-चमेली-गुलाब-मोगरा आदि विविध द्रुम-लताओं की दिव्य कमनीय कुञ्जों की अति मनोहारी छवि देखते ही बनती है। शुक-पिक-सारिका-चातक आदि नानाविध खगवृन्दों का कलित कलरव श्रीधाम को गुञ्जायमान किये हुए है। मयूर की मधुर केका वाणी से सम्पूर्ण वृन्दावन प्रगुञ्जित है। भृङ्गों की मधुर गुञ्जार अनुपम है। श्रीयमुनाजी में कच्छप-मत्स्य-बक-बतक आदि जलचरों का अति सुभग यूथ अतीव मोहक है। गोवृन्द-गोवत्स का हम्बारव अतीव आकर्षक है। नवीन श्यामल मेघमाला से समाच्छादित गगन मण्डल कितना मनोहर लगता है। श्यामघटा के मन्द-मन्द जलाभिवर्षण

का दृश्य तो अनिर्वचनीय है। नवजलधर श्यामघटा में विद्युत्-छटा और भी अद्भुत चमत्कृति उत्पन्न कर देती है। हर्षातिरेक से भरे व्रजवासीजन मल्हार राग में अपने लोकगीत प्रस्तुत करते हुए समागत भावुक दर्शकों को आह्लादित कर देते हैं। रसिक सन्तजनों द्वारा वाणी-ग्रन्थों के रसमय पद विविध मधुर वाद्यों के साथ समाज गायन के रूप में सम्पूर्ण जीवन को रससिक्त बनाने में अग्रगण्य हैं। सत्संग-संकीर्तन-जयघोय का आनन्द इतना अद्भुत है जिसे व्यक्त करना कठिन है। श्रीरासविहारी भगवान् की रासलीला का रसपूर्ण मधुरातिमधुर जो रसप्रवाह दृग्गोचर होता है वह तो यथार्थ में श्रीवृन्दावन की सर्वस्व निधिरूप सर्वतोमुख्य महानन्दारसार्णव है। जिस रसार्णव में सौभाग्यशाली महानुभाव ही अपने आपको आप्लावित कर परम कृतार्थता का अनुभव करते हैं।

श्रावण मास में सर्वोपरि सर्वमूर्द्धन्य महानन्द है झूला महोत्सव का। युगलप्रियालाल श्यामाश्याम श्रीराधामाधव सहचरिमण्डल परिवेष्टित हो कनक-मण्डित रत्नजटित नाना कुसुमगुच्छ परिशोभित सौगन्धिक माङ्गलिक द्रव्यों से सुवासित अतिकमनीय झूला मध्य विराजित रूप में दर्शन का जो अपरिमित रसानुभूति का असीम अवसर है वह वस्तुतः अलौकिक अनिर्वचनीय है। बड़े-बड़े योगी-मुनि-तपस्वीजन देववृन्दों को भी यह दिव्य दर्शन कहाँ सुलभ है? युगलकिशोर श्रीरासविहारीलाल झूल रहे हैं, सखिवृन्द प्रफुल्लमन से आनन्दविभोर हो मन्द-मन्द विहसन पूर्वक झुला रही हैं अपने हृदयेश्वर को । संगीत मर्मज्ञ अपने मधुर-मधुर वाद्यों को अपने अङ्क में स्थित करके सामयिक विभिन्न राग-रागनियों में झूलोत्सव-पद प्रस्तुत कर रहे हैं श्रीमहावाणीजी प्रभृति दिव्य वाणी ग्रन्थों के रसमय पद जो यथार्थ में ललित मधुर कण्ठ से आविर्भूत रसभरी पदावली श्रीधाम की मनोरमता को और भी विलक्षण रससृष्टि पूर्वक द्विगुणित कर रही है।

वस्तुतः झूला-महोत्सव के पावन अवसर पर श्रीवृन्दावन में सहस्रों मन्दिर-कुञ्ज-निकुञ्जों में झूला विहार की जो अद्भुत रसाभिव्यक्ति होती है वह असमोर्ध्व है। यों तो श्रीवृन्दावन सार्वकालिक उत्सवमय है किन्तु श्रावण का रसावह आनन्द तो और भी अभूतपूर्व है। इन निम्नांकित पदों से इसकी मधुर अनुभूति कर परम रसानन्दप्राप्त करें।

झूलत श्यामा श्याम युगलवर ।
रवितनया-तट-लतातरु सुन्दर, हरित भूमि शुभ परम मनोहर ।।
कीर-मयूर-सुकोकिल कूजत, मधुकर गु ञ्जत बोलत दादर ।
अम्बुद अनुपम सुभग घटा नभ, छाई चहुँदिशि चारु विपिन पर ।।
सरस सखीजन प्रमुदित गावत, चञ्चल चपला चमकत बर बर ।
शरण सदा राधासर्वेश्वर, यह सुख विलसत रसिक रसिकवर ।।
श्रीवन झूलत राधामाधव ।
यमुना-तट-तरु-कुंज मनोहर, शोभित अनुपम झूला अभिनव ।।
जय-जय प्रिय धुनि करत सखीजन, रस-वृन्दावन रसमय वैभव ।
शरण सदा राधासर्वेश्वर, श्रावण सुख यह मंजुल खगरव ।।

श्रीश्यामाश्याम कृपा से ही व्रजवास सुलभ हो सकता है

व्रजधाम की लोकोत्तर महिमा है। श्रीवृन्दावन, मथुरा, बरसाना, नन्दगाँव, प्रेमसरोवर, गोवर्धन, निम्बग्राम, गोकुल, दाऊजी, फालेन, करहला, कामवन, कोकिलावन, श्रीनागाजी महाराज की कदम्बखंडी, आदिबद्री, गुहाना, महावन, कोसी, डीग, राया आदि-आदि अनेक दिव्य स्थल व्रज की मनोरमता, दिव्यता के प्रत्यक्ष द्योतक हैं।

अपने पूर्वाचार्यों रसिकाचार्यप्रवरों ने व्रजधाम में सतत निवास के लिये उपदेश किया है। वस्तुतः व्रज का निवास सुलभ नहीं है, यह तो सर्वेश्वर युगलकिशोर श्रीराधामाधव अपनी अहैतुकी कृपा जिस सौभाग्यशाली साधक पर कर दें तभी व्रजधाम का मङ्गल-दर्शन, व्रजवास का पुनीत अवसर सुलभ हो सकता है।

व्रज रस पिपासु सर्वप्रथम व्रजवास की उत्कट-भावना अपने पवित्र अन्तःकरण में सत्पुरुषों के सत्सङ्ग एवं व्रजधाम परक सरस सुन्दर शास्त्रों के स्वाध्याय-माध्यम से उत्पन्न करे, और व्रज में निवास करते हुए व्रजवासीजनों द्वारा उपलब्ध पवित्र भिक्षा से निर्वाह करे। वैराग्य पूर्वक रहते श्रीयुगल प्रियालाल गुणानुवाद एवं श्रीयुगलनाम संकीर्तन से अपने जीवन

को पावन बनाते हुए श्रीभगवल्लीला दर्शन, श्रीहरिमन्दिर दर्शन, व्रजरजनिष्ठा, श्रीयमुनाजी की भावनापूर्वक अर्चना, व्रज के दिव्यतम मञ्जुल लताद्रुमों की अभिवन्दना, रसिक महानुभावों की उत्तम सन्निधि में उनके द्वारा प्राप्त शास्त्र प्रतिपादित पावन उपदेश श्रवण प्रभृति इन उच्चतम विविध विधाओं से अपने अन्तःकरण को निर्मल करे। जीवन सरल सरस दैन्यभाव आदि गुणों से परिपूर्ण हो। शास्त्रविधि का परिपालन हो। काम-क्रोध-लोभादि षड्रिपुओं से सर्वदा सतर्क रहते हुए सात्विक सद्भाव अपने चित्त में प्रतिष्ठित करे। वस्तुतः इस प्रकार विविध साधनानिष्ठ साधक ही श्रीयुगल कृपा भाजन बनने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है और तभी उसके मानस में व्रजवास की तीव्र उत्कण्ठा भी हो सकती है।

आचार्यप्रवर श्रीश्रीभट्टाचार्यजी महाराज व्रजभाषा की आदिवाणी ''श्रीयुगलशतक'' ग्रन्थ में व्रज-वृन्दावनधाम के स्वरूप का अति-कमनीय वर्णन करते हुए अनवरत वहीं पर निवास की अपनी भावना कितनी सुन्दर व्यक्त कर रहे हैं--

व्रजभूमि मोहनी मैं जानी ।
मोहनि कुँज मोहन वृन्दावन, मोहन जमुना पानी ।।
मोहनि नारि सकल गोकुल की, बोलत अमृत बानी ।
'श्रीभट्ट' के प्रभु मोहन नागर, मोहनि राधा रानी ।।
सेऊँ श्रीवृन्दाविपिन विलास ।
जहाँ जुगल मिलि मंगल मूरति, करत निरन्तर वास ।।
प्रेम-प्रवाह रसिक जन प्यारे, कबहुँ न छाँड़त पास ।
कहा कहौं भाग की 'श्रीभट्ट' राधाकृष्ण रस चास ।।

व्रज रस रसिक साधक जन इन्हीं आचार्यप्रवर के इस अनुपम सरस उपदेश को अपने हृदय में धारण कर व्रजवास करने का दृढ संकल्प लें।

देवालयों की सर्वविध सुरक्षा सभी का पावन कर्तव्य

अपने संसारासक्त जीवन को भगवत्परक करने के लिये श्रीप्रभु की उपासना नितान्त आवश्यक है, और यह उपासना परम शान्त सात्विक स्थल में ही सम्यक् रूप से सम्पादित हो सकती है। इसी दृष्टि से हमारे शास्त्रों, धर्म ग्रन्थों में श्रीभगवत्-देवालयों का शास्त्रीय विधि के अनुसार सुन्दर निर्माण कर श्रीभगवत्प्रतिमाओं के प्रतिष्ठापन का उत्तम विधान विहित किया हुआ है, और उसी के अनुसार अनादिकाल से हमारे ऋषि-मुनि-योगी महापुरुषों ने विविध देवालयों का प्रतिष्ठापन कर अपने आराधना स्थल बनाये ।

भारतवर्ष के सभी भूभाग के क्षेत्रों, अञ्चलों में अतिप्राचीन असंख्य सुभग भव्य परम दिव्य भगवत्-देवालय जो ''मन्दिर'' नाम से अभिहित होते हैं, विद्यमान हैं। वर्तमान में भी अतीव चित्ताकर्षक परम सात्विक रूप से कलाकृति पूर्ण विनिर्मित नवीनतम अनेकानेक मन्दिर भी न केवल भारत ही अपितु विश्व के प्रायः सभी देश-विदेशों में अवस्थित हैं। जहाँ भावुक भगवद्भक्त भाव विभोर होकर अपने आराध्य का अभिचिन्तन करते हुए विश्व की हितकामना करते हैं।

जिस प्रकार अनादि वैदिक सनातन हिन्दु-संस्कृति में मन्दिरों में श्रीप्रभु की उपासना का मङ्गलमय विधान प्रतिपादित हुआ है उसी प्रकार इतर मतान्तरों में भी उपासना-स्थलों के निर्माण की परम्परा विद्यमान है। मस्जिद, गिर्जाघर आदि उसी के प्रतीक हैं, जहाँ आराधक अपने आराध्य का नियमित आराधन करते हैं।

वस्तुतः मन्दिर, गुरुद्वारा, मस्जिद, गिर्जाघर आदि ये सभी उपासना के पावन स्थल हैं। इनमें कहीं तो भगवत्प्रतिमायें तो कहीं गुरुग्रन्थ, वाणीग्रन्थ आदि के अर्चन-वन्दन का विधान है तो कहीं अदृश्य भाव से उन पवित्र स्थलों पर उपासना की जाती है।

सम्प्रति श्रीअयोध्या पुरी जो परब्रह्म सर्वेश्वर भगवान् श्रीराम की पावन अवतरण स्थली अर्थात् जन्मस्थली है वहाँ श्रीराम जन्मभूमि के सम्बन्ध

में एक विश्वव्यापी चर्चा का प्रसङ्ग चल रहा है। अतीत काल में हिन्दू राष्ट्र भारत में दुर्भाग्य से राजा-प्रजा में पारस्परिक विघटन के कारण मुस्लिम-राष्ट्रों ने भारत पर अनेकों बार आक्रमण करते हुए यहाँ पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया और उस सन्दर्भ में उन्होंने असंख्यों मन्दिरों को ध्वस्थ करने के साथ नाना रूप से अकल्पनीय अत्याचार भी किये। उसी अवधि में श्रीअयोध्या में जहाँ श्रीरामजन्मभूमि के सुपावन स्थल पर सुशोभित श्रीरामलला मन्दिर को मुस्लिम शासक बाबर ने ध्वस्त करके उसे मस्जिद का रूप देने का प्रयत्न किया। भारत के उसी काल से ही हजारों लाखों हिन्दू भक्त वीरों ने, सन्त-महात्माओं ने श्रीरामजन्मभूमि के अधिग्रहण हेतु अपना सर्वस्व बलिदान किया।

मुस्लिम शासनोपरान्त अंग्रेजी काल में भी वहाँ भक्तवीरों ने अपने आपको बलिवेदी पर समर्पित किया। ऐतिहासिक इस सम्पूर्ण तथ्य से सभी साङ्गोपाङ्ग सुपरिचित होते हुए भी आज के शीर्षस्थ शासक महानुभाव यह कहने का दुस्साहस करते हैं कि........ ''क्या वहाँ कोई मन्दिर था?'' परमाश्चर्य है इनके इस दुर्भाग्यपूर्ण तथ्यहीन कथन पर। अभी कुछ वर्ष पूर्व हुए नवम्बर १९९१ में श्रीरामजन्मभूमि अयोध्या में मन्दिर निर्माण हेतु कार सेवार्थ उपस्थित अगणित सन्त-महात्माओं, धर्माचार्यों, लाखों श्रीराम भक्त कारसेवकों ने जब स्वतन्त्र भारत में अपनी पवित्र योजना बनाई उस अवसर पर तत्कालीन उत्तरप्रदेश सरकार ने श्रीभगवन्नाम संकीर्तन करते हुए श्रीराम भक्तों, कारसेवकों पर जो अकल्पनीय जघन्यतम क्रूर कर्म किया वह किसी से तिरोहित नहीं है। तथापि सन्त-भक्तों ने धर्माचार्यों ने अपने धैर्य को यथावत् दृढता से सुरक्षित रखा। और पुनः उस पुनीत सेवउ कार्य में सर्वात्मना प्रवृत्त हुए। जिसके फलस्वरूप मुस्लिम साम्राज्य में बाबर द्वारा श्रीरामजन्मभूमि स्थल पर श्रीराम-मन्दिर को ध्वस्त करके बनाये गये बाबरी मस्जिद के ढांचे को श्रीराम भक्त कारसेदकों ने अपनी बलवती अगाध निष्ठा के साथ आक्रोश में आकर उसे सर्वथा ध्वस्त कर दिया। जिसे वस्तुतः यह एक उनकी अपूर्व असीम श्रद्धा-भावना का ही द्योतक परिणाम कहा जा सकता है। मुस्लिम ग्रन्थ मतानुसार जिस मस्जिद में नियमित नमाज नहीं पढी जाती वह स्थल मस्जिद के योग्य में नहीं रहता। इस दृष्टि से भी यह कार-सेवा असंगत नहीं

कही जा सकती ।

आश्चर्य और गम्भीर संताप का विषय है कि उसके प्रतीकार रूप में मुस्लिम वर्ग द्वारा यत्र-तत्र भारत एवं भारतेतर राष्ट्रों में अनेक स्थलों पर सैकड़ों देव मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट एवं ध्वस्त कर दिये गये और अकथनीय भीषण अत्याचार पूर्वक जन हत्यायें की। यह कितना गर्ह्य अति निन्दनीय महाघोर क्लेशप्रद जघन्यपूर्ण कर्म है। जिसे श्रवणमात्र से ही हृदय प्रकम्पित हो उठता है।

स्वतन्त्र भारत में भी ऐसे अकल्पनीय भयङ्कर अत्याचारों की असम्भाव्य संभावना कथमपि नहीं थी जो सर्वथा अतिशय विस्मयावह है। सत्य ओर तथ्य की अवहेलना कर केवल तुष्टिकरण नीति का अवलम्ब सरकार के लिये कहाँ तक उचित है। आज सम्पूर्ण हिन्दू-समाज एक है, उनके सर्वाङ्ग समुचित कार्य में बाधकता कहाँ तक हितकर होगी। इसलिये सम्पूर्ण शासक वर्ग को राष्ट्र के मूल गौरव की रक्षार्थ श्रीरामजन्मभूमि अयोध्या, श्रीकृष्णजन्मभूमि मथुरा, श्रीविश्वनाथ मन्दिर काशी आदि पावन स्थलों तथा सभी तीर्थ और धामों की पुरातन गरिमा को यथावत् बनाये रखने के लिये कृतकार्य होना चाहिये और तत्काल ही अयोध्या में श्रीरामजन्मभूमि स्थल पर श्रीराम मन्दिर के निर्माण की योजना को पूरी करायी जानी चाहिए एवं उसके परिसर या निकटवर्ती क्षेत्र में मस्जिद निर्माण की जो कल्पना की जा रही है उसे सर्वथा स्थगित कर देना समुचित होगा। सरदार श्रीवल्लभभाई पटेल ने भारत के स्वतन्त्र होते ही सर्वप्रथम सोमनाथ मन्दिर का भव्य निर्माण कराके अपने अतीत आदर्श को सरक्षित रखा। इसी प्रकार सरकार को अपने भारत राष्ट्र के उज्ज्वल ऐतिहासिक धार्मिक स्थलों की रक्षार्थ जागरूक रहना राष्ट्रहित में है।

इसी प्रकार राष्ट्र की सर्वाधिक सम्पत्ति श्रीगोमाता है उसकी समग्र सुरक्षा का दायित्व सरकार पर है। सम्पूर्ण गोवंश विनाश निषेध का प्रावधान बनाकर इस महापाप से सरकार मुक्त हो तो अच्छा है। वेदादि शास्त्रों में गोमाता को 'गावो विश्वस्य मातरः' कहकर उसे विश्व का पालन करने वाली माता कहा है तथा ''अघ्न्या'' कह कर उसके वध को महाघोर अपराध बताया है। इसलिये प्रशासक सरकार का यह परम धर्म है वह

अपने स्वरूप को अपने कर्तव्य को समझे। उपेक्षा अवहेलना की परिणति सुखावह नहीं होती अतः सर्वविधरूपेण स्वस्थ शान्त चित्त से इन अति विषम-समस्याओं पर गहन चिन्तन करके सत्कर्म की ओर अग्रसर होना ही प्रशासन के लिये मङ्गलदायक कार्य होगा।

पारस्परिक संघर्ष सभी के लिए हानिप्रद है

अधिकांशतः देखा जाता है कितने ही अज्ञजन वृथा संघर्ष करने में अपना वैशिष्ट्य समझते हैं। अनवरत संघर्ष करने की योजना में ही अपने अमूल्य जीवन को नष्ट करते हैं। उनके जीवन की सम्पूर्ण चर्या इसी ओर अभिरत रहती है और परिणामतः अपने को दारुण दुःख दावानल में दन्दह्यमान करते रहते हैं।

स्थिरचित्त से उन्हें अपने स्वरूप का, अपने अमूल्य जीवन का, अपने आदर्श का ध्यान करके श्रेष्ठ कर्मों में अपने समय का विनियोग करना चाहिए। कदाचित् उनको संघर्ष ही प्रिय है तो वे अपने शरीरस्थ काम-क्रोधादि शत्रुओं से ही संघर्ष करें। उनका दमन करें, उन पर अपना नियन्त्रण करें अथवा राष्ट्र रक्षार्थ शत्रुओं से संघर्श करें। फिर अनुभव करें कि मानव जीवन में जो विविध अशान्ति, क्लेश आदि का जो उद्भव होता है, उनका फिर सहज में ही परिशमन होने में विलम्ब नहीं होगा और अपने अशान्त जीवन में कितनी उज्ज्वलता पावनता प्रकट होगी, जिससे स्वयं को असीम आनन्द का अनुभव होने लगेगा ।

आप्त महापुरुषों के इस प्रेरणाप्रद उपदेश से और भी स्पष्ट है--

संघर्षनिरताः सन्ति लोका मायाविमोहिताः ।
लभन्ते दारुणं कष्टं वृथैव नरजीवनम् ।।

श्रीहरि की अचिन्त्य माया से विमोहित लोग निरन्तर संघर्ष परायण रहते हैं और महा कष्ट का उपभोग करते हैं। वस्तुतः उनका मानव जीवन वृथा ही है।

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ।।

उत्तम सुधी-पुरुषों का समय उत्तम शास्त्रों के स्वाध्याय में ही

व्यतीत होता है। अज्ञपुरुषों का समय नाना दुर्व्यसन, निद्रा एवं अनवरत कलह अर्थात् संघर्ष में ही पूर्ण होता है।

वस्तुतः संघर्ष-प्रिय-जन सर्वदा संघर्षादि कार्यों में ही अपने समय का दुरुपयोग करते हैं, जिसका अन्तिम परिणाम केवल क्लेश ही क्लेश है।

''अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'' के अनुसार स्वयं गहन गर्त में निपतित होते हैं, तथा दूसरों को भी इसी भाँति पतनोन्मुखी बनाते हैं।

वस्तुतः ऐसे जनों का संघर्ष ही एकमात्र जीवन का लक्ष्य बन जाता है। बाह्याभ्यन्तर सर्वत्र संघर्ष-कलह करना ही उनका इदमित्त्थं कर्तव्य हो जाता है। ऐसे कलह परायण लोग कर्तव्याकर्तव्य उचितानुचित आदि किसी ओर दृष्टिपात नहीं करते। मद्योन्मत्त की भाँति सतत संघर्षादि में ही अपना काल यापन करते हैं। मानव के यथार्थ स्वरूप की ओर वे कभी सोचते तक नहीं। यथार्थ में ऐसे दुश्लील लोगों को केवल उत्पात करना ही प्रिय लगता है। हानि-लाभ आदि की वहाँ कल्पना ही नहीं। बन्धुजन-स्वजन-सुधीजन इत्यादि सभी को सर्वथा विस्मृत कर अपनी मन चाही करते हैं और निष्प्रयोजन संघर्ष करने में ही स्वयं को सौभाग्यशाली मानते हैं।

ऐसे संघर्ष-कलह परायणजनों के समक्ष जब अप्रत्याशित संताप का अवसर आता है तब वे भयावह एवं व्याकुल होकर तस्करवत् इतस्ततः भागते हैं। जब उन्हें कहीं भी आश्रय नहीं मिलता तब भटकते हुए महापुरुषों की सन्निधि के इन्छुक होते हैं।

अतएव पारस्परिक संघर्ष का परित्याग करके उत्तम सेवा कार्य में अपने को प्रवृत्त करना ही हितावह होगा ।

मानव के चरित्र का उत्थान एवं पतन उसके मन पर निर्भर है

अनन्तकृपाकोश भगवान् श्रीसर्वेश्वर के कृपाप्रसाद एवं जीव के बहुजन्मार्जित पुण्यों के फलस्वरूप उसे देवदुर्लभ मानव शरीर उपलब्ध होता है। ऐसे दुर्लभ मानव शरीर में यदि सच्चारित्र्य का दर्शन न हो तो यह मानवता का वास्तविक स्वरूप नहीं है। उज्ज्वल-चारित्र्य ही मानवता का

द्योतक है। इसीसे उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान जाना जा सकता है। केवल उदर पोषणादि कार्य उसके ''इदमित्थम्'' लक्ष्य नहीं है। यह सब तो समस्त प्राणिमात्र में भी विद्यमान है।

देवर्षिवर्य्य श्रीनारदजी ने अपने 'नारदभक्ति-सूत्र' में 'लोकोऽपि तावदेव किंतु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीरधारणावधिः' इस सूत्र के उत्तरार्द्धवचन से भोजनादि व्यापार को जब तक प्राकृतिक शरीर है, तावन्निखिल प्राणियों के जीवन निर्वाह का एक साधन बताया है, क्योंकि इसके बिना जीवन का स्थिरत्व नहीं होता। परन्तु भोजनादि व्यापार को जीवन का मूल लक्ष्य नहीं माना जा सकता। जीवन का प्रमुख उद्देश्य है- अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहकर विवेकपूर्वक वेदादिशास्त्रानुमोदित धर्म क अनुपालन और यही सच्चारित्र्य का भी वास्तविक स्वरूप है--यह 'धर्मं चर', 'सत्यं वद', 'नानृतम्', 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः', मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव', 'आचार्यदेवो भव',-'मातृमान्-पितृमान्-आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि औपनिषद्-वचनों से स्पष्ट ही है। 'ईशावास्योपनिषद्' के इस प्रथम मन्त्र से कितना सुन्दरतम उद्बोधन मिल रहा है कि--

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

विविध विचित्र संस्थान-सम्पन्न चेतनाचेतनात्मक इस अनन्त जगत् में जो कुछ समग्र दृष्टिगत हो रहा है, वह उन्हीं निखिलजगदभिन्ननिमित्तो-पादानकारण, क्षराक्षरातीत, जगज्जन्मादिहेतु, सर्वद्रष्टा, सर्वनियामक, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक भगवान् सर्वेश्वर से ही ओत-प्रोत है। अतः इन अनन्तकृपासिन्धु अकारणकरुणावरुणालय श्रीप्रभु से प्रदत्त वस्तु का ही सेवन करें। इतर जनों के धनादि पदार्थों की लिप्सा न करें। विष्णुपुराण की यमगीता में भी उपर्युक्त प्रकथन का बड़ा सुन्दर निर्देश है--

हरति परधनं निहन्ति जन्तून् वदति तथानृतनिष्ठुराणि यश्च ।
अशुभजनितदुर्मदस्य पुंसः कलुषमतेर्हृदि तस्य नास्त्यनन्तः ।।
न सहति परसम्पदं विनिन्दां कलुषमतिः कुरुते सतामसाधुः ।
न यजति न ददाति यश्च सन्तं मनसि न तस्य जनार्दनोऽधमस्य।।

''जो दूसरो का धन हरण करता है, पशु-पक्षी आदि जीवों की

हिंसा करता है तथा असत्य-भाषण और कठोर वचन बोलता है, ऐसे अशुभ कर्मजनित दुर्मदान्ध पापमति पुरुष के हृदय में अनन्तस्वरूप भगवान् श्रीसर्वेश्वर निवास नहीं करते। जो असाधु पापबुद्धि दूसरों की सम्पत्ति चुराता या लूट-खसोट करता है एवं पुण्यश्लोक साधु पुरुषों की निन्दा करता है, न तो यज्ञादि उत्तम कर्म करता है तथा न किसी प्रकार का दान ही करता है, ऐसे अधम पुरुष के मन में जनार्दन भगवान् श्रीराधामाधव कभी निवास नहीं करते ।''

इस प्रकार शास्त्रों के अगणित वचन सच्चारित्र्य या धर्म की ओर अग्रसर होने का उपदेश करते हैं। धर्मविमुख उत्तम कर्तव्यपराङ्मुख मानव कथमपि सुख-शान्ति की अनुभूति नहीं कर सकता। धर्म-सेवन से ही उसके जीवन में सच्चारित्र्य का उद्भव हो सकता है। धर्माभिरुचि एवं पवित्र चरित्र संवलित जीवन तभी सम्भव है, जब मानव का मन इस ओर प्रवृत्त हो। मनुष्य का मन बड़ा चञ्चल है। इसीके कारण वह बन्धन एवं मोक्ष को प्राप्त होता है--''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'' अभ्यास-वैराग्य से इसका निरोध होता है (योगदर्शन २/५, गीता ६/३५)। श्रीमद्भागवत में भी ''मनःपूतं समाचरेत्'' का आदेश है। श्रीमद्भागवत में ही जगन्नियन्ता भगवान् श्यामसुन्दर श्रीगोविन्द ने उद्धव को उपदेश करते हुए अवन्तिकापुरी के द्विज द्वारा--जिसने जागतिक पीड़ाओं से संतप्त होकर वैराग्य धारण किया था, अनुभूतिपूर्ण मनोरम उपदेश परक विचार व्यक्त कराये हैं, वे सदा हृदय में अवधार्य हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं--

मेरे सुख-दुःख के हेतु न तो ये मनुष्य और न देवता ही तथा न यह शरीर एवं न ये ग्रह, कर्म, कालादिक ही हैं। वेद वचन और सन्तवचन मन को ही प्रमुख कारण मानते हैं और इस सारे संसार-चक्र को मन ही प्रेरित करता है। यथार्थ में यह मन प्रबल पराक्रमी है। इसी ने विषय एवं उसके कारण गुणों तथा तत्सम्बधी वृत्तियों की उत्पत्ति की है और उन वृत्तियों के तत्सम ही सात्त्विक, राजस, तामस आदि विविध प्रकार के कर्म हैं--

मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत् ।
मनो गुणान् वै सृजते बलीयस्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि ।।

(श्रीमद्भा० ११/२३/४३-४४)

उन कर्मों के क्रमानुसार ही प्राणी की नानारूप से गतियाँ होती

रहती हैं--समग्र चेष्टाएँ मन ही किया करता है। सर्वदा उसके सङ्ग रहने पर भी ज्ञानशक्ति-प्रमुख यह आत्मा निष्क्रिय ही है। जब वह मन के अनुकूल होकर विषय-भोक्ता बन जाता है, तब वह कर्मों के साथ तीव्राशक्ति होने से उनसे बंध जाता है। दान, स्वधर्मपालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म तथा ब्रह्मचर्यादि उत्तम व्रतों का सर्वान्तिम फल यही है कि मन तन्मय होकर श्रीहरि में प्रवृत्त हो जाय। ऐसा समाहित मन ही उच्चतम योग का परिणाम है। जिसका मन सर्वदा शान्त और समाहित है, उसे दानजनित सम्पूर्ण सत्कर्मों का फल मिल गया। इसलिये अब उसे कुछ प्राप्त करना शेष नहीं है। और जिसका मन अस्थिर है अथवा आलस्यपूर्ण है, उसे इन दानादिक श्रेष्ठ कर्मों से अद्यावधि कुछ भी लाभ न मिला। समस्त इन्द्रियाँ मन के वशीभूत हैं। किंतु मन किसी भी इन्द्रिय के वश में नहीं है। वस्तुतः यह मन बड़ा ही प्रबल एवं अतिभयंकर देव है। इसको वश में करने वाला इन्द्रिय समूह का परम विजेता ही वास्तव में देव का भी देव है--

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि ।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः परो हि योगो मनसः समाधिः ।।
मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा मनश्च नान्यस्य वशं समेति ।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् युञ्ज्याद् वशे तं स हि देवदेवः ।।

(श्रीमद्भा० ११।२/२३/४६,४८)

वस्तुतः मानव के चरित्र निर्माण में प्रमुखतया मूल है--उसका मन। यदि उसका यह मन शास्त्र व्यवस्थानुकूल व्यवस्थित है, नियन्त्रित है, धर्मरत है, तो फिर उसके चरित्र में किसी भी प्रकार का विकार नहीं आ सकता। परं च कथंचित् उसका चञ्चल मन विविध विकारपुञ्जजन्य अविचार-झंझावात समाक्रान्त है तो फिर स्वाभाविक है कि उसका चरित्र भी अपावन, अनाचरणीय विकृत और अति निन्दनीय बन जाता है। इसीलिये इन समग्र दृष्टियों से चरित्र-निर्माण में मन ही नितान्त रूप से प्रमुख आधार हैं। तभी तो श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीप्रभु ने अर्जुन को--"मन्मना भव मद्भक्तः", "मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते", "मय्येव मन आधत्स्व" इत्यादि वचनों से मन-विषयक उपदेश किया।

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीसुदर्शनचक्रावतार श्रीमन्निम्बार्क

भगवान् ने अपने "ब्रह्मसूत्र" के 'वेदान्त-पारिजातसौरभ' भाष्य में एवं आप ही के पट्टशिष्य श्रीनिवासाचार्यजी ने 'वदोन्त कौस्तुभ' भाष्य के आनुमानाधिकरण प्रकरण में कठोपनिषद् के (१/३-३-९) मनोविषयक औपनिषद् मन्त्र उद्धृत किये हैं, वे मननीय है--

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।।
विज्ञानसारधिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णो परमं पदम् ।।

सभी शास्त्रों ने सर्वकारण-कारण इस मन को ही निश्चित किया है। प्रत्यक्ष में भी अनुभव दृष्टि से सुस्पष्ट है कि सर्वदा सर्वत्र क्षेत्र में मन ही सर्वेन्द्रियों का एकमात्र आधार है। 'अध्यात्म रामायण' के उत्तरकाण्ड में शरणागतवत्सल भगवान् श्रीराम लक्ष्मणजी को उपदेश करते हैं--

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः ।
विभावयेदेकमनन्यसाधनो विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थितः ।।

(अध्या.रा.उ.का.स.५,श्लो.४६)

परमात्मचिन्तनपरायण मुमुक्षु साधक का कर्तव्य है कि वह एकान्त स्थल में इन्द्रियों को विषय-रहित कर अन्तःकरण को अधीन कर आत्मा में स्थित हुआ इतर साधना-रहित विशुद्ध चित्त से केवल ज्ञान दृष्टि के द्वारा एकमात्र परमात्मा की ही भावना करे। 'अध्यात्म रामायण के अरण्यकाण्ड में भी कबन्ध ने गन्धर्वरूप धारण करने के बाद विनयावनत हो भगवान् श्रीरामचन्द्र की स्तुति करते हुए मन को श्रीप्रभु के स्वरूप चिन्तन में अग्रसर करने पर ही इङ्गित किया है--

यदस्मिन् स्थूले रूपे ते मनः संधार्यते नरैः ।
अनायासेन मुक्तिः स्यादतोऽन्यन्नहि किंचन ।।

(अध्या.रा.अ.का.स.९श्लो.४६)

'यदि मानव आपके मङ्गलमय अनुग्रह-विग्रह रूप में अपने मन

को प्रवृत्त कर दे तो वह बिना प्रयास के मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। अतः हे राम ! आपके इस नयनाभिराम मनोहर मङ्गलमय स्वरूप के अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ नहीं है।' 'श्रीरामचरित मानस' में भगवान् श्रीराम अपने प्रिय सखा श्रीसुग्रीवजी को उपदेश कर रहे हैं--

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।।

श्रीमानस में ही अन्यत्र जीव के मन में रहने वाली ममता आदि की आलोचना स्पष्ट है--

ममता तरुन अँधियारी । राग द्वेष उलूक सुखकारी ।।
तब लगि वसति जीव मन माहीं । जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं ।।

(श्रीराम च.मा. ५/४६)

श्रीनिम्बार्कपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीमत्परशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने अपने ''परशुराम-सागर'' ग्रन्थ में मनोविषयक कितना श्रेष्ठ उपदेश दिया है--

मन ही चञ्चल मन चपल, मन राजा मन रंक ।
'परसा' मन हरि सौं मिले, तौ हरि मिले निसंक ।।

इसी प्रकार श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज ने भी अपनी सरस वाणी में मन को सावधान किया है--

मनुवाँ हरि हरि भजन भला ।
धूम धाम मैं द्यौस गमायो, यह जग-धन्धा जला ।।
सुत बन्धू सब स्वारथ पागे, तू क्यों जाय रला ।
'गोविंदसरन' चित्त चेत सबेरा, क्यों दुख लेत डला।।

(श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यवाणी-पृ. २८प. १००)

रसिक भक्तशिरोमणि किशनगढ के महाराज श्रीनागरीदासजी ने अपनी वृहद् 'वाणी' में मन की स्थिति का बड़ा भावग्राही चित्रण किया है। वे कहते हैं--

पाप सपीटत जनम गयो ।
चित तैं थकि विश्राम न लीनो, अधिक-अधिक दुख भयो ।।
ज्यौं-ज्यौं तन यह जीरन ह्वै हीं, मन ह्वै नयो-नयो ।

'नागरीदास' बसो वृन्दावन, नित सुख रहै छयो ।।

(श्रीनागरीदास वाणी पृ. २११प. ५७)

तात्पर्य यह है कि सर्वविध रूप से इस विषयासक्त चञ्चल मन का पूर्ण निग्रह किया जाय। निगृहीत मन मानव के चरित्र-निर्माण में सहायक होगा। आज के युग में मानव के निर्मल चरित्र का जो अभाव हो रहा है, इसके मूल में कारण मन की प्रबल चञ्चलता ही है। यदि मन व्यवस्थित एवं सुनियन्त्रित है तो उज्ज्वल चरित्र का निर्माण स्वाभाविक है। अतः शास्त्रों के चिन्तन-मनन एवं महापुरुषों के सत्सङ्ग में रहकर स्थिर-बुद्धि से मन को पवित्रता पूर्वक सर्वेश्वर श्रीराधामाधव प्रभु के पदाम्भोजमकरन्द पाने के लिये अग्रसर करें। स्वतः ही हमारा चरित्र पवित्र होकर आदर्शरूप बन जायेगा । यही सर्वात्मना आचरणीय है।

अनन्त कृपा--पयोधि श्रीराधामाधव

अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधिपति, क्षराक्षरातीत, जगज्जन्मादिहेतु, निरतिशय-सौन्दर्य-माधुर्य-सौकुमार्य-सौगन्ध्य-सौशील्य-लावण्य-मार्द-वाद्यनन्तकोटिगुणार्णव, कोटिकन्दर्प-दर्प-दलन-पटीयान्, नवजलधररुचिर, अनन्तकृपाधिष्ठान, सर्वनियामक, सर्वविलक्षण, सर्वदेवाराध्य, सर्वेश्वर, परात्पर, परब्रह्म, वृन्दावननित्यनवनिकुंजविहारी, युगलकिशोर श्याम-श्याम श्रीराधामाधव की अनन्त अचिन्त्य अपरिमेय अनिर्वचनीय असमोर्ध्व कृपा का वर्णन वाणी अथवा लेखनी का विषय नहीं है। कदाचित् वे अनुग्रह-विग्रह, अकम्पानुकम्पामय, अकारणकरुण, करुणावरुणालय श्रीहरि ही अपने अहैतुक युगल कृपाकटाक्षों का अभिवर्षण कर जिस प्रपन्न रसिक भक्त को अभिषिक्त कर दें, वह भले ही श्रीप्रभु की अनन्त कृपा के स्वरूप की किञ्चित् अभिव्यक्ति करने में कुछ समर्थ हो, अन्यथा इस प्राकृत जगत् में प्राकृत मानव की प्राकृत भाषा के माध्यम से उन अच्युत अनन्त गोविन्द की अनिर्वचनीय कृपा का निर्वचन अत्यन्त दुरूह है।

भगवान् श्रीराधासर्वेश्वर की कृपा अपरिमित, अनुपम और लोकातीत है। यह विविध-विचित्र-संस्थान-सम्पन्न, चेतनाचेतनात्मक समग्र संसार उन्हीं लीलामय प्रभु की अचिन्त्यकृपा की ही अभिव्यक्ति है। समग्र विश्व-

ब्रह्माण्ड उन्हीं करुणार्णव सर्वेश्वर की कृपा पर ही अवस्थित है। सब कुछ उन जगन्नियन्ता की कृपा पर ही आधारित है। केवल साधन-सम्पन्नता, तपःसाधना, उपासना-सरणि आदि के बल पर ही वे लभ्य नहीं अपितु-

''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः''

(कठोप. १/२/२३)

वे कृपैकलभ्य हैं, जिसे वे अपनी लोकोत्तर कृपामयी दृष्टि से अभिषिक्त कर दें, वही उनके दिव्यातिदिव्य सच्चिदानन्दमय चिन्मय वपु के कमनीय दर्शनों का असीम सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कृपा के ये परमोच्च अद्भुत उदाहरण कितने सुन्दर हैं !--

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।

(९/३०)

'कोई अत्यन्त दुराचारपरायण भी अनन्य भाव-संवलित होकर यदि सतत मुझे भजता है तो वह साधु अर्थात् श्रेष्ठ ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।

(९/२२)

'जो भक्तजन अनन्य भाव से निष्काम होकर मुझ सर्वेश्वर का अनवरत चिन्तन करते हुए भजन करते हैं, उन नित्याभियुक्त जनों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

(१८/६६)

'समस्त धर्मों के आश्रय का परित्याग कर तुम एकमात्र केवल मुझ परमानन्दकन्द गोविन्द की अनन्य शरणागति का अवलम्ब ग्रहण करो। मैं तुम्हें निखिल पाप-पुञ्जों से उन्मुक्त कर दूँगा, तुम किसी प्रकार का शोक मत करो।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।

(४/११)

'हे धनञ्जय ! जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं अखिलान्तरात्मा भी उन्हें उसी प्रकार भजता हूँ। विवेकीजन इसी रहस्यमयी बात को जानकर सर्वतोभाव से मेरे निर्दिष्ट पथ का अनुगमन करते हैं।'

''सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।''

(वा.रा.६/१८/३३)

श्रीप्रभु के पादपद्मों में एक बार भी सच्चे हृदय से कोई यह कह दे कि 'भगवन् ! मैं आपका हूँ' केवल इतने कथन मात्र पर तो वे प्रभु अपनी अनन्तकृपा-कादम्बिनी की अजस्र रसधारा सीकरों से उसे अभिषिक्त कर देते हैं। यह कृपा की निस्सीम पराकाष्ठा है। वस्तुतस्तु वे श्रीराधामाधव कृपा के एकमात्र अधिष्ठान हैं, जहाँ से कृपा-पयस्विनी अखण्डरूप से प्रवहमान है--''तदात्मानं सृजाम्यहम्'', 'सम्भवामि युगे युगे' आदि महत्वपूर्ण भगवद्वचन उसी निर्हैतुकी कृपा का द्योतन करते हैं। श्रीगीता में अर्जुन की निम्नाङ्कित दिव्योक्ति भी उसी परम कृपा का संदर्शन कराती है--

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।।

(११/१)

'हे अनुग्रहनिकेतन भगवन् !! मुझ पर अनुग्रह (कृपा) के निमित्त ही आपके द्वारा यह परम गोपनीय अध्यात्म विषयक उपदेश प्राप्त हुआ, मेरे अन्तःस्थ अज्ञान का परिहार हो गया।'

यद्यपि इदमित्थं श्रीभगवत्कृपा का प्रतिपादन कभी सम्भव नहीं-

''यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।''

(तैत्तरीय. २/४/१)

तथापि उनके मङ्गलमय अनुग्रह से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा, श्रुतियाँ, ध्रुव, प्रह्लाद, नाग-पत्नियाँ आदि की स्तुतियों में श्रीभगवत्कृपा के वैशिष्ट्य का दर्शन होता है। ब्रह्माजी कहते हैं-

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय ।

आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ।।
(श्रीमद्भा.३/९/२)

'हे भगवन् ! आपकी चित्त-शक्ति के सम्प्रकायित होने के कारण अज्ञानान्धकार आपके निकट भी नहीं आ सकता, वह सदा ही दूर रहता है। आपका यह कमनीय रूप, जिसके नाभि कमल से मैं प्रकट हुआ हूँ जो सैकड़ों अवतारों का आदि कारण है, वह सर्वप्रथम साधुजनों पर कृपा-हेतु ही अवतरित हुआ है।'

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्सेश्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ।।
(श्रीमद्भा. ३/९/११)

'हे प्रभो ! आपका दिव्य पथ एकमात्र आपके गुणगण श्रवण से ही जानने में आ सकता है। आप यथार्थतः भक्त जनों के पराभक्ति से विशुद्ध अन्तःकरण में विराजते हैं। हे कृपामय गोविन्द ! आपके प्रपन्न भावुक भक्त जैसी भावना से युक्त होकर आपका स्मरण करते हैं, उन महापुरुषों पर अनुग्रहार्थ अर्थात् कृपा-हेतु आप वही स्वरूप धारण करते हैं।'

दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवो भारोऽपनीतस्तव जन्मनेंशितुः ।
दिष्ट्याङ्कितां त्वत्पदकैः सुशोभनैर्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम् ।।
(श्रीमद्भा. १०/२/३८)

'हे अनुग्रह-विग्रह प्रभो ! यह समग्र धरा तो आपका पादपद्म है। आपके अवतरित होने से इनका कष्ट दूर हुआ। हे गोविन्द ! हमारे लिये बड़े सौभाग्य की बात है कि आपके मङ्गलमय मनोहर चिह्नों से अङ्कित चरणारविन्दों से सुशोभित इस पृथ्वी का दर्शन करेंगे तथा इसी भाँति स्वर्ग को भी आपकी अनुपम कृपा से कृतकृत्य देखेंगे ।'

श्रुतियाँ भी प्रार्थना करती हैं--

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ।।
(श्रीमद्भा. १०/८७/१७)

'हे सर्वान्तर्यामिन् ! प्रणियों का साफल्य इसी में है कि वे आपका

निरन्तर चिन्तन करें, आपके उपदेश का अनुकरण करें, किन्तु ऐसा न करने पर उनका जीवन निरर्थक है तथा उनकी देहेन्द्रियों की स्थिति एवं प्राणों का सञ्चालन अर्थात् श्वास-ग्रहण वैसा ही है, जिस प्रकार लुहार की धोंकनी में वायु का प्रवेश एवं निस्सरण। महत्तत्व, अहंकार प्रभृति द्वारा आपकी अनुकम्पा से आपके उनमें प्रविष्ट होने पर ही निखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि सम्पादित होती है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, एवं आनन्दमय-इन पञ्चकोशों में पुरुष रूप से विराजने वाले आप ही हैं।'

स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरिर्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः ।
कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले ।।

(श्रीमद्भा. ४/९/४)

'भक्त ध्रुव पर प्रभु ने कृपा की, तब वे भगवान् की स्तुति करना चाहते थे, किन्तु किस प्रकार करें--यह नहीं जानते थे। सर्वान्तर्यामी भगवान् उनके मन की बात जान गये और उन्होंने कृपापूर्वक हाथ जोड़े खड़े हुए ध्रुव का कपोल अपने वेदमय शङ्ख से छूवा दिया ।

प्रह्लादजी अपनी दीनता और भगवान् की अनुकम्पा के विषय में कहते हैं--

क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिञ्जातः सुरेतकुले क्व तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ।।

(श्रीमद्भा. ७/९/२६)

'हे सर्वेश्वर ! कहाँ तो तमोगुण-संवलित असुरकुल में रजोगुण से समुत्पन्न मैं और कहाँ आपकी असीम अनुकम्पा ! नाथ ! धन्य है, आपने अपना महान् प्रसादरूप सर्वताप निवारक वह दिव्य करकमल मेरे मस्तक से स्पर्श कराया है, जो विधि, शिव और लक्ष्मीजी के शिर पर भी कभी स्पर्श नहीं कराया गया।' अपने पौत्र दैत्यराज बलि के यज्ञ में वे भगवान् वामन से कहते हैं--

त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं हृतं तदेवाद्य तथैव शोभनम् ।
मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्ममोहनात् ।।

(श्रीमद्भा. ८/२२/१६)

'गोविन्द ! आपने ही इसे ऐश्वर्यसम्पदायुक्त इन्द्रपद दिया था और

आज आपने ही उसे छीन लिया। आपका देना जिस प्रकार सुन्दर है, उसी प्रकार आपका लेना भी परम सुन्दर है। मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि आपने इस पर महती कृपा की है, जो आत्मा को व्यामुग्ध करने वाली राज्य-सम्पदा से पृथक् कर दिया।'

दर्प-दलित कालिय नाग के रक्तरञ्जित फनों पर नृत्य करते भगवान् बालकृष्ण से नाग पत्नियाँ कहती हैं--

अनुग्रहोऽयं भवतः कृतो हि नो दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।
यद् दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः ।।

(श्रीमद्भा. १०/१६/३४)

'आपने हम पर यह महान् अनुग्रह किया है। वस्तुतः यह तो आपका प्रसाद ही है, क्योंकि आप जो दुरात्माओं को दण्ड देते हैं, उससे उनके समग्र पाप धुल जाते हैं, इस सर्प के अपराधी होने में किसी प्रकार का संशय ही नहीं, कदाचित् ऐसा न होता तो इसे सर्प योनि क्यों मिलती। अतः हम शुद्ध अन्तःकरण से आपके इस क्रोध को भी आपका अनुग्रह ही समझती है ।'

एवंविध अनेक शास्त्र श्रीभगवत्कृपा के ऐसे असंख्य उदाहरणों से परिपूर्ण है। प्रभु का अनुग्रह-विग्रह ही आचार्यस्वरूप है, जो जगत् में भगवत्कृपावर्षण एवं भक्तिरसामृत की निर्मल धारा प्रवाहित कर लोक-कल्याण के लिये प्रतिक्षण सजग है। नित्यनिकुञ्जेश्वरी परमाह्लादिनी श्रीराधा के मञ्जुल कृपाकटाक्ष का वर्णन करते हुए आद्याचार्य श्रीभगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्र वन्दना करते हैं--

व्रजन्तीं स्ववृन्दावने नित्यकालं मुकुन्देन साकं विधायाङ्कमालम् ।
समामोक्ष्यमाणानुकम्पाकटाक्षैः श्रियं चिन्तये सच्चिदानन्दरूपाम् ।।

'जो अहर्निश निश्चित समय पर निकुञ्जविहारी श्रीश्यामसुन्दर प्रभु के साथ उन्हें अङ्कमाल देकर निज लीला-भूमि श्रीधाम वृन्दावन में विहार करती हुई स्वशरणापन्न भक्तों पर प्रेरित कृपाकटाक्षों से शोभायमान हैं, उन सच्चिदानन्दस्वरूपा रासेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी का मैं सदा ही चिन्तन एवं ध्यान करता हूँ ।'

भगवच्चरणानुरागी श्रद्धालु रसिकजनों के लिये संकेतमात्र पर्याप्त

होता है। अनन्त कल्याणगुणार्णव प्रभु के जैसे धाम, नाम और लीला अनन्त हैं, उसी प्रकार उनकी कृपा भी अनन्त है। भगवत्कृपा के बिना संसारासक्त इस जीव का कल्याण कदापि सम्भव नहीं है।

श्रीनिम्बार्क--साहित्य में संकीर्तन

श्रीभगवन्नाम संकीर्तन के परमाचार्य देवर्षि श्रीनारद हैं। वे अहर्निश वीणा धारण किये हुए सर्वेश्वर श्रीराधामाधव के मङ्गलमय नामों का, अपनी रसमयी रसना से तन्मयतापूर्वक श्रीयुगल-नाम रस का पान करते हैं। वे इस लोकोत्तर मधुरातिमधुर दिव्यातिदिव्य श्रीयुगलनाम रस का स्वयं भी पान करते हैं। तथा रसिक भगवद्भक्तों को भी सोल्लासमनस्क होकर पान कराते रहते है। इसी प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'नारद भक्तिसूत्र' के ये उपदेश कितने हृदयस्पर्शी है--''लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्'', ''स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति, अनुभावयति च भक्तान्।'' इस जगत् में स्पष्ट देखा भी जाता है कि श्रीहरि के मङ्गलय दिव्य गुण-गणों का श्रवण-कीर्तन करने से भक्ति का आविर्भाव होता है और वे सर्वेश्वर भक्तों द्वारा अनवरत संकीर्तन करने पर शीघ्र ही प्रकट होते हैं एवं अपने प्रिय भक्तों को अपना अनुभव कराते हैं।''

वस्तुतः देवर्षिप्रवर का आविर्भाव सकललोक-मङ्गल हेतु ही हुआ है। श्रीनिम्बार्क भगवान् इन्हीं के कृपापात्र शिष्यरूप में आचार्यवर्य हैं। ये इस धराधाम पर चक्रराज श्रीसुदर्शन के अवतार रूप में शास्त्र प्रतिपादित एवं लोक प्रसिद्ध है।

सुदर्शन ! महाबाहो ! कोटिसूर्यसमप्रभ !।
अज्ञानतिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय ।।

प्रभु के इस आज्ञानुसार आप अवतरित हुए और देवर्षि नारद से पञ्चपदीविद्यात्मक श्रीगोपालमन्त्रराज का उपदेश प्राप्त कर द्वापरान्त में आपने इस वैष्णव सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। 'ब्रह्मसूत्र' के 'भूमा समप्रसा-दादध्युपदेशात्' सूत्र पर अपने 'वेदान्त पारिजातसौरभ' भाष्य में परमाचार्यैः श्रीकुामरैरस्मद्गुरवे श्रीमन्नारदायोपदिष्टो भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इत्यत्र

भूमा प्राणो न भवति किन्तु श्रीपुरुषोत्तमः, कुत ? प्रणानुपरि भूम्न उपदेशात्' इस भाष्योक्त वचन से श्रीनारदजी को स्वकीय गुरु कहा है। इस प्रकार आपने 'वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी में भी--

उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे ।।

इस श्लोक से देवर्षिवर्य श्रीनारद से श्रीयुगल-उपासना की प्राप्ति की बात स्वीकार करते हैं। ब्रह्मसूत्र के भाष्य में और दशश्लोकी में महर्षि श्रीसनकादिकों से देवर्षि नारद को और देवर्षि से स्वयं श्रीनिम्बार्क भगवान् को उपासना-प्राप्ति एवं शिष्य परम्परा का संकेत किया गया है तथा साथ ही श्रीनिम्बार्क भगवान् स्वयं उपदेश कर रहे हैं--'उपासनीयं नितरां जनैः सदा' अर्थात् मानव मात्र को निरन्तर श्रीहरि की उपासना करनी चाहिये। यहाँ उपासना से आशय नवधा-भक्ति से है। भक्ति के नवविध रूप इस प्रकार वर्णित हैं--

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
(श्रीमद्भा. ७/५/२३)

नवधा-भक्ति में प्रथम भक्ति श्रवण-भक्ति अर्थात् श्रीप्रभु की दिव्यातिदिव्य ललित कथा-श्रवणरुपी भक्ति है। द्वितीय भक्ति है 'कीर्तन' अर्थात् श्रीहरि के मधुरातिमधुर मङ्गलमय नाम-गुणों का कीर्तन । यह संकीर्तन भक्ति सबसे सुगम और सद्यः फलप्रद है। भागवत में भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण के गोपाङ्गनाओं के प्रति ये दिव्य वचन कितने अनुपम हैं-'श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्' नाम कीर्तन से भगवान् सद्यः प्रसन्न होते हैं और अपने प्रिय भक्तों पर अपना सहज अनुग्रह करते हैं। इसीलिये तो देवर्षिप्रवर अनवरत लोक-कल्याण कामना से हरिगुण गाते, वीणा बजाते सर्वत्र लोकलोकान्तरों में विचरण करते हैं। श्रीनिम्बार्क भगवान् ने श्रीयुगल-उपासना में कीर्तन को विशेष महत्व दिया है। आपने श्रीयुगलरूप वन्दना में कहा है--

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ।।

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ।।
नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात् संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात् ।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ।।

श्रीयुगल-उपासना-परम्परा-विषयक श्रीआचार्यवर्य की नाम-कीर्तन-भक्ति के भावपूर्ण उद्गार 'श्रीराधाष्टकस्तोत्र' एवं 'प्रातः स्तवराज' में बड़े सुन्दर रूप से व्यक्त हुए हैं--

सदा राधिकानाम जिह्वाग्रतः स्यात् सदा राधिकारूपमक्ष्यग्र आस्ताम् ।
श्रुतौ राधिकाकीर्तिरन्तः स्वभावे गुणा राधिकायाः श्रिया एतदीहे ।।
(श्रीराधाष्टक, श्लोक ८)

प्रातर्ब्रवीमि युगलावपि सोमराजौ राधामुकुन्दपशुपालसुतौ वरिष्ठौ ।
गोविन्दचन्द्रवृषभानुसुतौ वरिष्ठौ । सर्वेश्वरौ स्वजनपालनतत्परेशौ ।।
(प्रातःस्तवराज, श्लोक ६)

'निखिलभुवनमोहन सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की परमाह्लादिनी शक्ति रासेश्वरी श्रीराधा का मधुरतम मङ्गलमय नाम मेरी रसना से सदा समुच्चरित होता रहे अर्थात् मैं निरन्तर उनके सरस सुभग नाम का परम पावन संकीर्तन करता रहूँ और सदा अपने नयनयुगल से उनके अतीव मञ्जुल स्वरूप के दर्शन का परम सौभाग्य प्राप्त करूँ। मेरे कर्णरन्ध्र प्रतिक्षण उन्हीं के सुयश का पान करें। मैं सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्य-कारुण्य-सौगन्ध्य-सौशील्य-औदार्यादि निखिल कल्याण-गुणगणों का ही अहर्निश स्मरण-चिन्तन करूँ। पुण्यमय प्रभात समय में शरणागतवत्सल व्रजेश्वरसुमन युगलकिशोर सर्वेश्वर श्रीराधामुकुन्द का, उनके मङ्गल स्वरूप का स्मरण करते अपनी रसना से उनका नाम-कीर्तन करना ही मेरी रसना की यथार्थ चरितार्थता है।'

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा में जगद्विजयी श्रीकेशव-काश्मीरि भट्टाचार्यजी महाराज ने 'श्रीकृष्णशरणापत्तिस्तोत्र' में नाम का ही कीर्तन गान किया है। यथा--

गोविन्द गोकुलपते वसुदेवसूनो गोपालकृष्ण गरुडध्वज गोपिनाथ ।
श्रीवासुदेव पुरुषोत्तम पद्मनाभ त्रायस्व केशव हरे शरणागतं माम् ।।

गोपीपते यदुपते नवनीतचौर वृन्दावनेश मुरलीधर पद्मपाणे ।
गोवर्धनोद्धरण धीर मुकुन्द शौरे त्रायस्व केशव हरे शरणागतं माम् ।।
(श्रीकृष्णशरणापत्तिस्तोत्र श्लोक १, ६)

इसी प्रकार अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर आचार्यप्रवर श्रीश्रीभट्टदेवाचार्यजी महाराज ने व्रज भाषा आदि वाणी 'युगलशतक' में एवं आचार्यप्रवर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने 'श्रीमहावाणीजी' में नाम-संकीर्तन का जो स्वरूप व्यक्त किया है, वह भी द्रष्टव्य है--

मन वच राधा लाल जपे जिन ।
अनायास सहजहिं या जग में, सकल सुकृत फल लाभ लह्यो तिन ।।
जप, तप, तीरथ, नेम, पुश्य, व्रत, शुभ साधन आराधन बिनही तिन।
जै 'श्रीभट्ट' अति उत्कृट जाकी, महिमा अपरंपार अगम गिन ।।
(श्रीयगुलशतक-सिद्धान्तसुख-पद ९)

करो मो रसना यहि रस पान ।
लाडिली ललन कौ मधु अमृत, या बिन अचौं न आन ।।
याही ठक में ठके रहौं दृग, अहो निसा उनमान ।
मुदित रहौं नित श्रीहरिप्रिया को, गाय गाय गुनगान ।।
(श्रीमहावाणी-सहज सुख ३९)

अनन्त श्रीमङ्गलकृत जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर आचार्यवर्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने अपने 'श्रीपरशुराम सागर' नामक वृहद् ग्रन्थ में नाम महिमा पर बड़ा ही विस्तृत विवेचन किया है, जिसका कुछ अंश निम्न प्रकार है--

अर्द्धनाम हरि को हरै, कलि को सकल बिकार ।
'परसा' प्रभु तैं जीव के, अघ न कछू अधिकार ।।
जप तप तीरथ व्रत करो, योग यज्ञ विश्राम ।
सर्व धर्म को परशुराँ, तिलक एक हरि नाम ।।
अति हित सों हरिनाम कौ, गावे सबै गिरन्थ ।
जगत उजागर सब कहे, 'परसराम' को पंथ ।।

'परसा' कलियुग दोष निधि, तामैं सुख हरि नांवु ।
सुमर्‍यों कटै कलंक सब, ता हरि की बलि जांवु ।।
सतयुग में तप आचरण, त्रेता जगि उपचार ।
द्वापर पूजा 'परशुरा' कलि कीर्तन में सार ।।
(श्रीपरशुरामसागर ८००, १४१६,१७३१, १८९६)

उपर्युक्त 'श्रीपरशुरामसागर' ग्रन्थ में सहस्रों दोहे, सहस्रों पद एवं सहस्रों ही छन्द, कवित्त तथा चौपाईयाँ हैं, जिनमे विविध स्थलों पर नाम-महिमा पर अद्भुत प्रतिपादन हुआ है। विस्तारभय से यहाँ कतिपय दोहे मात्र ही दिये गये हैं। इसी प्रकार श्री निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराज ने भी 'श्रीगीतामृतगङ्गा' ग्रन्थ में नाम महिमा पर सुन्दरतम विवेचन किया है। 'श्रीगीतामृतगङ्गा' का 'दशमघाट' पूरा श्रीभगवन्नाम-संकीर्तन परक ही है, जो परम मननीय है। उसी का संक्षिप्त उद्धरण निम्न रूप से अवलोकनीय है--

नाम चरित गुन कृष्ण के, ऊँचे सुर जु कहन्त ।
उह कहियतु हैं कीरतन, करत सु सन्त-महन्त ।।
नित्य कृत्य उन कौ सु यह, जेहैं हरि के दास ।
श्रीमुख नारद सौं कही, उठाँई मेरौ वास ।।
कलियुग में इह मुख्य है, अस साधन कोऊ नाहिं ।
और ठौर ठहरैं न कहुं, चित्तवृत्ति डिगि जाहिं ।।
(श्रीगीतामृतगङ्गा घाट १०, दो.१,२,३)

श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीपति आचार्यपाद श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज ने भी अपनी सरस वाणी में रसमय पदों द्वारा नाम-महिमा का बड़े ही उल्लास के साथ परिवर्णन किया है--

हरि हरि लागी रहत रटी ।
विमल विमल गावत माधव गुन, रसना नगन जटी ।।
जिन यह हरि रस चाख्यो नाहिंन, तिनकी बुद्धि लटी ।।
'गोविंदसरन' हरिभक्ति विमुख नर, तिनकी अकल घटी ।।
(श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्य वाणी-पद ६२)

नाम की महिमा लोकोत्तर है। इस महिमा का सर्वाङ्ग वर्णन शेष-

महेश-गणेशादि देवगण भी नहीं कर पाते । शिव-सनक-नारद-हनुमान्-विभीषण-प्रह्लाद प्रभृति महाभागवत प्रतिक्षण श्रीहरिनामामृत रस के पान में तल्लीन रहते हैं। यह नाम सुधारस अनुपम अनिर्वचनीय और इतना मधुर है कि जिसके पा लेने पर जीवन धन्य-धन्य हो जाता है। इहामुत्र सर्वत्र सार्वकालिक परमानन्द की अजस्र धारा प्रवाहित होने लगती है। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के परमाचार्यों, महामनीषियों, सन्त-महात्माओं, रसिक भगवद्भक्तों ने इसी हरिनामामृत-रस का अविरल-रूप से अपने महनीय ग्रन्थों में प्रख्यापन किया है। नाम-संकीर्तन प्रभावोद्बोधक अनेक विचित्र चरित भी सम्प्रदाय-ऐतिह्य में विपुलरूप में है। इन सबका दिशा-निर्देश मात्र ही यहाँ किया गया है।

श्रीनिम्बार्क--सम्प्रदाय में उपासना

वृन्दावने नित्यनिकुञ्जभागे कदम्बजम्बूविटपान्तराले ।
सार्द्धं मुकुन्देन विराजमानं स्मरामि राधापदकंजयुग्मम् ।।

श्री, सनकादि, रुद्र और ब्रह्मा-ये चारों वैष्णव सम्प्रदायों के आद्यप्रवर्तक माने जाते हैं। इन्हीं चारों के द्वारा निर्धारित की हुई सरणि (पद्धति) के प्रचारकों में सनकादि सम्प्रदाय के प्रचारक सुदर्शनचक्रावतार भगवान् श्रीमदाद्यनिम्बार्काचार्य भूतल पर प्रकट हुए। अतः वह हँस एवं सनकादि सम्प्रदाय आगे चलकर ''श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय'' नाम से प्रख्यात हुआ। सम्प्रदाय में प्रचलित आचार्य-परम्परा-वन्दनाओं से यह आशय स्पष्ट ज्ञात होता है[१]।

यद्यपि विक्रम की ११ वीं १२ वीं शताब्दी तक रचित प्राचीन सम्प्रदायाचार्यों के ग्रन्थों में नामतः उल्लिखित प्रपत्ति-चिन्तामणि, सदाचार-प्रकाश, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य आदि श्रीनिम्बार्काचार्यकृत बहुत से

---

१. श्रीहंसं च सनत्कुमारप्रभृतीन् वीणाधरं नारदम् ।
निम्बादित्यगुरुं च द्वादशगुरून् श्रीश्रीनिवासादिकान् ॥
(इत्यादि सायं-स्तुति)

ग्रन्थ-रत्न आज उपलब्ध नहीं हो रहे हैं तथापि वेदान्तपारिजात-सौरभ (ब्रह्मसूत्रों की सूक्ष्मवृत्ति), वेदान्तकामधेनु (दशश्लोकी), मन्त्ररहस्यषोडशी, प्रपन्नकल्पवल्ली, प्रातःस्तवराज आदि जो ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, उनमें भी श्रीनिम्बार्काचार्य की परम्परा, उपासना, सिद्धान्त आदि का स्पष्ट संकेत मिल रहा है।

भूमाधिकरण की वृत्ति में उन्होंने स्पष्ट कहा है--हमारे परमाचार्य श्रीसनत्कुमारों ने हमारे दीक्षागुरु श्रीनारदजी को जिस भूमातत्त्व का उपदेश किया था वह प्राण नहीं प्राण से भी बढकर परब्रह्म पुरुषोत्तम ही है[२]। परब्रह्म, पुरुषोत्तम, रमाकान्त आदि शब्दों का अभिप्राय युगलकिशोर श्रीराधाकृष्ण से ही है। अतएव जिज्ञासाधिकरण (ब्र० सू० १/१/१) की वृत्ति में प्रयुक्त ''पुरुषोत्तम'' शब्द का तात्पर्य उन्होंने 'वेदान्त-कामधेनु' के चतुर्थ और पञ्चम श्लोक में स्पष्ट करके षष्ठ श्लोक में मुमुक्षुजनों को यह आदेश दिया कि 'श्रीराधाकृष्ण-युगलकिशोरात्मक परात्पर परब्रह्म की ही निरन्तर उपासना करते रहना चाहिये । अखिल तत्त्वों के ज्ञाता श्रीनारदजी को उनके गुरुदेव श्रीसनकादिकों ने यही उपदेश दिया था। श्रीगुरुदेव (श्रीनारदजी) ने वही उपदेश हमें दिया है।

उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे ।।

(वेदान्तकामधेनु ६)

श्रीनिम्बार्काचार्य की भाँति ही श्रीसनकादिकों ने भी उपासना और उसकी प्राप्ति इसी प्रकार गुरुपरम्परा से बतलायी है--'हे देवर्षि नारद! यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो श्रीराधामाधव गोविन्द प्रभु की शरण लो। यह हमने अपने गुरुदेव श्रीहँस भगवान् के मुखारविन्द से सुना है। वही बात

---

२. परमाचार्यैः श्रीकुमारैरस्मद्गुरवे श्रीमन्नारदायोपदिष्टो भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः, इत्यत्र भूमा प्राणो न भवति, किंतु श्रीपुरुषोत्तमः, कुतः प्राणादुपरि भूम्नः उपदेशात् ।

(ब्र० सू० १/३/८ की वृत्ति)

हमने तुमसे कहीं[३]।

विभिन्न साधक-उपासकों की अभिरुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है, उसी के अनुसार दैशिक-आचार्यवर्य शरणागत मुमुक्षुजनों को आराधना का उपदेश देते हैं। सनकादिकों ने भी इसी लक्ष्य से वराह, कूर्म श्रीराम आदि अवतारों के तथा देवी आदि के चरित्रों का वर्णन किया है और सबके अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का दिग्दर्शन कराके उनकी उपासना करने का उपदेश दिया है। इस सम्बन्ध में उनका 'सनत्कुमारीय परमगुण-रहस्य'ग्रन्थ द्रष्टव्य है[४]। इसमें श्रीराधाजी के प्रादुर्भाव, बालचरित्र, विवाह आदि का विशेष वर्णन उपलब्ध होता है।

कुछ सज्जन श्रीराधा के सहित श्रीकृष्ण की उपासना को अर्वाचीन बतलाते हैं और उसके प्रवर्तक केवल श्रीनिम्बार्काचार्य को ही बतलाकर श्रीनिम्बार्क भगवान् का समय अनुमानतः वि० ग्यारहवीं शताब्दी ठहराते हैं। किन्तु गम्भीर अनुसन्धान से ये दोनों ही धारणाएँ सर्वथा निर्मूल एवं भ्रान्त सिद्ध होती हैं। श्रीराधा की उपासना श्रीनिम्बार्काचार्य से पूर्व भी प्रचलित थी और उन्हें परम्परागत रूप से ही प्राप्त हुई थी, जिसका फिर इनके द्वारा विशेष प्रचार हुआ श्रीनिम्बार्काचार्य का प्रादुर्भाव भी विक्रम की

---

३. यथा हि हंसस्य मुखारविन्दाच्छ्रुतं मया तत्कथितं रहस्यम् ।
गोविन्दमाद्यं शरणं शरण्यं भजस्व भद्रं यदि चेच्छसि त्वम्॥
(सनत्कुमारीय योगरहस्य उप० २ श्लोक ११)
'मया श्रुतं हंसमुखारविन्दात्तथा विधानं कथयामि साम्प्रतम्।'
(स० यो० २/१९)

यह ग्रन्थ अमुद्रित है। इसका पूर्वार्द्ध १८ उपदेशों में पूर्ण हुआ है। इसमें ६०० विविध छन्द हैं। अनुष्टुप्-मात्र से उनकी संख्या ७३० के लगभग बैठती है। इसकी एक प्रति श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ (सलेमाबाद) एवं श्रीनिकुञ्ज, वृन्दावन में सुरक्षित है।

४. यह ३६ उपदेशों एवं १४०० छन्दों का ग्रन्थ है। अनुष्टुप्-मात्र से १७०० के लगभग ग्रन्थ-संख्या होती है। उपर्युक्त स्थलों पर इसकी अमुद्रित प्रतियाँ सुरक्षित हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी से बहुत पूर्व हुआ था। श्रीनिम्बार्ककृत ''वेदान्तपारिजात सौरभ'' आदि ग्रन्थों के आधार पर अन्वेषकों ने यह प्रमाणित कर दिया है।

श्रीराधा सहित श्रीकृष्ण की उपासना का उपदेश जो सनत्कुमारों ने श्रीनारदजी को दिया था--

त्रिकालं पूजयेत्कृष्णं राधया सहितं विभुम् ।

(सनत्कुमारीय योगरहस्य ३/५)

--उसी आशय को ''उपासनीयं नितरां जनैः सदा'' (वे० का०६) इन शब्दों में श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने व्यक्त किया है। अतः श्रीराधा और उनकी उपासना को आधुनिक एवं अर्वाचीन बतलाना विचार विहीनता ही कहा जायगा ।

श्रीनारदजी के पूछने पर सनत्कुमारों ने श्रीराधाजी का जो परिचय दिया था, वह इस प्रकार है--

प्रेमभक्त्युपदेशाय राधाख्यो वै हरिः स्वयम् ।
वेदे निरूपितं तत्त्वं तत्सर्वं कथयामि ते ।।
उत्सर्जने तु रा शब्दो धारणे पोषणे च धा ।
विश्वोत्पत्तिस्थितिलयहेतु राधा प्रकीर्तिता ।।
वृषभं त्वादिपुरुषं सूयते या तु लीलया ।
वृषभानुसुता तेन नाम चक्रे श्रुतिः स्वयम् ।।
गोपनादुच्यते गोपी गोभूवेदेन्द्रियार्थके ।
तत्पालने तु या दक्षा तेन गोपी प्रकीर्तिता ।।
गोविन्दराधयोरेवं भेदो नार्थेन रूपतः ।
श्रीकृष्णो वै स्वयं राधा या राधा स जनार्दनः ।।

(सनत्कु.यो.र.उ. ७/४-८)

आदर्श प्रेम तथा भक्ति का अपनी जीवनचर्या द्वारा उपदेश देने के लिये श्यामसुन्दर श्रीहरि स्वयं ही 'राधा' नाम से प्रसिद्ध हुए। वेद में इनके तत्त्व का जिस प्रकार निरूपण हुआ है, वह सब मैं तुमसे कहता हूँ। 'रा' शब्द उत्सर्ग या त्याग के अर्थ में प्रयुक्त होता है और 'धा' शब्द धारण एवं पोषण के अर्थ में । इसके अनुसार श्रीराधा इस विश्व की उत्पत्ति, पालन तथा लय की हेतुभूता कही गयी हैं। आदि पुरुष विराट् ही वृषभ है, उसको

निश्चय ही वे लीलापूर्वक उत्पन्न करती हैं, अतः स्वयं श्रुति ने उनका नाम ''वषभानुसुता'' रख दिया है। वे सबका गोपन (रक्षण) करने से 'गोपी' कहलाती हैं। 'गो' शब्द गौ, भूमि, वेद तथा इन्द्रियों के अर्थ में प्रसिद्ध है। राधा इन 'गो' शब्दवाच्य सभी पदार्थों का पालन करने में दक्ष हैं, इसलिए भी 'गोपी' कही गयी हैं। इस प्रकार गोविन्द तथा श्रीराधा में केवल ब्राह्य रूप का अन्तर है, अर्थतः कोई भेद नहीं है। श्रीकृष्ण स्वयं राधा हैं और जो राधा हैं, वे साक्षात् श्रीकृष्ण हैं।'

इसी प्रकार आशय 'एकं ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपकम्।' इत्यादि अनेक तन्त्रग्रन्थों के वाक्यों में मिलता है। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय में इन्हीं श्रीराधाकृष्ण की समानता-एकात्मता की भावना से उपासना की जाती है।

अचिन्त्य अगोचर अनन्त-ब्रह्माण्डनायक श्रीराधासर्वेश्वर प्रभु का चाक्षुष प्रत्यक्ष दुर्लभ है। अतः चेतनाचेतनात्मक इस दृश्यमान विश्व को उन्हीं का रूप समझकर इसकी उपासना करने का भी श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने आदेश दिया है। तदनुसार ही श्रीगोपाल-यन्त्र में धर्म-अधर्म आदि समस्त विश्व की पूजा की जाती है। ब्रह्मात्मक होने के कारण ही यह विश्व यथार्थ (सत्) है[५]। जहाँ-जहाँ 'असत्' शब्द से श्रुतियों में इसका निर्देश मिलता है, वहाँ उसे अव्यक्तत्वादि धर्मपरक समझना चाहिये। मिथ्यात्वद्योतक नहीं। यदि कहीं मिथ्या शब्द का प्रयोग मिलता हो तो उसे विश्व की परिवर्तनशीलता का सूचक समझना चाहिये। इस सम्बन्ध में भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी की यह उक्ति मननीय है--

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः ।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता ।।

(वे० का० श्लो० ७)

जड-चेतनात्मक समस्त विश्व ब्रह्मात्मक, अतएव अपने उपास्य (आराध्य) का अंश एवं अङ्ग है। अतः किसी का भी अपमान न किया

---

५. सर्व खल्विदं ब्रह्म । (छान्दोग्य० ३/१४/१) । सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। (छान्दोग्य ६/२/१)

जाय। किसी से भी विद्वेष करना अपने उपास्य से ही विद्वेष करना होगा। विश्व के कण-कण में अनुराग एवं प्रेम होने से ही विश्वम्भर प्रभु सन्तुष्ट होते हैं, क्योंकि वे अणु-अणु में व्याप्त हैं। रज का एक कण भी ऐसा नहीं मिल सकता, जहाँ पर अपने आराध्य प्रभु विराजमान न हो[६]।

जिधर दृष्टिपात हो, उधर प्रभु ही दीख पड़े और कुछ न दीखे, जो कुछ सुना जाय, वह प्रभु का ही गुणगान है, जो कुछ ज्ञात हो रहा है, उससे अपने उपास्य प्रभु ही ज्ञात हो रहे हैं। यही भावना वास्तविक सुख-प्रदायिनी है[७]।

अतः इस सम्प्रदाय के किसी भी साधक को रुद्र आदि किसी भी देव में हीन भावना एवं द्वेष-दृष्टि नहीं रखनी चाहिये। यह व्यापक उपासना परम्परागत है। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने इसी भावना की दृढता के लिये स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि--'जिसमें दीनता (विनम्रता) आदि गुण (भाव) हों, उसी पर श्रीयुगलकिशोर प्रभु कृपा करते हैं और उनकी कृपा होने पर ही श्रवण-कीर्तन आदि (अपरा भक्ति) के साधक के हृदय में प्रेम-विशेषलक्षणा (परा) भक्ति का प्रादुर्भाव होता है[८]।

'भक्ति एवं उपासना के शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और उज्ज्वल (मधुर-शृङ्गार)-ये पाँच रस माने जाते हैं[९]। यद्यपि अपनी-अपनी भावना में एक-एक की प्रधानता है, तथापि प्रत्येक रस की उपासना में इन सबका थोड़ा-बहुत पुट अवश्य रहता है। साधक अपनी अभिरुचि के अनुसार इन

---

६. किंच किंचिदिह विद्यते नहि त्वां विनाण्वपि तथाखिलेश्वर।
(श्रीकृष्णस्तवराज श्लोक६)

७. यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा।
(छान्दोग्य० ७/२४/१)

८. कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा॥
(वे० का०)

९. शान्तं दास्यं च वात्सल्यं सख्यमुज्ज्वलमेव च ।
अमी पञ्चरसा ज्ञेयाः प्रोक्ता वै रसवेदिभिः ॥
(सिद्धान्तरत्नाञ्जलि, दशश्लोकी टीका, चतुर्थ परिच्छेद)

पाँचों में से किसी भी एक भाव को अपना सकता है। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में यद्यपि पाँचों रसों के उपासक हैं, तथापि प्रधानतया मधुर (उज्ज्वल) रस अभिप्रेत है। भगवान् श्रीआद्य निम्बार्काचार्य ने इन रसों का क्रमशः संक्षिप्त दिग्दर्शन कराते हुए कहा है--'भृत्य (दास), पुत्र, प्रिया एवं मित्र की भाँति निष्कपट होकर देह-इन्द्रिय-मन और प्राणों से उपासक को अपने उपास्य एवं उपदेक आचार्य गुरुदेव की सेवा करनी चाहिये[१०]।

यह मधुर रस की उपासना अर्वाचीन नहीं, परम प्राचीन है। अर्जुन ने भी इसी क्रम से प्रभु की प्रार्थना की थी--'जिस प्रकार पुत्र की त्रुटियों पर पिता क्षमा करता है, मित्र की त्रुटियों को मित्र और प्रिया (कान्ता) की त्रुटियों को प्रिय (कान्त) क्षमा करते हैं, उसी प्रकार हे प्रभो ! आप मेरी त्रुटियों को क्षमा करें[११]।' इस प्रार्थना में भक्ति के वातसल्य, सख्य और मधुर रसों का ही तो स्पष्ट संकेत है।

मधुररस-भावना में सभी स्त्री-पुरुषों का अधिकार है, साधक अपने को उपास्य प्रिया-प्रियतम श्रीयुगलकिशोर की सहचरी मानकर उनकी आराधना करता है। वह अपने को कान्ता नहीं मानता, क्योंकि कान्ता भाव में स्वसुख-सखित्व की झलक आ जाती है। श्रीकिशोरीजी के साथ स्पर्धा होकर ईर्ष्या-भावना का होना भी स्वाभाविक है, जिससे वह उत्तम उज्ज्वल रस नहीं रहता। प्रिया-प्रियतम बाल, पौगण्ड, कुमार, किशोर-किसी भी वय की लीला करें, उन्हें देखकर प्रमुदित होना और उसी क्रीड़ा के अनुकूल सेवा करते रहना उत्तम 'मधुर' (उज्ज्वल) रस कहलाता है। यही उज्ज्वल मधुर रस की उपासना श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में परम्परा से चली आ रही है। उपास्य श्रीयुगलकिशोर को माता, पिता, सखा, बन्धु, गुरु, विद्या, द्रव्य-सब कुछ मानकर उनकी आराधना की जाती है। भक्त उपासक तल्लीन होकर अभ्यर्थना करता है--

---

१०. देहेन्द्रियमनःप्राणैर्मायां हित्वा समाहितः ।
भृत्यवत्पुत्रवत्सेवेत् प्रियावन्मित्रवत्तथा ॥
(मन्त्ररहस्यषोडशी श्लो० १६)

११. पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥
(गीता ११/४४)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य का परलोक और पुनर्जन्म-सिद्धान्त

श्रीमते सर्वविद्यानां प्रभवाय सुब्रह्मणे ।
आचार्याय मुनीन्द्राय निम्बार्काय नमो नमः ।।

वेद-संहिता, ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद्, पुराण, स्मृति, सूत्र, महाभारत तथा रामायण आदि समस्त शास्त्रों में पुनर्जन्म और परलोक सम्बन्धी विशद विवेचनाएँ मिलती हैं। जहाँ-तहाँ जो शङ्कापरक वचन मिलते हैं, वे सब पूर्व पक्ष के रूप में हैं। दर्शनों में चाहे आस्तिक हों या नास्तिक, केवल एक चार्वाक्-दर्शन को छोड़कर सभी दर्शनकारों ने पुनर्जन्म और परलोक का समर्थन किया है।

स्थूलदेह विनश्वर है। इसके छहों भाव विकारों का प्रत्यक्ष अनुभव सभी को होता ही है।

'अस्ति जायते वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति।' यास्क मुनि की यह उक्ति तथा सस्यमिव मर्त्यो जायते पच्यते च।' नचिकेता का यह वचन अक्षरशः सत्य है। जो जन्मते हैं, बढते हैं, वे विकृत और क्षीण होकर विनष्ट होते रहते हैं।

जीवात्मा अजर-अमर एवं अविनाशी है। उस अपने अनादि कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त होते हैं, उनके द्वारा वह शुभाशुभ कर्मों के फलों को भोगता है और पूर्व संस्कारों के अनुसार कर्म करता रहता है। समय पाकर उनका वियोग हो जाता है। इस प्रकार जब तक जीवों के कर्म एवं उनके संस्कार बने रहते हैं, तब तक जन्म-मरणरूपी संसृति-चक्र चलता है। उन कर्मों का क्षय भोग से, ज्ञान एवं प्रभु की पराभक्ति से हो सकता है। परा-भक्ति द्वारा प्रभु साक्षात्कार होने पर कर्मों की निवृत्ति एवं मुक्ति हो जाती है, फिर पुनर्जन्म नहीं होता, यही भगवान् का कथन है--

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।

(गीता ८/१६)

सभी शास्त्रों का यही निष्कर्ष है और सभी शास्त्रीय विवेचक इस सम्बन्ध में एकमत हैं।

जीवात्मा अपने पूर्व स्थूल-शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर को इस प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार कोई जीवित व्यक्ति फटे हुए पुराने वस्त्रों को त्यागकर नवीन वस्त्रों को पहना करता है[१]। आत्मा वास्तव में न कटता है, न जलता है, न सूखता है, न गलता ही है[२]।

जीवात्मा शरीर से निकलकर दूसे शरीर में प्रतिष्ट होता है, अथवा पुनर्जन्म से छुटकारा पाता है। इन दोनों के दो मार्ग बतलाये गये हैं। पहले को 'धूमयान' (कृष्णगति) कहा है और दूसरे को 'देवयान' (शुक्ल-गति) एवं अर्चिरादि मार्ग कहा गया है। वेद-उपनिषद् आदि शास्त्रों में अर्चिरादि-मार्ग के क्रम वर्णन में जहाँ-तहाँ विभेद प्रतीत होता है, उन सबका समन्वय श्रीवेदव्यासजी ने स्वरचित ब्रह्मसूत्रों में कर दिया है।[३] संक्षेप में उसका निष्कर्ष यह है कि भगवान् के परम भक्त एवं ज्ञानीजन अर्चिरादि मार्ग से जाते हैं और वे मुक्त हो जाते हैं। उनके कर्मबन्धन समाप्त हो जाते हैं, अतः फिर उनका जन्म नहीं होता ।

इष्टापूर्तादि सकाम कर्मों में निरत रहने वाले जीव धूम मार्ग से जाते हैं और स्वर्गादि लोकों में पुण्य का फल भोगकर पुनः इसी मर्त्यलोक में लौट आते हैं। इसी प्रकार पापकर्म करने वाले नरकादि भोगकर पुनः यहाँ जन्म ग्रहण करते हैं।

इन दोनों मार्गों के अतिरिक्त तृतीय मार्ग क्षुद्र जन्तुओं का है, वह ''जायस्व म्रियस्व''[४] अर्थात् प्रतिदिन जन्मना और मरना ही है उनका उत्क्रमण न देवयान से होता है, न पितृयाण से।

समस्त वेद-पुराणों की सारस्वरूप भगवद्गीता में भी उपर्युक्त दोनों मार्गों का संक्षेप मं उल्लेख मिलता है।[५] पुनर्जन्म और परलोक का वहाँ कई स्थलों पर स्पष्टीकरण हुआ है। अर्जुन ने कहा-'हे जनार्दन ! जिनके कुल धर्मों का ह्रास हो जाता है।' (गीता १/४४) 'मुझे स्वर्गलोक के राज्य की वाञ्छा नहीं है।' (गीता २/८) भगवान् के भी ऐसे वाक्य हैं--'जो यज्ञ

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता २/२२।   २. वही २/२३।   ३. ब्रह्मसूत्र अ० ४।
४. छा० उप० ५/१०/८।   ५. गीता ८/२४-२५।

आदि सत्कर्म नहीं करते, उन्हें इस लोक में भी सुख नहीं मिलता, परलोक में तो मिलेगा ही कैसे ?' (गीता ३/३२, ४/४०) 'अच्छे कर्म करने वालों की इस लोक में एवं परलोक में भी दुर्गति नहीं होती।' (गीता ६/४०) 'ब्रह्मा के लोक तक पुनर्जन्म वाले लोक हैं।' (गीता ८/१६) 'पुण्य कर्मवाले इन्द्रलोक में जाकर उनका फल भोगते हैं।' (गीता ९/२०) 'पुण्य क्षीण होने पर स्वर्गलोक से मृत्युलोक में आते हैं। इस प्रकार सकाम कर्म करने वालों का आना-जाना बना ही रहता है।' (गीता ९/२१) 'देवताओं के आराधक देवलोक में और पितरों के आराधक पितृलोक में जाते है।' (गीता ९/२५)।

उपर्युक्त गीता-वाक्यों में परलोक के साथ-साथ पुनर्जन्म का भी संकेत है। इनके अतिरिक्त निम्नाङ्कित वाक्यों में और भी स्पष्टरूपेण पुनर्जन्म का उल्लेख है। 'जन्मे हुए की मृत्यु और मरे हुए का जन्म अवश्य होता है।' (गीता २/२७) 'हे अर्जुन ! मेरा अनेक बार अवतार हुआ है। तेरे भी कई बार जन्म हो चुके, किन्तु उनका तुझे स्मरण नहीं है।' (गीता ४/५) 'योगभ्रष्ट व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् पवित्र सम्पत्ति वाले एवं योगियों के घर में जन्म लेता है।' (गीता ६/४१) 'अनेकों जन्मों तक अभ्यास करने पर परम गति मिलती है।' (गीता ६/४५/ एवं ७/१४)।

कुछ व्यक्ति ''अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते।'' (श्रीमद्भा० ३/३०/२९) कपिलदेवकी इस उक्ति के आधार पर नरक-स्वर्गादि परलोकों का इसी मृत्युलोक में अन्तर्भाव कर बैठते हैं। उन्हें इसके उत्तरार्ध वाक्य पर भी विचार करना चाहिये--

''या यातना नारक्यस्ता इहाप्युपलक्षिता।''

अर्थात् 'चोरी आदि पापकर्म करने वालों को जो यहाँ दण्डादि भोगने पड़ते हैं, वे उन नरकादि लोकों की यातनाओं के भी उपलक्षक हैं। अर्थात् जिस प्रकार पापियों को दण्ड यहाँ मिलता है, उसी प्रकार परलोकों में उन्हें दण्ड भोगना पड़ता है।'

राजा परीक्षित् के पूछने पर श्रीशुकदेवजी ने भी यही कहा था कि 'भूलोक से नीचे के लोक इस लोक से भिन्न है।' (श्रीमद्भा. ५/२६/५) श्रीमद्भागवत में एक स्थल पर नहीं, कई स्थानों पर अतल आदि सात लोक भूलोक के नीचे और भुवः आदि छः लोक ऊपर बतलाकर चौदह लोकों का

एक 'ब्रह्मांण्ड' बतलाया है। ऐसे अनेक ब्रह्माण्ड विराट् पुरुष में समाये हुए हैं। इस सम्बन्ध में वेद-पुराण आदि शास्त्र और उनके व्याख्याता एकमत हैं।

आद्याचार्य भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने भी ऐसा ही स्पष्टीकरण किया है--

''उक्तलक्षणप्राणादिमाञ्जीवो हि सूक्ष्मभूतसम्परिष्वक्त एव देहं विहाय देहान्तरं गच्छति।''

(ब्र० सू० ३/१/१ की पारिजात-सौरभ)

अर्थात् 'जीवात्मा जब अपने पूर्व स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश करता है, तब सूक्ष्म शरीर के साथ ही जाता है।' इत्यादि वचनों से उनकी पुनर्जन्मसम्बन्धी मान्यता स्पष्ट होती है। पुनर्जन्म की मान्यता से परलोक की मान्यता यद्यपि स्वतः सिद्ध हो जाती है, तथापि उनकी रची हुई ''वेदान्त कामधेनु'' (दशश्लोकी) के तृतीय श्लोक में सूक्ष्मतया समस्त लोक-लोकान्तरों का दिग्दर्शन भी कराया गया है। श्रीपुरुषोत्तमाचार्यकृत ''वेदान्तरत्नमञ्जुषा'' (दशश्लोकी भाष्य) आदि ग्रन्थ इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है।

इसी सिद्धान्त का समर्थन श्रीनिम्बार्काचार्य के परवर्ती, श्रीनिवासाचार्य, श्रीदेवाचार्य, श्रीविलासाचार्य, श्रीसुन्दरभट्टाचार्य, श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य, श्रीहरिव्यासदेवाचार्य, श्रीपुरुषोत्तमप्रसाद, श्रीअनन्तराम आदि सभी आचार्य एवं विद्वान् ग्रन्थकारों ने किया है। शास्त्रीय वाक्यों के अतिरिक्त लौकिक युक्तियाँ और तर्कों से भी उन्होंने पुनर्जन्म और परलोक की सिद्धि की है। यह सिद्धान्त अनादि, अनन्त अतएव स्वभाविक है। किसी भी तार्किक में इसे विचलित करने की शक्ति नहीं है, चाहे वह कैसी भी आलोचना करता रहे।

श्रीनिम्बार्क साहित्य में निष्काम - कर्मयोग का स्वरूप

श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत तथा विभिन्न पुराणों में एवं वाणी साहित्य में निष्काम-कर्मयोग का विपुल रूप से प्रतिपादन हुआ है। वैष्णव साहित्य में भी उक्त प्रसङ्ग का विशद विवेचन मिलता है। निम्बार्क-साहित्य के साम्प्रदायिक शास्त्रों में विविध स्थलों पर निष्कामपरक निरूपण किया गया है और कर्मयोग पर सर्वाधिक बल दिया गया है। यहाँ इस सम्बन्ध में श्रीगीता के निम्नलिखित दिव्य उपदेश भी मननीय है--

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते ।
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।।

(९/२७, ११/५५, १८/९,२३,५७,६६)

मुण्डकोपनिषद् (३/२/१) के--'उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः' इस वचन से भी यही स्पष्ट होता है। अध्यात्म-रामायण एवं श्रीरामचरितमानस में निष्कामता का निर्वचन है--

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते ।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम् ।।
नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत् ।
ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता तस्माद्बुधो ज्ञानविचारवान् भवेत्।।

(अध्यात्मरामा०, उत्तरकाण्ड, ५/९-१०)

नमामि भक्त वत्सलं । कृपालु शील कोमलं ।।
भजामि ते पदांबुजं । अकामिनां स्वधामदं ।।
(रामच० मा० ३/३)

उपर्युक्त तथा महाभारत का निम्नलिखित वचन भी इसी ओर इङ्गित करता है--

कामात्मकाश्छन्दसि कर्मयोगा एभिर्विमुक्तः परमश्नुवीत ।
नानाविधे कर्मपथे सुखार्थी नरः प्रवृत्तो न परं प्रयाति ।।

इस दिशा में श्रीमद्भागवत-महापुराण के एकादश स्कन्ध में वर्णित नवयोगेश्वर तथा श्रीकृष्णोद्धव संवाद का प्रसङ्ग भी परम कल्याणकारी एवं मननीय है--

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ।।
(श्रीमद्भा० ११/३/४६)

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ।।
अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ।।
नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निः श्रेयसमनल्पकम् ।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ।।
(श्रीमद्भा० ११/२९/१०-११, ३५)

इन उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट है कि निष्काम-कर्मयोग से उन परात्परब्रह्म रसघनविग्रह भगवान् श्रीराधासर्वेश्वर की सहज कृपा हो जाती है। वस्तुतः मानव के जीवन में जहाँ किसी इह लौकिक या पारलौकिक कामना की यत्किंचित् भी गन्ध रहती है, वहाँ उन करुणार्णव श्रीसर्वेश्वर की स्वाभाविक सहज कृपा नहीं बरसती। अतः साधक के अन्तर्मानस में सर्वविध रूप से उन मङ्गलमय त्रिभुवनविमोहन प्रभु की मधुर मनोहर रूप माधुरी के पान करने को विशुद्ध उत्पन्न हो और तदर्थ निष्काम होकर भगवत्प्रीत्यर्थ ही कर्म किया जाय। यथा साधन उद्यान से तुलसी-पत्र-फलों का चयन कर स्वाराध्य को समर्पण करे और संमार्जनी से मन्दिर को स्वच्छ

करे, गोमय के आलेपन से सुसंस्कृत करे और पवित्र तीर्थोदक या कूपोदक से श्रीप्रभु का अभिषेक कराये और विविध सुगन्धित सुन्दर पुष्पों का शृङ्गार धारण कराये, उन्हें पवित्रता पूर्वक निर्माण किया हुआ नैवेद्य अर्पित करे, आदि-आदि। ये सभी कर्म श्रीप्रभु-प्रसन्नतार्थ ही सम्पन्न हों। ये सामान्य कर्म ही महान् निष्काम-कर्मयोग की परमोच्च स्थिति के द्योतक हैं। महाराज अम्बरीष राज्य संचालन करते हुए अपने उपास्य देव के लिये सभी कर्म निष्कामरूप से उपर्युक्त विधि से सम्पादित करते थे, जो महान् निष्काम कर्म योगियों में अन्यतम थे। निम्बार्क-सम्प्रदाय के सभी आचार्य-प्रवरों एवं सन्तों ने निष्काम कर्म परक ही अपनी आराधना स्थिर की है। श्रीनिम्बार्क भगवान् ने तो दशश्लोकी में ''नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्'' एव ''उपासनीयं नितरां जनैः सदाः'' कहकर निष्काम-कर्म का ही उपदेश किया है। आपने तो--

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम् ।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः ।।

(वेदान्तकामधेनु, दशश्लोकी-श्लोक १०)

उपर्युक्त श्लोक में जो 'निष्काम-भावना' का संकेत सकाम-कर्मादि के निषेधात्मक रूप में प्रतिपादित किया है, वह श्रीनिम्बार्क भगवान्-प्रणीत ''वेदान्त कामधेनु'', दशश्लोकी की प्रसिद्ध रचना है। इसकी विस्तृत व्याख्या 'वेदान्तरत्न मञ्जुषा' में श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी महाराज ने सातवें श्लोक की व्याख्या करते हुए निष्काम-कर्मयोग का जो स्वरूप उपदिष्ट किया है, वह सुन्दर विवेचन अवश्य द्रष्टव्य है। आप लिखते हैं--'तत्र कर्मयोगस्त्रिविधः। नित्यनैमित्तिककाम्यभेदात्। तत्राहरहः संध्यामुपासीत, वावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिना नित्यकर्तव्यतया विधीयमानानि संध्योपासन-जपस्नानतर्पणादीनि नित्यानि। एव यज्ञदानाध्ययनानि द्विजा-ग्र्यसाधारणानि। तेषां त्रयाणां तु निष्कामतयानुष्ठानं नित्यत्वं सकामतयानुष्ठाने च वृत्तित्वमिति विभागः। तच्च याजनादिनापि यावद्देहयात्रामात्रमेवादानम् अधिकं तु प्रतिग्रहः। अन्यथा दानस्य तृतीयस्य वैयर्थ्यात्। अतएव षट्कर्म-कत्रिकर्मक द्विजातिविभागोः ब्राह्मणस्य षट्कर्मकत्वं क्षत्रियवैश्ययोस्त्रिकर्मकत्वं चेति। अथेन्द्रियनिग्रहतीर्थसेवनोपवासफलाहारदेहशोषणान्नदानादानि

सर्वसाधारणानि कर्तृत्वाद्यभिमानशून्यैर्मुमुक्षुभिरनुष्ठिताना तेषां मनःशुद्धि-परम्परया ज्ञानभक्तिजनकत्वेन मोक्षसाधकत्वम्। सकामत्वेनानुष्ठीयमाने च काम्यकर्मकोटावन्तर्भाव इति विवेकः। अथ केनचित् कालादिविशेषनिमित्तेन विधीयमानं श्रद्धादिकं कर्म नैमित्तिकम्। 'स्वर्गकामो यजेत्यादिना सकाममधिकृत्य विधीयमानानि काम्यानि। तत्तु काम्यानां निशिद्धवत् संसारहेतुत्वाविशेषान्मुमुक्षुभिस्तानि हेयान्येव।'

इसी प्रकार श्रीनिम्बार्काचार्य परम्परानुवर्ती तत्पीठाधीश्वर आचार्य-प्रवर जगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यजी महाराज ने श्रीमद्भगवद्गीता की 'तत्त्वप्रकाशिका' नामक व्याख्या में अध्याय ९, श्लोक २७ के संदर्भ में जो विवेचना की है, वह भी हृदयंगम करने योग्य है--''अहो महान् भक्तेः प्रभावो यतो महाविभूतिरनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकोऽपि भवान् भक्त्यार्पित-मतिफलगुपत्रपुष्पाद्यपि अश्नाति । हन्त ! तर्हि भक्तस्यासाधारणं धर्मं वद येनाहमपि त्वद्भक्तः स्यामित्यत आह-यत्करोषीति। यत्स्वाभाविकं लौकिकं किंचित् कर्म करोषि। तथा यद्यदत्सि, यत्तपस्यसि। उपलक्षणमेतत्सर्वेषां नित्यनैमित्तिककर्मणाम्। तथा च यत्किंचित्स्वभावप्राप्त माहारविद्धारेक्षणादिकं यच्च शास्त्रविहितं होमदानव्रतस्नानादिकं सर्वं कर्म तदर्पणं मच्चार्पितं यथा स्यात्तथा कुरुष्व। कर्मकर्तृत्वमुपायमुपेयं च सर्वं मय्येवार्पयित्वा निर्भरत्वभवन-पूर्वकं स्वस्यैहिकामुष्मिकस्य सर्वस्य शुभाशुभस्य मदधीनत्वव्यवसाय इति-मदनन्यभक्तासाधारणो धर्मस्तस्मात्त्वं मदाराधनैकनिष्ठो मय्यार्पितसर्वस्वो भवेति भावः ।'

'ईशावास्योपनिषद्' के द्वितीय मन्त्र की व्याख्या करते हुए श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर आचार्यप्रवरों ने निष्कामकर्म-सम्पादन पर ही बल दिया है--यथा--विषयतृष्णारहितस्य मुमुक्षोः ब्रह्म विद्याङ्गभूतं स्वोचित-निष्कामकर्मानुष्ठानं कार्यमिति द्वितीयमन्त्रेण विधत्ते--

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

(ईशोपनिषद् मन्त्र २)

कर्माणि स्वोचितानि श्रौतानि स्मार्तानि च निष्कामानि ब्रह्मविद्याहेतु-कानि कुर्वन्नेवेह लोके शतं समाः शतवर्षपर्यन्तं जिजीविषेत्। पुरुषव्यत्ययः,

प्रकरणात् त्वं जिजीविषे जीवितुमिच्छेः नोचेत्कर्मत्यागे वैगुण्य ध्वनयन्नाह एवमिति। इतो हेतोस्त्वय्यन्यथा नास्ति, उक्तप्रकारेण त्वयि वर्तमाने कोऽपि दोषो नास्तीति भावः। ईश्वराधीनोऽहमिति ज्ञानबलेन त्वयानुष्ठितानि भगवदाज्ञापालनरूपनिष्कामकर्माणि न जन्मादिफलोत्पादकानि भविष्यन्तीति ध्वनयन्नाह 'न कर्म लिप्यते नरे।'

रसिकराज श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने भी ''श्रीमहावाणी'' ग्रन्थ में इस भाव को बड़े मधुर पदों में व्यक्त किया है--

हमें बलि बड़ौ यही है पोष ।
दम्पति की परिचर्या ही करि, पावैं परम संतोष ।।
दिनहिं लाडली लाल लडैलो, धरि उर और न ओष।
'श्रीहरिप्रिया' सुछीं कृति आगें, तुच्छीकृत सब मोष ।।
और न अभिलाषत कोउर, उर या ही रस में मन रसौ।
नित्य मेरे हियें हिलिमिलि दोऊ, श्रीहरिप्रिया बसौ ।।

(महावाणी, सहजसुख पद २०, २४)

इसी प्रकार श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने निष्काम कर्मविषयक विवेचना अपने 'श्रीपरशुरामसागर' में की है--

कर्म कष्ट हठ सठ करै, नाम हीण नर होय ।
परसादास न भर्मई, प्रकट सुपंति कौ खोय ।।

(श्रीपरशुरामसागर प्रथमखंड दो० ९)

इसी आचार्य परम्परा में श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज ने भी अपने वाणी ग्रन्थ में--

मन हरि को सरन सुख पाइये ।
सब विधि आन आस तजि भाई, हरि ही के गुन गाइये ।।

इत्यादि वचनों में यही भाव व्यक्त किये हैं।

वास्तव में श्रीनिम्बार्क-दर्शन के ब्रह्म सभी जीवों के स्वामी श्रीराधामाधव ही हैं। अतः एकमात्र (तत्सुखसुखित्वम्) उनकी सेवा तथा सुख में ही अपने को सुखी मानना विहित है। इसमें जीव की स्वयं की कामना को कोई स्थान नहीं है। निष्कर्ष यह है कि निष्काम-कर्मयोग ही साधक भक्तों के लिये सर्वदा आचरणीय है।

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय में भगवान् विष्णु

अनन्त-विश्व-ब्रह्माण्ड एवं निखिल चराचर प्राणियों के एकमात्र अधिष्ठान, अभिन्ननिमित्तोपादानकारण, सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर गोलोकविहारी भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रीविष्णु स्वरूप में अखिल ब्रह्माण्ड का नियमन एवं सम्पोषण करते हैं। ''संकल्पादेव तच्छ्रुतेः।'' ''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।'' (ब्रह्मसूत्र ४/४/८,२/१/३३) के अनुसार पुराण-पुरुषोत्तम श्रीमन्नारायण की अचिन्त्य-शक्ति अघटन-घटना-पटीयसी विश्वमोहिनी माया के संकल्प मात्र पर ही नाना लीला-विलास के निमित्त इस जगत् का सृजन, पालन और लय होता है।

विधि-शिव-पुरंदर-गन्धर्व-किन्नर आदि समस्त स्वर्गलोकवासी इन श्रीहरि की आज्ञा का अनुवर्तन एवं उनके द्वारा विहित विधान का परिपालन सतर्कता पूर्वक यथाविधि निरन्तर करते हैं। नवनीरद-श्यामल, कमल-लोचन, लक्ष्मी-वल्लुभ श्रीचतुर्भुज प्रभु के अनन्त अचिन्त्य स्वाभाविक निरतिशय ज्ञान-शक्ति-बल-ऐश्वर्य-तेज-वीर्य-सौशील्य-वात्सल्य-सौहार्द-सर्वशरण्यत्व-धैर्य-दया-सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्य-मार्दव आदि निखिल कल्याणगुण-समूह से आकृष्ट होकर निखिल लोक अपनी अतृप्त दृग्राशि से उनका दर्शन करने के लिये उत्कण्ठित रहते हैं। श्रुति-सूत्र-स्मृति-पुराण-तन्त्र आदि शास्त्र उनके गुण एवं स्वरूप का प्रतिपल वर्णन करते नहीं अघाते।

क्षीरशायी पद्मनाभ भगवान् विष्णु के ही संकेत मात्र से इस असीम सृष्टि का समस्त कार्य स्वतः संचालित है। इन्हीं के नाभि प्रदेश से ब्रह्मा की उत्पत्ति एवं उन्हीं ब्रह्मा से ही लोकसर्जन का शुभारम्भ होता है। विधाता की मानसिक सृष्टि में प्रथम सनकादि-नारद प्रभृति हैं। मनु के अनुसार ही बिन्दु-सृष्टि का उपक्रम है । जब सनकादिकों ने पितामह ब्रह्मा से एक गूढतम प्रश्न की (भा० ११/१३/१७ में) जिज्ञासा की तब चतुरानन निगूढ भाव संवलित इस रहस्यमय प्रश्न का यथार्थ समाधान करने में स्वयं को असमर्थ जानकर समाधिस्थ हो मन ही मन परमकरुणा-वरुणालय सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की श्रीविष्णु भगवान् के रूप में चिन्तन करने लगे। तभी

दयार्णव श्रीविष्णु ने हँस रूप से आविर्भूत होकर सनकादि महर्षियों के जटिलतम प्रश्न का यथोचित समाधान कर पञ्चपदीविद्यात्मक श्रीगोपालमन्त्रराज का उपदेश किया और उन्होंने ही हँस स्वरूप से गुञ्जा-फलसम शालग्राम स्वरूप श्रीसर्वेश्वर प्रभु सेवा जो श्रीनिम्बार्काचार्य भगवान् के परमाराध्य हैं। श्रीनिम्बार्क परम्परा का श्रीहँस भगवान् से ही शुभारम्भ होता है। उसी श्रीगोपालमन्त्रराज का उपदेश हँस भगवान् से श्रीसनकादिकों को प्राप्त होने पर देवर्षिवर्य श्रीनारदजी को भी मिला और वही मन्त्रराज देवर्षि के द्वारा सुदर्शनचक्रावतार श्रीनिम्बार्काचार्य भगवान् को विधिवत् उपदिष्ट हुआ तथा क्रमशः श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा भी प्राप्त होती रही है। इस परम्परा का संकेत स्वयं श्रीनिम्बार्क भगवान् ने स्वप्रणीत 'वेदान्त पारिजात-सौरभ' नामक 'ब्रह्मसूत्र'-भाष्य में एवं 'वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी' में सम्यक् प्रकार से किया है।

इससे श्रीनिम्बार्क-स्मप्रदाय में सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रीविष्णु रूप में अवधारणीय है। श्रीहँस भगवान् की अभिवन्दना करते हुए पूर्वाचार्यों ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया है--

हंसस्वरूपं रुचिरं विधाय यः सम्प्रदायस्य प्रवर्तनार्थम् ।
स्वतत्त्वमाख्यत् सनकादिकेभ्यो नारायणं तं शरणं प्रपद्ये ।।

'जिन्होंने हँस का स्वरूप धारण कर सम्प्रदाय के प्रवर्तन के लिये सनकादिकों को अपने तत्त्व का उपदेश दिया, उन भगवान् नारायण की मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

इसके अतिरिक्त श्रीमन्निम्बार्क भगवान् से परवर्ती पूवाचार्यों द्वारा विरचित 'सविशेष-निर्विशेष-श्रीकृष्णस्तवराज' में भगवान् श्रीविष्णु की अनिर्वचनीय मधुरिमा एवं अप्राकृत दिव्य महिमा का वर्णन बड़ी ही सरसता पूर्वक किया गया है--

तत्त्वमादिपदवाच्यविष्णवे जिष्णवेऽखिलगुरो भविष्णवे ।
आत्मनां यमयते प्रतेजसे नौमि ते मधुरिपो महौजसे ।।

'मधु-नामक राक्षस तथा मधु (शहद) के सदृश मधुर प्रतीत होने वाले इस जागतिक विषय-विष के विनाशक प्रभो! ब्रह्मा शंकरादि देवों के भी पथ-प्रदर्शक ! 'तत्' और 'त्वम्' आदि पदों के वाच्य, सर्वव्यापी,

सर्वविजयी, सर्वत्र विस्तार करने वाले, जीव समूह और उनके अन्तःकरणों का नियन्त्रण करने वाले, प्रखर तेज और अनन्तशक्तिसम्पन्न, रमानाथ श्रीविष्णु की वन्दना करता हूँ।'

पूर्वोक्त प्रकार से ही जगद्गुरु श्रीनिम्बार्कशरणदेवाचार्यजी महाराज ने 'श्रीसर्वेश्वरप्रपत्तिस्तोत्र' में श्रीमन्नारायणपरक अपना अद्भुत भाव प्रकट किया है--

हे नारायण नारसिंह नर हे लीलापते भूपते
पूर्णाचिन्त्यविचित्रशक्तिक विभो श्रीश क्षमासागर ।
आनन्दामृतवारिधे वरद हे वात्सल्यरत्नाकर
त्वामाश्रित्य न कोऽपि याति जठरं तन्मां भवात्तारय।।

(श्रीसर्वेश्वरप्रपत्तिस्तोत्र १३)

'निखिल-आनन्दामृत के अगाध सागर' भक्त-अभिवाञ्छित वर को प्रदान करने वाले सर्वोत्कृष्ट वात्सल्य-भाव के सिन्धु, अचिन्तनीय विचित्रशक्ति (सामर्थ्य) के केन्द्र, सर्वव्यापी, पूर्णब्रह्म, विश्वपति, अप्राकृत-ललितलीलानिकेतन, क्षमासागर नर एवं नृसिंह स्वरूप, लक्ष्मीप्राणवल्लभ हे नारायण विष्णो! आपके सर्वोच्च दिव्याश्रय को प्राप्त कर फिर कोई भी प्राणी जन्म धारण नहीं करता, अतएव हे भगवन्! मुझ शरणागत को इस भवसागर से पार करने का अनुग्रह करें।'

उपर्युक्त श्लोकद्वय के अतिरिक्त श्रीविष्णु-महिमापरक शतशः संस्कृत श्लोक तथा भाषा-पद्यावली विद्यमान हैं। जगद्विजयी श्रीकेशव-काश्मीरिभट्टाचार्यजी महाराज ने स्वप्रणीत 'श्रीकृष्णशरणापत्तिस्तोत्र' में श्रीकृष्ण ही विष्णु रूप है इसका सम्यक् निर्देश किया है--

ब्रह्मण्यदेव जनवल्लभ दीनबन्धो लक्ष्मीनिवास करुणालय कंसशत्रो ।
वैकुण्ठनाथ धरणीधर धर्मरूप त्रायस्व केशव हरे शरणागतं माम्।।
नारायणाव्यय विभो भवबन्धनाश वेदान्तवेद्य यदुनन्दन विश्वरूप।
श्रीवत्स श्रीधर गदाधर शङ्खपाणे त्रायस्व केशव हरे शरणागतं माम्।

(श्रीकृष्णशरणापत्तिस्तोत्र २, ५)

'हे ब्राह्मणों के प्रिय, भक्तवल्लभ, दीनबन्धो, लक्ष्मीनिवास, करुणानिधान, कंसका उद्धार करने वाले, वैकुण्ठाधिपति, धरणीधर, धर्मरूप

केशव ! मुझ शरणागत की रक्षा करो। हे अविनाशी, सर्वव्यापक, संसार-बन्धन का उच्छेद करने वाले, वेदान्तवेद्य, विश्वरूप, नारायण-नाम से प्रसिद्ध यदुनन्दन, हे श्रीवत्स और लक्ष्मी को वक्षःस्थल पर धारण करने वाले गदाधर ! शङ्खपाणे केशव ! मुझ शरणागत को उबार लो ।'

अन्य ग्रन्थों में भी इस प्रकार के अनेक पद्य मिलते हैं, जहाँ श्रीकृष्ण-श्रीविष्णु में एकरूपता की अभिव्यक्ति स्पष्ट है। श्रीनिम्बार्क भगवान् के उत्तरवर्ती आचार्यचरणों ने पर्याप्त रूपेण श्रीविष्णु रूप का विवेचन किया है तथा वैष्णवों की वैष्णवता भी तो इसी का ही बोध कराती है। वैष्णवों के सभी कर्म-धर्म श्रीविष्णुमय ही होते हैं, इसी प्रसङ्ग का महामधुर वर्णन श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने अपने विशाल 'श्रीपरशुरामसागर' नामक ग्रन्थ में किया है--

जलि बसै, थलि बसै, वृक्ष महीतल, बसै प्रिथि सुर्ग पाताल में विष्णु सोई ।
सकल कुल विष्णु बलकीट पाषान मैं, जत्र दीसें तोहि तत्रइ विष्णु होई ।।
अरु विष्णु मैं सकल सामानि है सम, देखियै विष्णु बिनु और दूजा ना कोई ।
वो ही विष्णु वैकुंठपति भयो व्यापक, सकल लहै 'परसा' निजदास कोई ।।

(श्रीपरशुरामचरितावलियाँ ख० १ /प० ४४)

एवंविध अगणित पद्य हैं, जिनमें पूर्वाचार्यपाद एवं अनेक सन्त-विद्वानों तथा भगवद्रसिक भक्तों ने अपने संस्कृत एवं भाषा ग्रन्थों में श्रीविष्णु स्वरूप का वर्णन किया। वस्तुतः इस सकल व्यापक ब्रह्माण्ड के एकमात्र बीजरूप गोलोकाधिपति वृन्दावनविहारी भगवान् श्रीकृष्ण ही वैकुण्ठाधिपति श्रीमन्नारायण भगवान् श्रीविष्णु के रूप में परम सुशोभित हैं।

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय में सदाचार

यदि मानव के जीवन में सदाचार न हो तो उसका जीवन पशुतुल्य ही है। केवल मानव शरीर प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं। जब तक मानव का समग्र जीवन वेदपुराणादि शास्त्र प्रतिपादित सदाचार से संवलित न होगा, वह एकमात्र मानवाभास रूप ही रहेगा। सदाचार ही मानव का महनीय भूषण है, सर्वस्व सम्पत्ति है और वही मानवता की आधारभित्ति एवं उत्तमोत्तम ऊर्ध्वलोक-प्राप्ति की मूल सरणि है अथ च श्रीभगवत्प्राप्ति में भी वह

अत्यावश्यक पालनीय कर्तव्य है। श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादि शास्त्रों में सदाचार पर सर्वाधिक बल दिया गया है, इस निम्नाङ्कित वचन से स्पष्ट है--

आचारात् फलते धर्ममाचारात् फलते धनम् ।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम् ।।

(महाभा० अनुशासनपर्व)

'सदाचार के परिपालन से धर्म की अभिवृद्धि तथा उपलब्धि होती है। सदाचार से यश की संप्राप्ति एवं त्याज्य अवगुणों का विनाश होता है।' महाभारत के ही 'दानधर्म' में सदाचार का वर्णन करते हुए उसके महत्व का निदर्शन कराया गया है--

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ।।

सदाचार से आयु और लक्ष्मी की उपलब्धि तथा यश मिलता है, और स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है, जिससे यह मानव परमानन्द की दिव्यानुभूति करता है। श्रुति-स्मृति आदि सभी शास्त्रों एवं ऋषि-मुनीश्वरो का यह विनिश्चय है कि आचार ही प्रथम धर्म है, अतः इसका पालन परमावश्यक है। सदाचार पालन करने वाला व्यक्ति सर्वत्र पूजित होता है। सदाचार सेवन से प्रजा की उपलब्धि होती है। सदाचार से अक्षय अन्न मिलता है। इस भाँति सदाचार की अनन्त महिमा है। सदाचार से स्वर्ग, सुख और मोक्ष भी मिलता है। सदाचार से क्या नहीं प्राप्त होता अर्थात् सभी कुछ सहज हो जाता है। सर्वगुणों से रहित मानव यदि सदाचार सम्पन्न हो तो वह श्रद्धायुक्त एवं निष्पातक रहता हुआ शतवर्ष पर्यन्त जीवित रहता है।-- 'धर्मान्न प्रमदितव्यमाचारान्न प्रमदितव्यम्' इत्यादि श्रुति वचन भी यही आदेश करते हैं कि धर्मपालन एवं सदाचार सेवन में प्रमाद (आलस्य) कदापि न करे। सदाचार के अनुसेवन के लिये शास्त्रों में अतिशय बल दिया है। सदाचारहीन पुरुष कभी भी श्रेय-प्राप्ति नहीं कर सकता--'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' सदाचार विवर्जित मानव को वेद भी पवित्र नहीं करते। वस्तुतः आचारहीन मानव उभयत्र विविध क्लेशों का अनुभव करता है और सर्वत्र अनादरणीय रहता है। ऋषि-मुनिजनों के, आचारनिष्ठ धर्मविद् धर्माचार्यों

के तथा तत्त्वज्ञ मनीषियों के कल्याणमय दिव्य वचनों से सुस्पष्ट है कि सदाचार का सर्वदा आचरण करना चाहिये।

वेदादि शास्त्रों के सिद्धान्तानुसार श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में सदाचार की सर्वाधिक मुख्यता है। वैष्णव संस्कारों मे सर्वप्रथम सदाचार की ही अपेक्षा रहती है। बिना सदाचार-पालन के शिष्यों को वैष्णव संस्कार ही नहीं प्रदान कराये जाते। श्रीसुदर्शनचक्रावतार श्रीमन्निम्बार्काचार्य भगवान् ने 'सदाचारप्रकाश' नामक एक वृहद् ग्रन्थ का प्रणयन किया है, जिसका वर्णन निम्बार्क सम्प्रदाय के तत्परवर्ती पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में है, परन्तु काल प्रभाव से आज वह दिव्य ग्रन्थ विलुप्त है। श्रीनिम्बार्क भगवान् कृत 'मन्त्रार्थ-रहस्य-षोडशी' एवं 'प्रपन्नसुरतरु-मञ्जरी' आदि ग्रन्थों में मन्त्र-दान के अधिकारी-क्रम में सदाचार-पालन पर विवेचन किया है। इसी प्रकार भगवान् श्रीनिम्बार्क ने 'ब्रह्मसूत्र' के 'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्य्ययैव तद्दर्शनात्' (४/१/१६) इस सूत्र के 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामक भाष्य में लिखा है--

विद्ययाग्निहोत्रदानतप आदीनां स्वाश्रमकर्मणां निवृत्तिशङ्का नास्ति, विद्यापोषकत्वादनुष्ठेयान्येव। यज्ञादिश्रुतौ तेषां विद्योत्पादकत्वं दर्शनात्।'

इसी प्रकार 'ब्रह्मसूत्र' के 'आचारदर्शनात् (३/४/३) इस सूत्र के 'वेदान्त-पाजित-सौरभ' भाष्य में श्रीनिम्बार्क भगवान् ने एवं 'वेदान्त-कौस्तुभ' भाष्य में श्रीनिम्बार्क भगवान् के प्रमुख शिष्य पाञ्चजन्य शङ्खावतार तत्पीठाधिरूढ श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराज ने सदाचार-पालन का विशद उपदेश किया है--

'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' भाष्य में--'जनकोऽहं वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे इत्यादि श्रुतिभ्यो जनकादीनामाचारदर्शनात्। तथा 'वेदान्तकौस्तुभ' भाष्य के--नेतरोऽनुपपत्तेः', 'भेदव्यपदेशाच्च', 'अनुपपत्तेश्च न शारीर' इत्यादि सूत्रों के आधार पर 'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' इत्यादि उभय भाष्यों के उद्धरण से सम्यक्रीत्या परिलक्षित है कि श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में सदाचार पर कितना अधिक बल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य साम्प्रदायिक प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थों में सदाचार को परमावश्यक परिपालनीय कर्तव्य माना गया है। वस्तुतः सदाचार सम्पन्न मानव अत्र परत्र

एवं सर्वत्र सुख-समृद्धि का अनुभव करता है। उसका सर्वत्र समादर है, वह सभी का श्रद्धा भाजन अर्चनीय एवं अभिवन्दनीय हो जाता है। अतः समग्र दृष्ट्या सदाचार नितान्त संसेवनीय आचरणीय और अवधारणीय है।

परम मङ्गलस्वरूप श्रीगणेश

आदिपूज्यं गणाध्यक्षमुमापुत्रं विनायकम् ।
मङ्गलं परमं रूपं श्रीगणेशं नमाम्यहम् ।।

तैंतीस कोटि देवताओं में श्रीगणेश का जो महत्व दृष्टिगत होता है, वह सभी से विलक्षण है। किसी भी देव की आराधना के आरम्भ में, किसी भी सत्कर्मानुष्ठान में, किसी भी उत्कृष्ट से उत्कृष्ट एवं साधारण से साधारण लौकिक कार्य में भी भगवान् गणपति का स्मरण, उनका विधिवत् अर्चन एवं वन्दन किया जाता है। यह परमश्रेष्ठत्व श्रीगणपति को ही प्राप्त है। ये भवभयहरण, मङ्गलकरण, सकल परमानन्द के धाम हैं। श्रीगणेश की असीम महिमा एवं उनके परम दिव्य मङ्गल-स्वरूप का मधुर वर्णन श्रुति-स्मृति-पुराण-तन्त्र-सूत्रादि ग्रन्थों में विस्तृत रूप से प्रतिपादित है। इनके मङ्गलमय पावन-विग्रह के दर्शन तथा स्मरण मात्र से ही त्रिविध पाप-ताप एवं विविध उग्रतम अन्तरायों का ध्वंस सहज में ही हो जाता है। श्रेष्ठ किंवा सामान्य अनुष्ठेय कार्य के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में श्रीगणपति भगवान् का स्मरण न हो तो समारम्भ किये हुए कार्य की सम्पन्नता कठिन हो जाती है। लोक में भी शास्त्रसिद्धान्तानुसार एवं प्रत्यक्ष नानाविध चमत्कृतिपूर्ण उदाहरणों से सुस्पष्ट है कि श्रीगणेश के स्मरण-पूजन के बिना अनेक विघ्न-बाधाओं का आना स्वाभाविक है। अतः इन महामङ्गल सुभग स्वरूप का ध्यान-आराधन परम अपेक्षित है।

श्रीगणेश जिस प्रकार ऋद्धि-सिद्धि-बुद्धि के दाता हैं, उसी प्रकार ये अपने अद्भुत रूप-सौन्दर्यपूर्ण विग्रह के दर्शनों से अनन्त सुख-समृद्धि के भी दाता हैं। बुद्धि-वैभव के तो ये सर्वतोमुख्य भण्डार हैं, तभी तो भगवान् वेदव्यास-प्रणीत महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थ के लेखन का कार्य इन्होंने ही पूर्ण किया। 'भगवन्नाम' अङ्कित कर और उसकी परिक्रमा करके सम्पूर्ण देवताओं से धरित्री-परिक्रमा में भी प्राथमिकता प्राप्त करने की

पौराणिक गाथा इनकी अद्भुत-मति-कौशल एवं हरिनामामृत महिमाभिज्ञता का संदर्शन कराती है। इसके अतिरिक्त ये गणपति अपनी संक्षिप्त अर्चना से ही अतिशय संतुष्ट हो भक्त को-सिद्धि से परिपूर्ण कर देते हैं। इनकी अर्चना कदापि निष्फल नहीं जाती। ऐसे सुभग सरल, वरद देव का अर्चन-स्मरण-चिन्तन सभी के लिये परम कल्याणप्रद है।

व्रज-रज का लोकोत्तर महत्व

यों तो भारतवर्ष की परम पुण्यमयी धरित्री के रज का ही महत्व अद्भुत है उसमें भी श्रीव्रजधाम की परम पावन दिव्यतम चिन्मय वसुन्धरा के महनीय रज का असमोद्ध्र्व माहात्म्य सर्वाधिक महत्वशाली है। इसी परम पावन दिव्य अवनि पर अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधिपति सकलनियन्ता, सर्वाराध्य, सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण होकर इस रज-रेणु में ललित लीला-विलास करते हुए अपने श्रीयुगलचरणारविन्द-विन्यास से संस्पर्श कर इस रज-रेणु को परम पावनातिपावन करते हैं। श्रीमद्भागवत में परिवर्णित व्रज रज का महत्व अवलोकनीय है--

ताविङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ।।

(श्रीमद्भा० स्क०१० अ० ८ श्लोक २२)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण-बलराम बाल-लीला के समय अपने सुकोमल चरणारविन्दों को व्रज रज कर्दम (कीचड़) में जब विहार करते हैं उस मसय श्रीयुगल चरणकमल के घुँघरू की मंगलमय रुन-झुन् ध्वनि इतनी मनोहर होती है जिसे सुनकर स्वयं श्रीप्रभु प्रमुदित हो उठते हैं और कभी-कभी तो पथिकों के पीछे चलने लगते हैं। इतर व्यक्ति के अवबोध होने पर पुनः लौट कर माता यशोदा और रोहिणी के पास आ जाते हैं।

धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र मज्जनमावह।
जन्मर्क्षमद्य भवतो विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः ।।

(श्रीमद्भा० स्क० १० अ० ११ श्लोक १८)

पुत्रवत्सला माता यशोदा भगवान् श्यामसुन्दर से कहती है--लाला! तेरा सर्वाङ्ग व्रज की धूलि से धूसरित होरहा है। शीघ्र ही स्नान कर क्योंकि

आज तेरा जन्म नक्षत्र है। पवित्र होकर व्रिपजनों को गोदान करना चाहिये।

व्रज रज की महिमा का, उसके महत्व का उसके अपूर्व माहात्म्य का वर्णन ही मानवमति से सर्वथा परे है। जिस व्रज की धरा की रज को स्वयं सर्वेश्वर श्रीकृष्ण अपने सर्वाङ्ग में आलेपन कर असीम आनन्द का अनुभव करते हैं वस्तुतः वह रज सर्वदा वन्दनीय एवं शिर पर अवधारणीय है। इस व्रजधाम के एक-एक रजःकण को प्राप्ति के लिए विधि-शेष-महेश-गणेश-स्वर्गेश-गन्धर्व-किन्नर प्रभृति देववृन्द एवं व्यास-शुक-शौनक-सनक-नारदादि देवर्षि-महर्षि मुनिजन सदा सर्वदा इस श्रीव्रजरज को अपने श्रीमस्तक पर धारण करने के लिये अनवरत एत्कण्ठित रहते हैं। ऋषि-मुनि-तपस्वी-योगी आदि महापुरुष व्रज की रज में लता-द्रुम-तृण के रूप में व्रजवास कर उस व्रज रज से सर्वदा अभिषिक्त रहते हैं। व्रज की अनुपम रज रेणु में अनवरत निष्ठा रखने वाले वे महापुरुष परम सौभाग्यशाली हैं जो सतत व्रजधाम में निवास कर व्रजधूलि का अर्चन-वन्दन करते हैं और वे व्रजवासी भी कितने धन्य हैं जो इस व्रज की पावन धरा पर मनुज जन्म लेकर निरन्तर व्रजरज में विलुण्ठित रहते हैं। व्रज के पशु-पक्षी कीट-पतंग-लता-द्रुम--ये सभी चेतनाचेतन अनुपम आनन्द का आस्वादन लेते हैं, वस्तुतः इनके सौभाग्य की सराहना मानव की लेखनी या वाणी द्वारा सम्भव नहीं स्वयं भगवती सरस्वती भी मूक हो जाती है।

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यपीठ विराजित रसिकाचार्यवर्य व्रजभाषा आदिवाणी-श्रीयुगलशतककार श्री श्रीभट्टाचार्यजी महाराज ने अपने ''श्रीयुगलशतक'' ग्रन्थ में ''जै श्रीभट्ट धूरि धूसर तन, यह आसा उर धार'' ''व्रजभूमि मोहनि मैं जानि'' इत्याादि पदों में व्रज भूमि रज की अनर्वचनीय महिमा प्रतिपादित की है।

व्रजरसरसिक श्रीनागरीदासजी श्रीव्रजरज के महत्व का कितना कमनीय मनमोहक भाव इस पद से अभिव्यक्त कर रहे हैं--

चाहैं गुल्मलता भयो ऊधौ व्रज-धूरि काज,
दण्डवत विधि इन्द्र परसत थल है।
लुढत अक्रूर व्रज-धूरि मांझ भूरि भाग,
परसत राग बाढ्यौ उर में अमल है।।

बालक विनोद लीला ''नागर'' गुपाल करैं,
व्रज-धूरि चाखैं साखैं सखा जे सकल हैं।
व्रज-धूरि धूसरत श्याम अंग राखैं व्रज,
धूरि कैं न सम और तीरथ को जल है।।

रसधाम श्रीवृन्दावन का रसमय श्रावण मास

रसपूर्ण श्रीधाम वृन्दावन की लोकोत्तर महिमा का अभिवर्णन वाणी किंवा लेखनी का विषय नहीं। नित्य नवकिशोर श्यामाश्याम श्रीराधामाधव प्रभु जिन रसिक महानुभाव पर कृपा करदें उन्हीं के माध्यम से श्रीवृन्दावन के असमोर्द्ध्व-स्वरूप का वर्णन संभाव्य है।

यद्यपि श्रीवृन्दावन नित्य रसमय अचिन्त्य आनन्दसुधास्वरूप है वहाँ सर्वदा सर्वत्र रस की अभिवृद्धि होती ही रहती है, तथापि उस लोकोत्तर रस की दिव्यानुभूति श्रावण मास में प्रत्यक्ष होती है। पावस ऋतु में श्रीयमुनाजी की अगाध गम्भीर धारा देखते ही बनती है। श्रीधाम के वनोपवनों लता कुञ्जों द्रुमावलियों का अतिशय मनोरम दर्शन स्वतः अमित आनन्द का अनुभव कराता है। मयूर की केका वाणी शुक-सारिका-कोकिल-चातक आदि खगगणों का दिव्य कूजन श्रीराधे-श्रीराधे की जयध्वनि का स्मरण कराता है। भृङ्ग-पुञ्ज अपनी मधुर गुञ्जार से श्रीप्रियालाल के गुणगान में नित्य संलग्न हैं, रसिक भावुकजन सुभग लता तरुवरों के समाश्रित होकर श्रीयुगल ध्यान श्रीयुगल चिन्तन परायण हो प्रतिक्षण उन्हीं परमोपास्य की पारस्परिक परिचर्चा में व्यस्त हैं। संसार की आधि-व्याधि शोक-संताप वहाँ स्पर्श तो क्या निकट क्षेत्र में भी प्रवेश नहीं पाते। व्रजवासी जन श्रीयुगल की रसमयी जयध्वनि समुच्चारण करते हुए इतस्ततः श्रीनिकुञ्ज वीथियों में स्वच्छन्द विचरण करते हैं।

श्रावण की अनिवर्चनीय अद्भुत श्याम घटा ने सुन्दर जलाभिवर्षण से श्रीवृन्दावन के अवनिस्थल को कितना सरस बना दिया है, दादुर, मोर-पपीहा तो नवजलधर के गर्जन-तर्जन को सुन-सुन अपनी अविराम कूजन से श्रीवनधरा-धाम को समुल्लसित किये हुए है। श्रीवन की समग्र धरित्री विविध तृणावलि-हरीतिमा से श्यामल कितनी सुशोभित हो रही है। त्रिविध

समीर एवं नानाविध कुसुम सौरभ सर्वत्र परिव्याप्त है। श्रीरासविहारी की मधुरातिमधुर दिव्यातिदिव्य महारसवर्षिणी श्रीरासलीला की अनिवर्चनीय छवि कितनी अनुपम है, मधुर है, सुखमय है लेखनी उसे व्यक्त करने में असमर्थ है। सखिवृन्द परिसेवित श्रीयुगललाल के ललित झूलों का शुभ दर्शन तो कितना सुन्दरतम है, चित्त स्वतः दर्शनोत्सुक होकर वहीं स्थिरता से संलग्न है। नेत्र दर्शनोत्कण्ठा में ज्यों के त्यों निर्निमेष रूप से स्थित हैं।

श्रीविपिनराज की श्रावण में पावस की विलक्षण मञ्जुल आभा कितनी हृदयाभिराम है, जिसे सुरवृन्द भी प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। श्रावण के परम ललित झूलों की अति विलक्षण छवि का अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीहरिव्यासदेचार्यजी महाराज द्वारा प्रणीत श्रीमहावाणीजी के इस पद से अनुभव करें।

आली री ! झूलत हैं नवललाल नव हिंडोरना ।
नवल वृन्दाविपिन अवनी, सहज सुखद रसाल ।
ललित लतिका लपटि रही, लहलही तरुन तमाल ।।
फूल फल दल विमल झलमल, बरन बरन बिसाल ।
भयो सुरभित सकल बन घन, मुदित मधुकर माल ।।
नवल कुंज निकुंज प्रति प्रति, रही अति छवि छाइ ।
उमडि उमडि सुघाट घट सों, घटा घुमडी आइ ।।
बकनि पाँति सुभाँति दमकनि, दामिनी दरसाइ ।
त्रिविध पवने गवन की मन, रवन लेत रमाय ।।
नवल निरमल नीर जमुना, बहत तरल तरंग ।
तहाँ कमलकुल डहडहे अँग, अँग रंग सुरंग ।।
जुगतटी नगजटी सुमन, सुअटी सौरभ संग ।
तीर तीरनि तरुन की छवि, भीर उदित उतंग ।।
नवल चातिक सुक पिकन की, मधुर धुनि सुनि मंद ।
कुहुक कै कै केकि केकिन, नृत्य करत सुछंद ।।
बजनि बाजनि बिबिध अली, सुमिलि चाली चंद ।
तैसिये रमकनि झमक गति में, बढत अति आनंद ।।

नवल नीरज निलय आँगन, रच्यौ रंगहिंडोर ।
तहाँ झूलत फूल फूले, उभय नवलकिसोर ।।
पुलक प्रेमानंद में सुख, बढ्यौ नाहिंन थोर ।
अंग संगनि सहचरी छवि, भरी लेत हिलोर ।।
नवल लचकनि मचनि में मुरि, उरनिकी उरभरनि ।
कचनि की छबि कटि निकटसों, लटकि अटकी आनि ।।
अरुन बरन पटम्बरनि की, फबि रही फहरानि ।
चपल चखि चितवनि लसी, हिय बसी मृदुमुसुकानि ।।
नवलडांडी कर गहें दोऊ, झूमि झुकि रस लेत ।
मृदुल अंग मनोज मोहन,सुरत संग निकेत ।।
चंद्रिका की चटक मंजुल, मुकुट अति छबि देत ।
किरत कवरी कुसुम रंजन, गिरत गुलिक उपेत ।।
नवल केलि कला कुतुहल, रमत रहसि उमाहिं ।
रुख लिये दोउ रसिक सनमुख, सुख न वरन्यो जाहिं ।।
सखि सहेली सहचरी छबि, निरखि दृग न अघाहिं ।
हितू 'श्रीहरिप्रिया' बिलसत हुलसि हीय न माहिं ।।

श्रीवृन्दावन धाम का रसमय फाग विहार

सर्वोपरिधाम श्रीवृन्दावन के श्रीनिकुञ्ज धाम का परम मधुर रसमय फाग-विहार इतना अनुपम अनिवर्चनीय लोकोत्तर एवं अत्यन्त विलक्षण होता है जिसका परिवर्णन प्राकृत वाणी किंवा लेखनी का माध्यम नहीं है। यह तो उन श्रीश्यामाश्याम के नित्य-निकुञ्ज रसोपासक रसिकाचार्यों की ही एकमात्र क्षमता है जो इस प्राकृत धराधाम पर अप्राकृत दिव्य रसमय स्वरूप का साङ्गोपाङ्गतया अपनी सरस वाणी-ग्रन्थों में निरूपण किया है। वे रसिकाचार्यवर्य निकुञ्जविहारी श्रीप्रियाप्रियतम की असमोर्द्ध ललित लीलाओं का प्रत्यक्षानुभव कर उनका यथावत् अपनी मञ्जुल पदावली में वर्णन करते हैं। वस्तुतः वाणी-ग्रन्थों में अभिवर्णित श्रीयुगल लीलारस अचिन्त्य अद्भुत और परम असीम है।

आचार्यप्रवर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने इसी रसमय फाग-विहार का जो सरस गान किया है वह कितना हृदयग्राही है--

मेरो अलकलडीलौ अलबेलो, हो अलबेलो हियरेको मंडनहार ।
एक पलक बिसरें न बिसास्यौ, धास्यौ गहि उरजन अगवार ।।
रङ्गरङ्गीलौ छैल छबीलौ, अति रसभस्यौ उदार ।
फाग खिलावत फूलसों, मोहि करि करि बहु मनुहार ।।
मृदुल मनोहर मंजुलौ, सोहत सुखद सुढार ।
आनन्दकंद भरयौ मकरंदै, सहज सौरभ उदगार ।।
लागत प्यारी प्राननि ते मोहिं, सुमनहुं ते सुकुमार ।
बिछुर परै जो तनकहुं, तन ते बीतत कल्प अपार ।।
चिहुंट्यौ रहै चिपायतौ चित, चिमतकार सुखसार ।
'श्रीहरिप्रिया प्रेमरसरंजन, संजन सुरत बिहार ।।

(श्रीमहावाणी-उ० सु० प० २२)

स्यामास्याम निकुंज भवन में, रङ्ग भरे खेलैं होरी ।
तैसिय संग रहेली सुन्दरि, सखी सहचरी गोरी ।।
रमकि झमकि उचकनि उरजन की, लचनि लंक चित चोरी।
निरखि थकित भयो मन मोहन, कौ नीवी बंधन डोरी ।।
अति अनुराग भरी पिचकारी, प्यारी पिय पर छोरी ।
रोम रोम रमि रह्यौ रंग, आनन्द उमंगन कोरी ।।
मुसकनि हँसनि अबीर गुलालनि, मार मची दुहुँ ओरी ।
तिहिं धूंधरि में सोहत है 'श्रीहरिप्रियाजू' की जोरी ।।

(श्रीमहावाणी-उ० सु% प० १५)

श्रीयुगल प्रियालाल फाग-विहार में विविध सौरभ समन्वित वसन्त-पीत-अरुण प्रभृति नाना रङ्गों एवं अबीर-गुलाल की रसभरी होरी में जब सराबोर हो जाते हैं तो उस समय श्रीअङ्ग की शोभा इतनी मनोहारी एवं परम विलक्षण हो जाती है जो अतिशय दर्शनीय है। इस असीम दिव्यातिदिव्य शोभा का विलोकन करती हैं नित्य निकुञ्ज सहचरियाँ अथवा अनवरत श्रीयुगल लीला रस भावभावित श्रीरसिकाचार्यवर्य अपने पावन मानस में इन्हीं लोकोत्तर ललित लीलाओं का अपरोक्ष अनुसन्धान करते हैं। तभी तो

अपनी कोमल कलित पदावलियों में उस दिव्य रस निर्झरणी की अनुपम धारा कितनी मनोरमता से प्रावहित करते हैं।

मेरौ रँगीलौ भाँवतौ ।
ज्यों ज्यों कहों त्यों त्योंहीं केलैं, रेलैं रंग सुहावतौ ।।
जो कहौं कमलकुञ्ज में चलिये, तौ न करै अनचावतौ ।
जो कहौं कमलनिकुञ्ज के लियै, तो करै यही कहावतौ ।।
निसिदिन रुख लिये ही सनमुख, रहत सुखैं सरसावतौ ।
(श्री)'श्रीरिप्रिया' मो में श्रीहरिप्रिया, सहजहिं बन्यौ बनावतौ ।।

(श्रीमहावाणी-उ० सु० प० २५)

उपर्युक्त इन मधुर पदों में श्रीराधामाधव के फाग-विहार का जो निरूपण आचार्यवर्य्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने किया है वस्तुतः वह अतिशय विलक्षण एवं परम चित्ताकर्षक है। रसिक भक्तों को ऐसे परम सुन्दर रसपूर्ण श्रीयुगल लीलाओं का अभिचिन्तन कर अपने जीवन को पूर्णतः कृतार्थ करना चाहिए ।

महिमामयी व्रजभूमि का परम मनोहारी वसन्तोत्सव

यों तो भारत की रम्य वसुन्धरा पर वसन्तोत्सव सर्वत्र ही अपनी-अपनी परम्पराओं के अनुसार प्रतिवर्ष मनाया जाता है, किन्तु व्रज का वसन्तोत्सव अपनी अनिवर्चनीय लोकोत्तर महिमा को लिए हुए विधि-शिवपुरन्दरादिकों को ही नहीं अपितु व्रजेश्वर श्रीश्यामसुन्दर को भी सतत अपनी ओर आकृष्ट किये हुए रहता है। स्वयं श्रीप्रभु ने भी श्रीमुखवचन से श्रीमद्भगवद्गीता में "ऋतूनां कुसुमाकरः" यह समादेश कर ऋतुराज वसन्त और वसन्तोत्सव की अभिव्यक्ति की है। वस्तुतस्तु व्रज की महामहिमामयी दिव्य अवनि पर यह उत्सव अपने प्रकार का अद्भुत और परम मनोहारी होता है। युगलकिशोर श्रीश्यामाश्याम अपनी अन्तरङ्ग नित्यनव-सहचरी परिकर के साथ इस महोत्सव को विविध सौगन्धिक द्रव्यों से सुवासित, अबीर (गुलाल) एवं नाना वसन्त कुसुमस्तवक प्रभृति से उल्लासभरी उमङ्ग

पूर्वक ललित केलि विलास में अभिरत हो इस वसन्त की वास्तविकता को मूर्तमान कर रसपिपासु रसिकजन को आह्लादित करते हैं। श्रीधाम वृन्दावन और व्रज के वे निवासी धन्य हैं जो इसब्रह्मादिदेव दुर्लभ रस का प्रतिक्षण आस्वादन लेते हैं व्रज की पावन वीथियों एवं कुञ्ज-कुञ्ज में ''श्याम। श्याम सलोनी सूरत को शृङ्गार वसन्ती है'' की मनोमुग्धकारी गगनस्पर्शी मधुर स्वर लहरी गुञ्जायमान होती रहती है। इसी वसन्त से होली का भी समारम्भ हो जाता है। अपने रसिकाचार्यों ने अपने परम दिव्य रसमय वाणीग्रन्थों में इस वसन्तोत्सव एवं होली का बड़ा ही चित्ताकर्षक सरस वर्णन किया है। रसिकाचार्यवर्य्य महावाणीकार अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य पादपीठाधीश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज के निम्नांकित पद से वसन्तोत्सव एवं होलिकोत्सव का असमोर्द्ध वर्णन यहाँ संदर्शित है--

श्रीश्यामा जू खेलत रंग भरी, रंग हो हो हो हो हो होरी ।
रंग रंगीली संग लिये, हाथन फूल गुलाब छरी ।।
एक ओर कीने मन मोहन, तिनकी सखी तिन ओर करी ।
रमकि रमकि उपकरन लियेकर, झमकि झमकि आई सबरी ।।
उड़ि जू गुलाल अरुन भयो अम्बर, पिचकारिन की लागि झरि।
बढ्यौ खेल रसरेल पेल की, सुधि हूँ कि जहाँ सुधि बिसरी ।।
डफहि बजावत गावति चाचरि, गारि धमारिन धूम परी।
भयो हैं विपिन सब राग रंगमय, कौतुक बरन्यो जात न री ।।
उठी जू उमङ्ग उर अलबेलि के, मुख लेपन मिस आनि अरी ।
'श्रीहरिप्रिया' निसङ्कअङ्कभरि, लीनी प्रान सजीवन जरी ।।

श्रीभगवल्लीलाओं के दर्शन से पराभक्ति

शास्त्रों में प्रतिपादित नाम, रूप, लीला और धाम के सतत अनुस्मरण, दर्शन, सेवन से अनिर्वचनीय परमानन्दानुभूति एवं श्रीभगवच्चरणानुरक्ति हृदय में आविर्भूत होती है, तथा वही अनुरक्ति आगे चलकर पराभक्ति के रूप में विकसित हो जाती है।

उपर्युक्त नाम, रूप लीला, धाम इस चतुर्विध साधन स्वरूप में भी

लीला के स्वरूप का और भी अधिक माहात्म्य है। वस्तुतः श्रीहरि की रसमयी लीला के दर्शन-चिन्तन और अनुसेवन से अवर्णनीय रसाभिव्यक्ति होती है, जिसका निरूपण सम्भव नहीं है वह तो केवल हृदयसंवेद्य है।

श्रीभगवल्लीलाओं का पावन चरितानुकरण के रूप में जो श्रद्धालु-भावुकों को दर्शन कराया जाता है और उसमें जो अनुपम माधुरी, अपूर्व सरसता प्रकट होती है, यथार्थ में उसका परिवर्णन वाणी किंवा लेखनी का विषय नहीं है।

रसिकाचार्य रसिक महानुभावों के पवित्र उत्तम सङ्ग से, उनके उपदेश श्रवण से, उनके पावन वाणी-ग्रन्थों के मनन से, श्रीभगवल्लीला दर्शन की उत्कण्ठा जागृत होती है। तब श्रद्धालु साधक तन्मयता पूर्वक श्रीभगवल्लीलाओं का रसास्वादन प्राप्त कर अपने को सौभाग्यशाली मानता है।

श्रीरासलीलानुकरण उन्हीं श्रीभगवल्लीलाओं में सर्वोपरि लीला निरूपित हुई है। भगवान् रसिकेश्वर नित्य-वृन्दावनरासविहारी युगलकिशोर श्यामाश्याम श्रीराधामाधव श्रीवृन्दावन की मञ्जुल कुञ्ज-निकुञ्जों में, कलिन्दजा के कलित नवल ललित पुलिन पर कोटि-कोटि-सखिवृन्द समुल्लसित हो नरीनृत्यमान रहते हैं। जिन्हें रसिकजन अपने हृदय में धारण करके असीमानन्द प्राप्त करते हैं।

बिना भगवत्कृपा के श्रीरासलीला के निगूढतम रहस्य के स्वरूप का परिज्ञान सम्भव नहीं है। श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादि शास्त्रों एवं रसमर्मज्ञ रसिकाचार्यों की दिव्य वाणी-ग्रन्थों में श्रीरासलीला के स्वरूप का जो प्रतिपादन हुआ है वह अनुपम है। यहाँ संक्षेप में अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराज के एवं इन्हीं आचार्य श्रीचरणों के परम कृपापात्र रसिक भक्तवर श्रीनागरीदासजी महाराज (कृष्णगढाधिपति) के इन पद्यों से श्रीरासलीला के स्वरूप का किञ्चित् दिग्दर्शन प्राप्त करें।

रास रच्यौ वृन्दावन राधा, मोहन यमुना कूले जू ।
चैत चन्द सुख चन्द गुञ्ज, अलि कुञ्ज लता द्रुम फूले जू ।।

सीतल मंद सुगन्ध महावत, बहत पवन अनुकूले जू ।
ठौर-ठौर सुमननि के गुच्छा, छवि पावत अति झूले जू ।
बाजत ताल मृदङ्ग चङ्ग वर, वंशीवट के मूले जु ।
गावत नाचत मंडल कीयें, सजे सखिन के ढुले जू ।।
सुनि-सुनि धुनि अति मधुर मनोहर, शिव-विरञ्चि सुधि भूले जू।
'वृन्दावन' प्रभु को सुख निरखत, मिटत सकल तन शूले जू ।।

रास मंडल मधि छवि छके श्यामाश्याम,
लै लै गति लपट पलटि लात भरे रंग ।
गानधुनि नूपुर रह्यौ है रंगपूरि तैसौं,
मधुर--मधुर बीना बाजत मृदंग ।।
चन्द्रिका सिथल इत मुकुट झूकौं हौं,
उत ह्वै गये बिबस रससुधि न रही है अंग ।
'नागरिदास' गति नैंननि की भई पंग,
मुरछि गिरचौ है रति सहित अनंग ।।

उपर्युक्त उभय पद्यों में युगल प्रियालाल श्रीश्यामाश्याम के श्रीरास-लीला विलासरस का जो असमोर्ध्व वर्णन हुआ है, यह रासरस रसिक श्रद्धालु भगवद्भक्तों को सर्वदा अपने निर्मलान्तःकरण में अवधारणीय है।

पुण्यश्लोक महापुरुषों के वचन सर्वदा हितकर होते हैं

मानव को यदि सत्पथ बोध प्रदायक उत्तम उपदेश-वचन न मिले तो उसका जीवन विपथगामी बन सकता है। जो पुण्यश्लोक विवेक सम्पन्न महानुभाव हैं वे यदि अपनी पीयूषवर्षिणी वाणी को प्रवचन के रूप में किंवा लेखन के रूप में अभिव्यक्त न करें तो मनुष्य का स्वस्थ विवेक-सरणि के अभावजन्य विविध क्लेशपुञ्ज के आवर्त में आजाना कोई आश्चर्य नहीं।

देवर्षिवर्य श्रीनारदजी ने ''श्रीनारद भक्ति सूत्र'' में ''यो महानुभावं सेवते'' उपदेश करते हुए अविद्या कर्मात्मिका विश्व विमोहिनी माया से निवृत्त होने का यही सर्वोत्तम साधन निर्दिष्ट किया है। श्रीमद्भगवद्गीता में

भी जगद्जन्मादिहेतु सर्वनियन्ता सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने भी--

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।

महापुरुषों से प्रणिपात पूर्वक ज्ञान की उपलब्धि करके अपने जीवन को सुन्दर बनावे। यथार्थ में मनुष्य बिना उत्तम ज्ञान के विवेकहीन होकर अविद्या की ओर अग्रसर हो जाता है। इसीलिये शास्त्रों में, महापुरुषों के महनीय ग्रन्थों में मानव सतत सत्पुरुषों की सन्निधि ग्रहण करके अपने जीवन को सत्पथ की ओर प्रवृत्त करे। यथार्थ में आज इसी उत्तम उपदेश के राहित्य के कारण नाना अपप्रत्याशित कष्टों का आना स्वाभाविक हो गया है।

शास्त्रविहित उपदेश सर्वदा ही हितकर हैं किन्तु जहाँ शास्त्र राहित्य उपदेश की अवस्था है वह उतनी मूल्यवान् नहीं कही जा सकती । अतः कोई भी उत्तम मनीषी मनमानी उपदेश में अपने समय को व्यर्थ न करे यही श्रेष्ठ है।

पुण्यश्लोक आप्त-महापुरुषों का उत्तम सङ्ग विपथजनों को भी पावन बना देता है, दैत्यराज हरिण्यकश्यपु को सहधर्मिणी कयादु को देवर्षिवर्य श्रीनारदजी का परमोत्तम सङ्ग मिला जिसके फलस्वरूप भक्ताग्रगण्य श्रीप्रह्लाद का आविर्भाव हुआ, भक्तवर श्रीप्रह्लाद पर आने वाले समग्र विकट संकटों का स्वतः परिहार होता गया और अन्ततः सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर को श्रीनृसिंह रूप में अवतीर्ण होकर अपने सर्वात्मना शरणापन्न भक्त को दर्शन देकर कृतार्थ किया। असुरराज का संहार कर समस्त देव समूह के कष्ट का निवारण किया ।

इस प्रकार शास्त्रों में अगणित उदाहरण मिलते हैं, जिससे उत्तम श्लोक पुरुषों के सत्सान्निध्य को प्राप्त कर दुस्सङ्ग परायण जन भी सत्पथानुगामी होकर अनन्य भगवद्भक्त हो गये। इसलिये साधकों का पावन कर्तव्य है कि वे पुण्य स्वरूप सत्पुरुषों के मङ्गलमय उपदेश-वचनों को अपने अन्तःकरण में धारण कर अपने जीवन को कृतार्थ करें ।

धर्म के बिना मानव जीवन सर्वथा निरर्थक है

आज संसार में जिस ओर देखो लूट-खसोट, हत्यायें, अनाचार, दुराचार और निस्संकोच उच्छृङ्खलता की भीषण ज्वाला दृष्टिगोचर हो रही है। आज का बहुधा विवेकहीन मानव धार्मिक, नैतिक तथा चारित्रिक आश्रय को त्यागकर-दुष्कर्म परायण होता जा रहा है। अपनी स्वार्थपरता के पीछे अत्यन्त निन्दनीय क्रूर से क्रूर, गर्ह्य और घोर से घोर पापकर्मों के करने में लेशमात्र भी संकोच नहीं करता। देश, धर्म, संस्कृति, मर्यादा आदि सभी से विमुख होकर अज्ञानपाश में आबद्ध हुआ हिंसा, अत्याचार आदिक पिशाचीय अकर्मों की ओर प्रवृत्त होना ही उसके जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य बन रहा है। परिणाम में अन्ततः वह उभयतोभ्रष्ट होकर क्लेशरज्जु से बँधा नारकीय भयङ्कर यातनाओं का उपभोग करता है।

निर्दिष्ट इन सभी समस्याओं का समाधान एकमात्र धर्म है। धर्म सेवन के बिना राजकीय कठोर शासन की व्यवस्था एवं प्रबल नियन्त्रण के रहने पर भी दुष्कर्मों का परिहार सम्भव नहीं है। यह तो केवल धर्म के सर्वदा आचरण से ही स्वयमेव दुष्कर्म लिप्सा की निवृत्ति तथा सदाचार सेवन की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। धर्म के बिना मानव जीवन निरर्थक है और इसी प्रकार धर्म विरहित राजनीति भी वाराङ्गना के समरूप है। अतः वैदिक सनातन धर्म ही सेवनीय तथा आश्रयणीय है। महर्षि चाणक्य के परम महनीय इस संक्षिप्त उपदेश की कैसी सुन्दर अभिव्यक्ति स्पष्ट है--

स जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य च जीवति ।
गुणधर्मविहीनस्य जीवनं निष्प्रयोजनम् ।।

जिनके गुण और धर्म जीवित हैं, वास्तव में वही जी रहा है, गुण और धर्म रहित व्यक्ति का जीवन वृथा है।

भगवान् श्रीमनु के ये दिव्य वचन भी इसी ओर इङ्गित करते हैं--

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मोहतो वधीत् ।।

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ।।
अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ।।

विनष्ट हुआ धर्म ही मारता है और रक्षित धर्म ही रक्षा करता है। अतएव नष्ट हुआ धर्म कहीं हमको न मारे-यह विचार कर धर्म का नाश कभी नहीं करना चाहिए। पाप प्रवृत्त अधर्मियों की शीघ्र ही दुर्गति होती है। ऐसा समझ कर पुरुष को चाहिए कि धर्म में मन लगाता हुआ भी अधर्म में मन न लगावे । अधर्मी प्रथम अधर्म से बढता है, फिर उससे अपना भला देखता है, पश्चात् शत्रुओं को जीतता है और फिर अन्त में स्वयं समूल नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार तत्त्वदर्शी सभी महापुरुषों ने धर्म के परिपालन पर ही बल दिया है। और वस्तुतः धर्म ही से हो रहे घोर भ्रष्टाचारों को रोका जा सकता है। यही समस्त शास्त्र तथा त्रिकाल द्रष्टा महर्षियों का दिव्य आदेश है। राष्ट्र समाज और व्यक्ति की अभिसम्वृद्धि के लिए धर्म सेवनीय है तथा इसी से देश में वर्द्धमान इस भ्रष्टाचार का प्रतिबन्ध सम्भव है।

"यतो धर्मस्ततो जयः"

पवित्र भक्तिमय जीवन ही सार्थक है

प्रथम तो मानव जीवन ही दुर्लभ है उसमें भी भारतवर्ष की परम पावन सुरम्य धरित्री पर पवित्र कुल में पवित्र वातावरण में पवित्र जीवन और भी दुलभ है। इतनी दुर्लभता पर भी अनन्त कृपापयोधि भगवान् श्रीसर्वेश्वर के अनन्त कृपा प्रसाद से यह उत्तम जीवन हमें उपर्युक्त सभी सानुकूल स्थितियों में मिला है। अब इसका सदुपयोग या दुरुपयोग हम मानदेह धारी प्राणियों पर निर्भर है जिनका तपःपूत जीवन है वे असीम सुख शान्ति के साथ श्रीप्रभु प्राप्ति करते हैं किन्तु जो श्रीभगवद् विमुख होकर विपरीत मार्ग का अवलम्ब लेते हैं वे सदा ही अशान्त रहते हुए नाना कष्टों का अनुभव करते हैं। निम्नांकित उपनिषद् वचन इसी का संकेत करते हैं--

नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमनसोवाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।

अर्थात् जो प्राणी दुश्चरितों से निवृत्त नहीं होता तथा सर्वदा अशान्त अव्यवस्थित है वह सद्विवेक राहित्य से श्रीभगवत्प्राप्ति नहीं कर सकता।

परन्तु जो सत्कर्मनिष्ठ भक्ति परायण पुरुष हैं वे उभयत्र आनन्द का अनुभव करते हैं। उपनिषद् का यह वचन इसी का प्रतीक है--

''अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।''

जो धीर पुरुष अध्यात्म पथ का अवलम्ब लेकर सर्वेश्वर श्रीहरि का अनुस्मरण करता है वह संसार के समग्र तुच्छातितुच्छ हर्षविषादों से रहित होकर परमानन्द की अनुभूति करता है। शास्त्रों के सम्पूर्ण उपदेशों का सारस्वरूप यही मूल तथ्य है। किन्तु ''विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्'' के अनुसार श्रीसर्वेश्वर प्रभु की अनन्त असीम अतिविलक्षण त्रिभुवन-विमोहिनी अघटन घटनापटीयसी अविद्या कर्मात्मिका यह माया ऐसी विचित्र है जिसके फलस्वरूप जीवात्मा स्व-स्वरूपविस्मृत होकर विविध क्लेशपुञ्ज में आबद्ध होकर भौतिक सन्तापों से दन्दह्यमान रहता है। जब कहीं भव सन्तप्त प्राणी को सद्ज्ञान सम्पन्न किन्हीं महापुरुष का सुन्दर पावन सान्निध्य प्राप्त हो जाता है तो फिर उनके पवित्र उपदेश से वह स्व-स्वरूप बोध कर इस भवाटवी की भीषण ज्वाला से उन्मुक्त होकर परम शान्ति की अनुभूति करता है। अतः भक्तिमय जीवन ही सार्थक है।

मंगलमयी गोमाता की सेवा परम कल्याणकारी है

वेदों में गोमाता को विश्व स्वरूपा एवं विश्ववन्द्या बतलाया गया है। ऋग्वेद के गोसूक्त ६/७/८ में आया है--

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं बधिष्ट ।।

यहाँ इसे रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, आदित्यों की बहिन और अमृत की नाभिस्वरूप कहते हुए इसे अहिंसनीया बतलाया गया है।

गो माता विश्व की माता है। ''गावो विश्वस्य मातरः'' यह हमारे जीवन की सर्वस्व निधि है। भारतीय पुरातन परम्परा, संस्कृति, सभ्यता, मर्यादा एवं धर्म की प्रतीक स्वरूप है। भारतीय धर्म के विभिन्न रूप गो माता पर आधारित है। अनादि वैदिक सनातन धर्म एवं तदनन्तर्गत सभी धर्मों के कार्य गोमाता के बिना सम्पादित नहीं हो सकते। यह हमारी परम पूज्या, परम वन्दनीया परमाराध्या है, यह परम दिव्य अमृत को प्रदान करने वाली है,यही हमारे पोषण की एकमात्र आधार शिला है, इसके दूध, दही, नवनीत, घृत, मल मूत्रादि सभी हमें बलिष्ठ ओज, कान्ति, पवित्रता, स्वस्थता, सद्बुद्धि आदि देने वाले हैं। इसके आश्रय से मानवमात्र इहलौकिक एवं पारलौकिक दिव्यानन्द की अनवरत कामना करते हैं, तथा देश पर आने वाले भीषण संकटों का परिहार भी इसी के बल पर करने में पूर्ण समर्थ होते हैं। हमारे वेद, स्मृति पुराणादि सकल शास्त्रों में इसकी महिमा, इसके महत्व का पद-पद पर वर्णन है। यह केवल अवध्या ही नहीं अपितु परम वन्दनीया, प्रातःस्मरणणीया है। निखिल जन हितकारिणी, परम पवित्रा, मङ्गलदायिनी एवं विविध पातक विनाशिनी है।

गो हमारे आचार, पवित्रता और आरोग्य की आधाररूप है। गो वंश की श्रम शक्ति द्वारा पृथ्वी से अन्नादि की विपुल उत्पत्ति होती है, गोमय से यज्ञभूमि और गृहस्थों का आंगन, वानप्रस्थियों की कुटिया पवित्र होती है, गो घृत द्वारा यज्ञादि देवों की तृप्ति होती है, गो दुग्ध मनुष्य के लिये तेज, बलवृद्धि और स्फूर्ति दायक है। गोमय दूध तथा गोघृत की उपयोगिता तो है ही साथ ही सवत्सा गाय के दान से मनुष्य सहज ही वैतरणी नदी को पार करने का अवसर प्राप्त कर लेता है। ब्रह्माण्ड पुराण, पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, भविष्यपुराण आदि अनेक पुराणों में गोमाता को शक्ति रूप में निरूपित किया गया है। यहाँ तक कि परम परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना समस्त बाल्यकाल गोसेवा में ही व्यतीत कर दिया था तथा भगवान् श्रीराम के पूर्वज सम्राट् दिलीप ने इसी गोरक्षा के हित अपने प्राणों तक का उत्सर्ग करने को तत्पर हो गये।

ऐसी महिमामयी गोमाता आज अकालग्रस्त क्षेत्रों में अत्यन्त शोचनीय अवस्था में अपना जीवन यापन कर रही है। गो की महिमा से

अज्ञात व्यक्ति अकाल क्षेत्रों में आज भूख से व्याकुल गोमाता को त्याग रहे हैं और भैंसों का पालन पोषण कर रहे हैं, यह कैसी विडम्बना एवं खेदास्पद स्थिति है। सम्भवतः भूख और कष्ट से जर्जर गोविन्द की गाय के क्रन्दन को हम सुन नहीं पा रहे हैं। वैदिक संस्कृति की पोषक जिसका पुण्य दर्शन, कष्ट सहिष्णु गाय सम्प्रति उपेक्षित है। गोदुग्ध की महिमा का बखान तो हम करते हैं, पर वह गो संरक्षण के बिना कैसे सम्भव होगा ? सम्प्रति आज आवश्यकता है गो संरक्षण की । राष्ट्र की समृद्धि दायिनी गाय विवश हो आज अपने अश्रुपूर्ण नेत्रों से हमारी ओर निहार रही है। ऐसे समय में गोमाता की रक्षा करना प्रत्येक भारतवासी का धार्मिक व नैतिक कर्तव्य है। यह एक महान् यज्ञ है जिसमें सभी को सक्रिय सहयोग देना है। जिनकी गोमाता के प्रति श्रद्धा व निष्ठा है इस व्रत को ग्रहण करेंगे तभी यह सफल हो सकेगा ।

गोमाता का महत्व धार्मिक, आर्थिक, राष्ट्रोन्नति आदि जिस दृष्टि से भी देखा जाय परम कल्याणकारी है। इसकी आराधना से, इसके सेवा कैङ्कर्य से पुरुषार्थ चतुष्टय की उपलब्धि होती है। जिस देश में गोरक्षण, गोसेवा होती है वह कभी भी संक्रामक रोग से, अर्थाभाव से अशांति एवं असुख से नाना महातङ्क से आक्रान्त नहीं होता। यथार्थतः देखा जाय तो गोमाता के बिना जीवन-जीवन नहीं है केवल असुरता है।

अपना कल्याण चाहने वाले गृहस्थों को अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से गोसेवा करना परम इष्ट है। यह सेवा से शीघ्र ही धन, सम्पत्ति, आरोग्य आदि सुखकर साधन सुलभ करा देती है। परम पवित्र सात्त्विक सर्वोपकारी धेनु सर्वथा अर्चनीय, वन्दनीय और अवध्य है। यह सर्व देवमयी है, परम हितेषिणी मांगलिक शक्ति है।

भारतीय संस्कृति में नारी का शास्त्रीय स्वरूप

हमारे श्रुति-स्मृति-पुराणादि वाङ्मय शास्त्रों में नारी की अपार महिमा का वर्णन किया गया है। ''मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'' तथा ''मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद'' इत्यादि मन्त्रों से माता को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। हिन्दू संस्कृति में लक्ष्मी के समान नारी पूज्य मानी गई है एवं भारतीय संस्कृति की आधार शिला भी यही नारी है। महाभारत में कहा गया है--

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या विशेषतः ।।

(महा. उ. प. ३८/११)

''घर को उज्ज्वल करने वाली और पवित्र आचरण वाली महाभाग्यवती स्त्रियाँ पूजा के योग्य हैं क्योंकि वे घर की लक्ष्मी कही गई हैं अतः उनकी विशेषरूप से रक्षा करें ।''

मनु महाराज ने भी कहा है--

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ।।

(मनु. ३/५६)

''जहाँ नारियों का आदर किया जाता है वहाँ देवता रमण करते हैं और जहाँ इनका अनादर होता है वहाँ सब कार्य निष्फल होते हैं।

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चनः ।।

(मनुस्मृतिः)

''सन्तति प्रसव के कारण महाभाग्यवती परम सम्मान के योग्य ओर संसार को उज्ज्वल करने वाली नारी और श्री में कोई भेद नहीं है।'' और भी कहा है--

अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।
भार्य्यावन्तः क्रियावन्तो भार्य्यावन्तः श्रियाऽन्विताः ।।
सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः ।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्त्तस्य मातरः ।।

''संसार में स्त्री पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी व परम मित्र रूपा है। जिनकी भार्या है उन्हीं की सब धर्म कार्यों में सफलता की वृद्धि हुआ करती है। एकान्त में प्रिय-वादिनी, धर्म कार्यों में पिता के सदृश सहायता करने वाली और रोगादि क्लेशों के समय माता की तरह सेवा शुश्रुषा करने वाली भार्या ही हुआ करती है।''

अपने तन-मन-प्राण को तुच्छ समझ कर सेवा की यह पवित्र भावना केवल नारी को ही प्राप्त है। बिना शक्ति रूप हुए यह सब सम्भव नहीं है इस प्राकर नारी जाति की महिमा से हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं। भारतीय दृष्टि नारी को रमणी नहीं देवी कहती, देखती और समझती है। यह देवी अपने तपोबल से अपने पति का भी उद्धार कर देती है। कहा गया है कि जिस प्रकार सँपेरा बल पूर्वक साँप को निकाल लेता है उसी प्रकार तपोनिरत सती नारी नरक में पड़े अपने पति को निकाल लेती है। महाकाल ने भी ऐसी तेजस्वरूप नारियों का वन्दन किया है।

ऐसी तपोनिष्ठ नारियों के प्रति आज जो भ्रान्त विपरीत धारणायें बन गई हैं वे अविवेकतापूर्ण एवं एवं अज्ञानजनित हैं। पवित्र नारी के विषय में कभी इस देश में इतना वितण्डावाद खड़ा नहीं हुआ जितना अब हो रहा है। नारी के सती-भाव के सम्बन्ध में उत्पन्न की जा रही भ्रान्तियाँ इसका स्पष्ट उदाहरण है। करोड़ों-करोड़ों नारियों में कभी किसी में इस सती-भाव का उदय होता हैं, ऐसा नहीं कि पति की मृत्यु के पश्चात् हर नारी सती हो जाती हो। पुराणों में भी अनेक पतिव्रता नारियों में सती भाव उदय होने के उदाहरण आते हैं। श्रीमद्भागवत में ''अर्ची'', महाभारत में ''माद्री'' तथा श्रीमद्भागवत में ही भगवान् श्रीकृष्ण के परिवारजनों में यदुवंशियों के गोलोक गमन पर अनेंकों पत्नियाँ सती हुई हैं। मनुस्मृति, पाराशर स्मृति आदि अगणित ग्रन्थों में सती होने एवं उनके माहात्म्य का वर्णन है। कलिकाल में ही राजस्थान आदि भारत के विभिन्न अञ्चलों में पतिव्रता नारियाँ सती हुई हैं। कोटि-कोटि मानवों ने उनकी देहरी की धूलि सती का वरदान मान कर अपने मस्तक पर चन्दन सदृश लगाई है और अगणित कुल परिवारों ने उन्हें शीर्षस्थ स्थान पर सादर विराजमान किया है। सती पूजा मूलतः महालक्ष्मी की ही पूजा है, यह कोई नई नहीं है। झुंझनू में हुई राणी सती का विशाल मन्दिर है वहाँ स्थापित १२

सतियों की प्रतिदिन उन्हें श्री स्वरूप मान कर बड़ी ही भक्ति और श्रद्धा पूर्वक पूजा-अर्चना की जाती है। यहाँ स्थापित राणी सती बालिका विद्यालय से सहस्रों बालिकाओं को विद्याध्ययन का लाभ मिलता है। देश में एक सौ आठ से अधिक श्रीराणी सतीजी के मन्दिर हैं ऐसे ही भारत के सम्पूर्ण क्षेत्र में सर्वत्र सतियों के गरिमापूर्ण स्मारक विद्यमान है।

मनुष्य जीवन में धर्मार्जन ही सुख का साधन है

आत्म-उन्नति चाहने वाले व्यक्तियों को पूर्वापर सोच कर सत्कर्मों की ओर बढना चाहिये, मनुष्य अपने कर्मों से ही ऊँचा चढता है और कर्मों से ही गिरता है। न कोई किसी का शत्रु है, न कोई किसी का मित्र। आप ही अपना शत्रु है, आप ही अपना मित्र। भगवान् ने स्वयं श्रीमुख से कहा है--

''आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।''

एक ही पिता की सन्तानों में कोई सुखी है, तो कोई दुःखी, कोई प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, तो किसी का पद-पद पर अपमान है। मनुष्य ही नहीं, विश्व की स्थावर-जङ्गम चर-अचर वस्तुओं में ऐसा ही तारतम्य देखा जाता है। एक ही कवि ने इस सम्बन्ध में बड़ा ही अच्छा उल्लेख किया है-

तुल्यं भूभृति जन्म तुल्यमुभयोर्मूल्यञ्ज तुल्यं वपुः ।
तुल्यं दार्ढ्यमुदग्रटङ्कदलनं तुल्यं च पाषाणयोः ।।
एकस्याखिलवन्दनाय विधिना देवत्वमारोपितम् ।
तद्द्वारे विहिता परस्य तु पदाघातास्पदं देहली ।।

एक ही पर्वत की खान में से दो पाषाण निकाले गये। दोनों की आकृति और मूल्य भी बराबर था। कठोरता भी समान ही थी। टांकियों की चोटें भी बराबर दोनों ने सहीं। एक को प्राण-प्रतिष्ठा कर सिंहासन पर विराजमान किया, जिसको सारा जगत् नमन करने लगा। किन्तु दूसरे से पाषाण की देहली बनी, जिसके घर में आने-जाने वाले स्त्री-पुरुषों की दिन-रात ठोकरें लगती हैं। यही स्थिति उन मनुष्यों की देखी जाती है, जो मानव-जन्म पाकर भी न भगवान् की आराधना करते हैं न चित्त शुद्धि के लिये तपश्चर्या ही करते हैं। वे अपने जीवन को तुच्छ बातों में लगा कर इस

प्रकार व्यर्थ खो देते हैं जैसे कोई तिल के कणों को अग्निसिद्ध करने के लिये चन्दन को जला देता है एवं रत्नों से भरे पात्र को आग पर चढाकर विनष्ट कर देता हो। आक की जड़ों के लिये भूमि में चलाकर सोने के हल को नष्ट करता हो, उसी प्रकार कर्म-भूमि भारत वसुन्धरा पर जन्म पाकर भी जो मनुष्य सत्संगति, भगवद् भजन, दान-पुण्य और तप न करे उसके अतिरिक्त और मन्द-भागी कौन होगा ।

वस्तुतः! यदि संसार में चारों ओर दृष्टि फैला कर देखा जाय तो यह निश्चय होता है कि प्राणीमात्र सुख की खोज में भटक रहा है, ''सुखाय कर्माणि करोति लोकः'' उसी की प्राप्ति के लिए दिन-रात प्रयत्न करता है, सुख का साधन समझ कर धन कमाता है, भूमिधर पृथ्वीपति बनता है, ऊँट, घोड़े, हाथी आदि वैभव अर्जित करता है। मनोनुकूल सुन्दरी से पाणिग्रहण करता है, किन्तु इन सब से भी पर्याप्त सुख प्राप्त नहीं होता। क्षण-क्षण में दुःख की ही तरंगे उठती रहती हैं। अन्त में एक दिन इन सबको छोड़कर चल देना पड़ता है। धन, भूमि, पशु, स्त्री ही नहीं शरीर भी यहाँ ही रह जाता है। यथाः--

''धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे नारी गृहे मित्रजनाः श्मसाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ।।''

धन पृथ्वी में गड़ा रह जाता है, पशु बंधे ही रह जाते हैं, स्त्री घर तक और मित्रजन श्मसान तक पहुँचा देते हैं, देह की चिता पर भस्मी हो जाती है, जीव अकेला रह जाता है, उस समय कोई साथी है तो वह है धर्म। इसलिए शास्त्रों में धर्मार्जन ही सुख का साधन बतलाया गया है।

अतः मनुष्य का परम कर्तव्य है कि वह शास्त्र प्रदर्शित अपने सनातन धर्मानुसार आचरण करते हुए निरन्तर हरिनाम का जप स्मरण कीर्तन ध्यान द्वारा सच्चिदानन्दघन श्रीसर्वेश्वर प्रभु की प्राप्ति का प्रयत्न करे यही मानव जीवन का उद्देश्य है और इसी में सबका कल्याण है। प्रभु के चरणों की प्राप्ति बिना कहीं भी सच्चा सुख नहीं मिल सकता।

आहार करना-पीना, सोना आदि सांसारिक कार्य सभी देशों के और सभी योनियों के प्राणी भी करते हैं, किन्तु मानव-योनि और भारत जैसे धर्म-प्रधान देश में जन्म पाकर भी यदि इन्हीं सांसारिक प्रपञ्चों में ही

जन्म खो दिया, तो इससे बढकर हानि क्या होगी ? इसलिये श्रद्धा-विश्वास और भक्ति पूर्वक जितना हो सके मनुष्य को अधिक से अधिक समय प्रभु के स्मरण में देना चाहिये। यही वास्तविक उन्नति और कल्याण है।

साम्प्रतिक समय में जनता एवं सरकार का कर्तव्य

अध्यात्म-सरणि के बिना जीवन पथ कण्टकाकीर्ण होता है। विविध रूप से आधि-व्याधि, शोक-सन्ताप एवं विपरीत परिस्थितियाँ अपना प्रभाव बताते ही हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, विग्रह आदि नाना उपद्रव इस जगत् में होते रहते हैं। इन सभी का शमन तभी सम्भव है जब मानव अपने उत्तम कार्यों का आश्रय ले। ''हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'' श्रीप्रभु का निर्व्याज रूप से स्मरण किया जाय तो अवश्य ही समस्त संकटों का परिहार होता है। ''तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'' श्रीमद्भगवद्गीता के इस वचनानुसार श्रीहरिचिन्तन के साथ मानव निरन्तर सत्पथ परायण बने।

वर्तमान काल में मानव के समक्ष नाना संकट उपस्थित हैं कहीं विग्रह तो कहीं अतिवृष्टि तो कहीं पर अनावृष्टि से सारा जन-जीवन एवं पशु-पक्षी समूह संत्रस्त है। ऐसी अवस्था में श्री-सम्पन्न जनों का विशेष कर्त्तव्य है कि मानव एवं मानवेतर गाय-बैल आदि प्राणियों के रक्षार्थ सर्वविध उपायों का अवलम्ब लें। भारत सरकार भी इस ओर अपनी दृष्टि कर अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करे ।

सन्त-महात्मा, धर्माचार्य भी अपने सद्उपदेशों द्वारा सबको प्रेरित करें जिससे इन दुस्सह समस्याओं का समाधान सम्भव हो। मुख्यतया सरकार को इस दिशा की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है । जिन निर्धन व्यक्तियों के पास गायें विपुल संख्या में या अल्पाधिक्य है आज वे घास के अभाव में गायों को खुली छोड़ रहे हैं जिन्हें कसाई लोग ले जाकर बूचड़खानों में उनकी हत्यायें कर रहे हैं। इस भयंकर कृत्य का दुष्प्रभाव पूरे राष्ट्र पर पड़ेगा जिसका परिणाम नाना उपद्रव ही सम्मुख है।

सन्त-महात्माओं एवं धर्माचार्यों द्वारा होने वाले धार्मिक समारोहों,

यज्ञीय आयोजनों, सम्मेलनों, अधिवेशनों में इस उपर्युक्त चिन्तनीय सन्दर्भ में विशेष विचार किया जाकर उसे कार्यान्वित करना नितान्त रूप से कर्तव्य है। ऐसे संकट में शैथिल्य अपने लिए अहितकर होगा। श्रीमन्तजन ऐसे अवसर पर अपने द्रव्य का सदुपयोग कर यज्ञ एवं अनन्त पुण्य को प्राप्त करें।

जन सामान्य सभी को इस समस्या के समाधान हेतु तत्पर होना अत्यन्त आवश्यक है। विपत्काल में निश्चिन्त हो जाना समुचित नहीं। हमारे पूर्वजों ने धर्म रक्षार्थ, राष्ट्र रक्षार्थ, संकटग्रस्त प्राणियों की रक्षार्थ अपना सर्वस्व समर्पण किया है। उन्हीं उत्तमश्लोक महापुरुषों के उत्तम मार्ग का अनुसरण करना हम सभी का परम कर्तव्य हो जाता है।

कृत्रिमजनों से सावधान

साम्प्रतिक समय में कितने ही उद्धत लोग कोई सन्त रूप में कोई पण्डित, कथा प्रवक्ता, तान्त्रिक, ज्योतिषी आदि-आदि विभिन्न सर्वथा कृत्रिम स्वरूप में देश के अनेक अञ्चलों में इतस्ततः धर्मपरायण श्रद्धालु भावुक जनों को भ्रमित करते हैं। कितने ही तो अपने आप को राम-कृष्ण के अवतार कहने में भी संकोच नहीं करते। और सरल हृदयों को विपथगामी बनाने में अपने सौभाग्य का अनुभव करते हैं। ऐसे निर्लज्ज विवेकहीन जनों के निरोध के लिए मूर्धन्यतम धर्माचार्यों, सन्त-महात्माओं, विद्वज्जनों, प्रजाजनों एवं शासक वर्ग का कर्तव्य है कि तथ्यातथ्य सत्यासत्य का साङ्गोपाङ्ग यथार्थ अनुभव करके उनका सम्यक् समाधान किया जाना नितान्त अपेक्षित है।

ऐसे अत्यावश्यक प्रस्तुत समस्याओं के समाधान में शैथिल्य किंवा प्रमाद राष्ट्र, संस्कृति एवं धर्म के लिए अहितकर होगा। शास्त्रीय परम्पराओं, मर्यादाओं, सदाचार एवं नियमों में महती बाधा होगी। उत्तम पुरुषों का यह परम कर्तव्य है कि वैदिक सनातन धर्म के संरक्षण हेतु विरुद्ध तत्त्वों का निर्भय होकर प्रतिकार करें। ऐसा करने से विपरीत जनों का कृत्रिम जनों का जो प्राबल्य देखा जा रहा है। उसका स्वतः परिशमन सम्भव होगा।

विपरीत अवस्था में विचलित न होना ही विवेकशीलता है

मानव के समक्ष सुख-दुःखादि विभिन्न अनुकूल-प्रतिकूल अवस्थायें आती हैं। उनमें अनुकूलता पर अति हर्षित होना और प्रतिकूलता पर अति दुःखित होना ही विवेकशून्यता है। प्राणीमात्र के जीवन में इन उभयविध अवस्थाओं का आना स्वाभाविक है किन्तु धैर्यवान् कभी विचलित नहीं होते वे अपने धैर्य को यथावत् रखते हैं। और इन सभी हिताहित परिस्थितियों में श्रीप्रभु का समाश्रय एवं अपने परमाराध्य का सतत स्वकीय मानस में अनुस्मरण, ध्यान, उपासना करें, वे अनन्त कृपावारिधि श्रीसर्वेश्वर निश्चय ही प्रपन्न उपासक साधक पर अपनी अहैतुकी कृपादृष्टि से उसका मङ्गल करते हैं। शास्त्रों का यह वचन इसी का संकेत कर रहा है-''हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'' श्रीमद्भागवतोक्त यह दिव्य उपदेश अत्यन्त सारग्राही एवं परमोपादेय है। वे दयार्णव श्रीराधामाधव प्रभु अपने भक्तों पर आये हुए संकटों का सहज ही में निवारण करने की महती अनुकम्पा कर देते हैं। यही तो उन अनन्तकृपाकोष श्रीहरि का मङ्गलमय स्वरूप है। जब-जब जिन-जिन शरणागत भक्तों पर जो भी विपत्ति का क्षण आया उसका सर्वविध परिहार करने की परमानुकम्पा की है। अतः विवेकशील पुरुष को चाहिये कि वह कभी निराश न हो विचलित न हो सशंकित न हो। दृढ विश्वासपूर्वक उन सर्वान्तरात्मा श्रीहरि का मनसा, वाचा, कर्मणा समाश्रय पूर्वक उनके श्रीयुगल पदाम्बुजों में अपनी विनीत प्रार्थना प्रस्तुत करे, वे अवश्य ही केनापि विधा किसी के माध्यम से उसके पवित्र मनोरथ को पूर्ण करते हैं और उसकी विपरीत अवस्था का भी परिशमन कर देते हैं। ऐसे परम करुणावरुणालय वे सर्वान्तरात्मा है।

केवल साधक के पवित्र अन्तःकरण में निर्मल भाव जागृत हो। अपने पावन प्रेमाश्रु उनके प्रति भक्तिपूर्वक अर्पित करें। वे निखिल भवभय-हारी श्रीसर्वेश्वर अपनी दिव्य कृपा से अविलम्ब समस्त समस्याओं का सहज में समाधान कर देंगे। उन अनुग्रह स्वरूप श्रीगोविन्द का तो स्वरूप ही यही है-यथा--

सकृददेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।

प्रपन्न साधक एक बार भी सश्रद्ध यह कहदे कि हे हरे ! मैं आपके शरणागत हूँ और मैं आपका हूँ, इतना मात्र कहने पर ही वे करुणार्णव समस्त भयों का शमन और सर्वात्मना अभयदान देते हैं। यह श्रीप्रभु का दिव्य संकल्प है।

फिर ऐसे कृपालु प्रभु को भूल कर हम सब जगत् के मानव अन्य विपरीत आश्रय की खोज करते हैं। यही तो हमारी अज्ञता का मूल कारण है जिसके फलस्वरूप ही नाना कष्टों का उपभोग और विपरीत अवस्थाओं का क्लेश अनुभव करते हैं। अतः स्वस्थ चित्त से धैर्य पूर्वक विश्वास के साथ उन सर्वज्ञ श्रीराधासर्वेश्वर का समाश्रय लें, उन्हीं का ध्यान उन्हीं का स्मरण, भजन, उपासना करें । समस्त विविध समस्याओं का स्वतः समाधान होगा। प्राचीन शास्त्रों में अनेकविध परम भागवत भगवद्भक्तों के अनुपम उदाहरण हमारे सामने हैं। तथापि हम विचलित, भयाकुल और दुखी रहते हैं। अतः शान्त भाव से सकल भवभयहारी श्रीसर्वेश्वर का सर्वात्मना आश्रय पूर्वक उनका अनुस्मरण करें सभी का समाधान स्वतः स्वाभाविक है।

भक्त शिरोमणि ध्रुव, प्रह्लाद, मीरा, द्रौपदी, नरसी आदि अनेकानेक भक्तों के पर्याप्त उदाहरण हमारे समक्ष हैं। इन परम भागवत भक्तों पर कितने ही अकल्पनीय विविध संकट उपस्थित हुए किन्तु इनकी भगवदीय अनन्य अनुराग-परक निष्ठा का ही यह परिणाम था कि इन भक्तों के किसी भी रूप में आने वाले घोर कष्ट भी स्वतःविलीन हो गये और वे अपने प्रेमास्पद को पाने को तल्लीन रहे। फलतः उन पर श्रीहरि की अहैतुकी कृपा हुई। जिससे वे सहज ही में अपने समस्त अन्तरायों से विनिवृत्त पूर्वक अपने सर्वोच्च भगवत् शरणागति रूप मनोरथ को प्राप्त करने में सर्वथा सफल हुए।

अतः भगवन्निष्ठ भक्त अपने सर्वाराध्य का चिन्तन ध्यान में दृढ रहते हुए अपनी पवित्र उपासना में सन्नद्ध रहें। सम्पूर्ण संकटों का निवारण स्वतः ही हो जायेगा। दृढता धैर्य और विश्वास अत्यन्त आवश्यक है। ''विश्वासः फलदायकः'' अतः इसी भाव को अपनी वृत्ति को भगवत्परक करें। इसी में चरितार्थता है।

क्षमा ही उत्तम मानव का भूषण है

मानव मात्र से किसी न किसी रूप में अज्ञानवश त्रुटि हो जाना स्वाभाविक है। वह त्रुटि ज्ञाताज्ञात किसी भी अवस्था में हो विवेक हीनता ही है। त्रुटियाँ भी अनेक रूपात्मक हैं, सामान्य, भ्रान्तिवश, स्वार्थपरता, दुस्सङ्गात्मक और आक्रोशजनित आदि। कुछ त्रुटियाँ क्षम्य होती हैं और कुछ त्रुटियाँ अपेक्षानुसार अक्षम्य भी हो जाती हैं, तथापि श्रेष्ठ पुरुष अपने क्षमापूर्ण कर्तव्य से विचलित नहीं होते। क्षमा ही उनका सुभग स्वरूप होता है। स्वयं भले ही संकट के आवर्त में आजाँय किन्तु वे अपने मूलभूत सिद्धान्त का परित्याग नहीं करते। वस्तुतः ऐसे उत्तम पुरुषों का सर्वत्र समादर एवं उनसे पवित्र शिक्षा प्राप्त होती है।

सम्प्रति समग्र विश्व में अशान्ति का कारण ही एकमात्र उचित कर्तव्य का निर्वाह राहित्य है और अन्ततः जिसकी परिणति परस्पर संघर्ष, विप्लव, अशान्ति, आक्रोश आदि स्पष्ट दृग्गोचर हो रहे हैं। जहाँ पर क्षमा का सर्वोपरि पावन संगम है वहाँ उपर्युक्त विपरीत संघर्शादि की अवस्था ही नहीं आती। भक्तराज प्रह्लाद का क्षमा ही दिव्य स्वरूप था जिसके फलस्वरूप सभी विरुद्ध शक्तियाँ स्वतः ही विलीन होती गयीं। वर्तमान परिस्थितियों में क्षमा राहित्य के कारण विप्लव-ताण्डव वर्द्धमान रूप में सम्पूर्ण विश्व को अशान्त और दुःखी बना रहा है।

महाराज युधिष्ठिर अपने क्षमा पूर्ण उत्तम व्यवहार से अजेय बन गये। वस्तुतः क्षमाशील पुरुष सभी का प्रीतिभाजन सर्वोच्चकोटि का महापुरुष हो जाता है वह किसी का कोपभाजन होता ही नहीं। महाराज हरिश्चन्द्र, महर्षि विश्वामित्र के विविधात्मक कोप करने पर भी वे अपने दिव्य क्षमा परिधान से सदा ही सुशोभित रहे। अतः श्रेष्ठ मानव का यह परम धर्म है कि वह क्षमा को सदा धारण करे। ऐसा करने पर प्रत्येक घर, ग्राम, ग्रामवाटिका, नगर महानगर, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व का मंगल और सुख-साम्राज्य स्वाभाविक है। एतद्विषयक शास्त्रों के ये वचन अपने मानस में सर्वदा अवधारणीय हैं--

क्षमया दयया प्रेम्णा सूनृतेनार्जवेन च ।

वशी कुर्याज्जगत्सर्वं विनयेन च सेवया ।।१ ।।
मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यजेः ।
क्षमार्जवदयाशौचं सत्यं पीयूषवत् पिवेः ।।२ ।।
सत्यं माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया सखा ।
शान्तिः पत्नीक्षमा पुत्र षडेते मम बान्धवाः ।।३ ।।
क्षमा खड्गः करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।।४ ।।
कोकिलानां स्वरोरूपं नारीरूपं पतिव्रतम् ।
विद्यारूपं कुरूपाणां क्षमारूपं तपस्विनाम् ।।५ ।।
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।

क्षमा, दया, प्रेम, माधुर्यपूर्ण वचन, सुभग सरल स्वभाव, विनम्रता, सेवापरायणता से निखिल जगत् को अपने अधीन कर लेता है।।१।।

हे तात ! यदि आपको मुक्ति अभीष्ट है तो इन जागतिक क्षणिक विषयों को विषवत् परित्याग करदें और क्षमा, सरलता, दया, पवित्रता तथा सत्य को अमृत तुल्य ग्रहण करें।।२।।

सत्य ही मेरी अपनी माता रूप है, ज्ञान पिता सदृश है, धर्म भ्राता स्वरूप है, दया मित्रवत् है, शान्ति नारी स्वरूपा है तथा क्षमा श्रेष्ठपुत्र रूप है, यथार्थ में ये षड्रूपात्मक मेरे बन्धुजन हैं।।३।।

जिस श्रेष्ठ पुरुष के हाथ में क्षमास्वरूप खड्गः (तलवार) है, ऐसे उत्तम मानव का विपरीत दुर्जन पुरुष भी क्या हानि कर सकता है, जैसे किसी तृण रहित स्थान को प्रज्वलित अग्नि स्वतः शान्त हो जाती है जो स्वाभाविक है।।४।।

कोकिल पक्षी का सौन्दर्य उसका मधुर स्वर है, नारी का सौन्दर्य उसका सतीत्वधर्म है, कुरूप व्यक्ति का रूप उसकी अधीत-विद्या है और तपस्वी अर्थात् श्रेष्ठ महापुरुष का सौन्दर्य उनका क्षमा धारण करना है।।५।।

धृति अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी रहित होना) शौच अर्थात् मन, वाणी तथा शारीरिक पवित्रता) इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य एवं अक्रोध-ये दशविध धर्म के लक्षण वर्णित हैं, इनमें सर्वप्रथम धृति के

बाद क्षमा का ही स्थान है।।६।।

इन उपर्युक्त कतिपय शास्त्रीय वचनों से नितान्त रूपेण यह निर्धारित है कि क्षमा रूपी दिव्यास्त्र जिस मेधावी उत्तमश्लोक महापुरुष के पास है वह यथार्थ में सर्वलोकवन्द्य और सर्वदा समादरणीय है। अतः धीर पुरुष को चाहिये कि वह क्षमा को सदा अपने अन्तर्मानस में निहित रखे, इससे समस्त जगत् का मङ्गल होगा।

''हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्''

मानव जीवन में किसी भी प्रकार की विपत्ति हो कष्टमय-अवस्था हो या त्रिविधतापपूर्ण बाधा हो इन सभी का परिहार परम करुणावरुणालय भगवान् सर्वेश्वर युगलविहारी श्रीराधामाधव के कृपा प्रसाद से हो जाता है। अनुरागपूरित हृदय से उन श्रीयुगल का अविरल अनुस्मरण किया जाय, वे सर्वान्तिर्यामी अनन्तकृपाकोष हैं, प्रपन्नजनों पर अपनी अहैतुकी कृपावृष्टि से उन्हें निश्चय ही अभिषिक्त कर उन्हें परमानन्द प्रदान करते हैं। श्रीप्रभु ने श्रीमद्भगवद्गीता में इसी आशय का यह दिव्योपदेश प्रदान किया है--

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

समस्त धर्मो से ममता रहित होकर एकमात्र सर्वोत्कृष्ठ श्रीसर्वेश्वर स्मरण को ही परम धर्म के समाश्रित होना प्रमुख लक्ष्य हो। जिसके फलस्वरूप श्रीहरि समस्त पातकों से उन्मुक्त कर अपने आश्रित कर लेते हैं, जहाँ किसी प्रकार की चिन्ता की अपेक्षा ही नहीं।

इसी भाव को श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर रसिकराजराजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने अपने 'श्रीमहावाणी' ग्रन्थ में एवंविध व्यक्त किया है-

जिनके सर्वस युगल किशोर।
तिहिं समान अस को बढभागिनि, गनि सब में शिरमोर।।

जिन शरणागतजन के एकमात्र परमाधार युगलकिशोर वृन्दावन-निकुञ्जविहारी श्रीराधाकृष्ण प्रभु हैं वे वस्तुतः परम बढभागी है और सब में वे उत्तम माने गये हैं। अतः उन्हीं सर्वाधार का सर्वात्मना अवलम्ब लिया

जाय वे दयार्णव सर्वेश्वर निस्सन्देह अनुग्रह करते हैं। भक्त-शिरोमणि कृष्णगढाधिपति श्रीनागरीदासजी महाराज भी अपनी रसमयी वाणी-ग्रन्थ में उपर्युक्त आशय को अभिव्यक्त कर रहे हैं--

कृष्ण कृपा आये दिन भले ।
बहुतै भ्रम्यौं आज लौं हौं अब, वृन्दावन दिशि चरन चले ।।
दुरजन टरे सजन मिलि है जे, नन्दनँदन कै रंग रले ।
भूखे हुते श्रवन मन लोचन, ते नागर रस पोष पले ।।

वस्तुतः श्रीसर्वेश्वर कृपा से सभी अमङ्गल विलीन हो जाते हैं इसी अभिप्राय का संकेत अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने भी अपने ''श्रीपरशुराम सागर'' ग्रन्थ में निर्दिष्ट किया है--

हरि की कृपा न मानहीं, ताहि कहूँ सुख नाँहि ।
कृपा पिछाणै प्रसराम, रहै सदा सुख माँहि ।।

इसी सन्दर्भ में जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज ने भी अपनी सरस वाणी-ग्रन्थ में कितना मनोहारी भाव व्यक्त किया है--

करहु नाथ सर्वेश्वर दीन जानि करुणा ।
कीजिये सनाथ मोहि आय पर्स्यो सरना ।।
मैं अनादि सिद्ध दास तुम अनादि स्वामी ।
विसरत क्यौं कृपासिन्धु जानि कुटिल कामी ।।
अपनी दृढ़ भक्ति साधु संग मोहि दीजै ।
लीला गुन रूप नाँव रसना रस पीजै ।।
ऊँच नीच जौनिन मैं दुख अपार पायो ।
गोविंदसरन दीनबन्धु जानि सरन आयो ।।

इन उपर्युक्त विविध वचनों से स्पष्ट है कि उन अनन्त कृपापयोधि सर्वेश्वर श्रीहरि के स्मरण से ध्यान से आराधन और उनके अविरल गुणगान से सभी दुरितों का विपदाओं का परिशमन हो जाता है। केवल हृदय से उन श्रीप्रभु का सर्वात्मना समाश्रय हो, वे तो अकारणकरुणावरुणालय है दीन-वत्सल है भक्तवांच्छाकल्पतरु हैं, निस्सन्देह वे अपनी सहज अनुकम्पा से

समस्त भवव्यथाओं को निरस्त कर देंगे।

साधकजन का परम कर्तव्य है वह परम तन्मय होकर उन अपने प्रेमास्पद हृदयरमण युगलविहारी श्यामाश्याम भगवान् श्रीराधामुरलीमनोहर का समग्रविधा अनवरत अपने मानस में अभिचिन्तन करें, अनुस्मरण करें वे दयार्णव प्रभु निश्चित ही अपनी अकम्पानुकम्पा से सम्पूर्ण बाधाओं को ध्वंस कर अपनी निर्हेतुकी कृपाकादम्बिनी से प्रपन्नजनों को अभिषिक्त कर उनके जीवन कों कृतार्थ करते हैं।

लौकिक तृष्णा के त्याग एवं सन्तोष में ही परम शान्ति है

मानव के जीवन में नानाविध रूप से तृष्णाओं का प्रतिपल उद्भव होता रहता है।और इन सांसारिक तृष्णाओं के विराम की कल्पना भी सम्भव नहीं। यह जागतिक मायासक्त मानव अनवरत शनैः शनैः भौतिक तृष्णाओं के आवर्त में इतना आबद्ध हो जाता है जिससे उसका आत्यन्तिक निवारण दुरुह हो जाता है और फलतः कण्टकाकीर्ण अवस्था उसके समक्ष उपस्थित हो जाती है जिससे वह सतत संतप्त बना रहता है। इसी आशय को महाराज श्रीभर्तृहरि प्रकट कर रहे हैं--

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ।।

इह लौकिक विविध भोगों को हमने नहीं भोगा अपितु इन भोगों ने ही हमको समग्र रूप से भोग लिया, हमने किसी भी प्रकार का तप नहीं किया, हम स्वयं ही सर्व प्रकार से संतप्त हो गये, यह कालचक्र व्यतीत नहीं हुआ अपितु हम स्वयं ही सर्वविध रूप से व्यतीत हो गये, यह हमारी तृष्णा जीर्णता को प्राप्त नहीं हुई परञ्च हम स्वयं ही पूर्णतः जीर्ण हो गये।

वस्तुतः तृष्णा बड़ी बलवती होती है, वह कभी भी क्षीण नहीं होती। जहाँ तृष्णा का विराम हो जाय और जीवन में परम सन्तोष और शान्ति की अभिव्यक्ति प्रस्फुटित हो जाय तो यह मानव जीवन देवतुल्य हो जाता है, वन्दनीय बन जाता है, इसी प्रस्तुत प्रसङ्ग पर चाणक्यनीति का

यह वचन अवधारणीय है--

शान्ति तुल्यं तपो नास्ति न सन्तोषात्परं सुखम् ।
न तृष्णायाः परो व्याधिर्न च धर्मो दयापरः ।।

अर्थात् शान्ति के सदृश किसी प्रकार का कोई तप नहीं है और सन्तोष के समान उच्चतम न कोई सुख ही है, तृष्णा के समान और कोई व्याधि भी नहीं है तथा दया तुल्य कोई धर्म भी नहीं।

अतः स्पष्ट है कि इस तृष्णा के सदृश और कोई व्याधि नहीं है जो निश्चय ही मानव को अत्यन्त जीर्ण कर देती है। जहाँ तृष्णा का विराम है उसका राहित्य है वहाँ स्वाभाविक परम शान्ति और अखण्ड आनन्द की अजस्र धारा प्रवाहित होती है। जो जन इस भवतृष्णा के झञ्जावात के घोर आवर्त में आजाता है वह निस्सन्देह विविध व्याधियों से संतप्त हो अकल्पनीय कष्टों का अनुभव करता है। अतएव विवेकी पुरुष का परम धर्म परम कर्तव्य है कि वह तृष्णा का सर्वथा परित्याग करदे। जिससे इस मनुज जीवन में नितान्त शान्ति परमानन्द की उपलब्धि कर सके।

वस्तुतः इस तृष्णा पिशाची से जिस साधक ने स्वयं को रहित कर अपने जीवन को परम सन्तोष की ओर प्रवृत्त कर लिया तो वह निस्सन्देह श्रीप्रभुकृपा का पात्र हो जाता है। इसी भाव को श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने इन वचनों से बड़ा ही हृदयग्राही भाव अभिव्यक्त किया है--

अंध अचेतन आस वसि, भर्मै भवजल मांहि ।
'परसा' हरि संतोष बिन, सदा दुखी सुख नांहि ।।
हरि सुमिरन संतोष धन, जाके आयो नांहि ।
'परसा' निहचै मूढ मन, मरसी माया मांहि ।।
सप्तदीप नव खंड को, राजा तउ कछु नांहि ।
'परसा' हरि संतोष बिन, भर्मै भव जल मांहि ।।

जिसको जीवन में यह सन्तोष-धन प्राप्त हो गया वह मानव निश्चय ही परम सुखी है। जहाँ सन्तोष है किसी भी प्रकार कामना (तृष्णा) नहीं है वहाँ आनन्द और रस धारा बहती है। इसी कामना अर्थात् तृष्णा परक यह उपदेश कितना अनुपम है जिसे परमाचार्यवर्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज

ने अपने 'श्रीपरशुरामसागर' ग्रन्थ में निर्दिष्ट किया है--

जब लगि मन कै कामना, तब लगि मन थिर नांहि।
'परसा' भरमैं भेद बिनु, भूखै भौजल मांहि ।।
जगत आस आधीन मन, अस्थिर कदै न होय ।
जो मन हरि कै रंगि रंग्यौ, 'परसराम' थिर सोय ।।

यथार्थ में यह जागतिक कामना अर्थात् जिसे तृष्णा के रूप में व्यक्त किया गया वह जब तक मानव मन में विद्यमान है, ऐसी अवस्था में उसका मन स्थिर कैसे होगा। कैसे उसे सन्तोष प्राप्त होगा। अतः इस तृष्णा से सर्वथा रहित होकर अपने जीवन को परम सन्तोष की ओर अग्रसर करें तो निश्चय ही इस जीवन में इस जगत् के सभी व्यवधान स्वतः विलीन हो जायेंगे और नितान्त रूप से अपरिमेय रसानुभूति होगी। अतः उत्तम पुरुष इन महनीय वचनों को अपने अन्तःकरण में धारण कर अजस्र शान्ति प्राप्त करें।

मनुज देह पाकर श्रीभगवद्विमुखता धिग्रूप है

बहुजन्मार्जित पुण्य प्रभाव और उससे भी सर्वतोमुख्य श्रीप्रभु कृपा जिसके फलस्वरूप यह परम दुर्लभ मानव शरीर मिला। यदि इस अति अलभ्य शरीर को पाकर उन निखिलनियन्ता सर्वान्तरात्मा श्रीसर्वेश्वर का भजन स्मरण नहीं किया तो यह शरीर कितना ही सुभग, श्रेष्ठ, श्रीसम्पन्न क्यों न हो सर्वांशतः धिग्रूप ही है। शास्त्रों के ये वचन इसी की प्रेरणा दे रहे हैं--

धिक्कुलं धिक्कुटुम्बं च धिग्गृहं धिक् सुतं च धिक् ।
आत्मानं धिक् शरीरं च श्रीगोपालपराङ्मुखम् ।।

निखिलकल्याणगुणैकराशि अनन्तकृपासिन्धु सर्वेश्वर श्रीगोपाल प्रभु से यदि पराङ्मुख है उसके कुल को, कुटुम्ब को, घर को, पुत्र को और उसकी आत्मा एवं शरीर को धिक्कार है पुनः पुनः धिक्कार है।

इसी आशय को आद्याचार्य निम्बार्क भगवान् के परवर्ती आचार्यवर्य श्रीविलासाचार्यजी महाराज ने 'श्रीकृष्णस्तवराज' के अन्तिम श्लोक से इङ्गित किया है--

प्राप्य जन्म यदि मानुषं नरः सेवते न तव पादपङ्कजम्।
धिक्च जन्म कुलमादिदेव ! तद्यौवनादि सकलं न शोभते।।

इस मनुष्य शरीर को प्राप्त कर यदि हे सर्वेश्वर ! आपके श्रीचरणारविन्दों का अनुसेवन चिन्तन स्मरण नहीं करता है तो उसके जन्म, कुल आदि सभी को धिक्कार है उसके यौवन समग्र वैभवादि भी शोभित नहीं होते।

केनोपनिषद् के इस मन्त्र से भी स्पष्ट है-**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।**

अर्थात् इस नृदेह को पाकर श्रीहरि के स्वरूप को जान लिया उनका आश्रय पा लिया तो अतीव उत्तम है अन्यथा महान् विनाश है।

श्रीमद्भागवतोक्त यह वचन भी इसी भाव को व्यक्त कर रहा है--

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः।
तत्राऽपि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्।

प्रथम तो यह मानव शरीर जो क्षणभंगुर रूप है उसका प्राप्त होना ही अति दुर्लभ और उसमें भी वैकुण्ठाधिपति सर्वेश्वर श्रीहरि के परम प्रिय भक्तों का दर्शन तो और भी दुर्लभ है।

अतः धीमान् पुरुष का कर्तव्य है कि वह अपने उचित कर्तव्य का निर्वाह करते हुए अपने सर्वाराध्य श्रीसर्वेश्वर का सर्वात्मभाव से प्रतिपल उन्हीं का ध्यान अनुस्मरण करे जिससे उन श्रीहरि की अहैतुकी कृपा का पात्र बन सके। मुख्यतः श्रीप्रभु समाश्रित जो वैष्णव भगवज्जन हैं उन्हें तो सर्वदा उन हृदयेश्वर का परिशीलन, अनुसन्धान करना चाहिये। उनको अन्य अभिलषित वस्तुओं की अपेक्षा ही नहीं करनी चाहिये। शास्त्रों का यह उद्घोष कितना महनीय है--

भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।
योऽसौ विश्वम्भरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते।।

श्रीभगवदनन्य वैष्णवजन भोजन-वसनादिक की निरर्थक ही चिन्ता किया करते हैं। वे कृपापयोधि श्रीप्रभु समग्र जगत् के सम्पोषक परिपालक हैं क्या वे दयार्णव श्रीसर्वेश्वर अपने प्रपन्न भक्तों की कभी उपेक्षा कर सकते हैं।

अतएव ''सततमावर्तये'' के अनुसार अनवरत उन सर्वज्ञ सर्वेश्वर युगलकिशोर श्रीराधामाधव प्रभु की ही एकमात्र अवलम्ब पूर्वक आराधना-उपासना करे जिससे इस मानव शरीर की परम उपादेयता एवं जीवन चरितार्थता हो सके। फिर यह धिग्रूप जीवन स्वतः सार्थक हो जावेगा।

आचार्यवर्य श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज के ये भाव कितने प्रेरक हैं--

मन हरि की सरन सुख पाइये।
सब विधि आन आस तजि, भाई हरि ही के गुन गाइये।।
हरि पद पंकज बसत अमित गुन, सौरभ सरस लुभाइये।
सेवत लोभी रसिक भक्त जिहिं, पलहू नहिं बिसराइये।।
प्रभु सौ दाता कोन जगत में, सो क्यौं न मोहि बताइये।
गोबिंदसरन सिंह सरनौ तजि, स्याल सरन किस जाइये।।

वस्तुतः उन सर्वाराध्य श्रीहरि का अवलम्ब ही जीवन का सार सर्वस्व है। जिनके शरण्य सर्वेश्वर श्रीराधामाधव हैं वे परम सौभाग्यशाली और परमोत्तम हैं।

श्रीहरि भजन ही जीवन का सार सर्वस्व है

जागतिक जितने भी द्वन्द्व हैं वे सभी साधक के लिये अत्यन्त बाधक हैं। मनुज जीवन का एकमात्र आधार सर्वेश्वर श्रीहरि ही सर्वतोमुख्य है। अतः इस भीषण भवाटवी के समग्र द्वन्द्वों से सर्वथा रहित होकर सर्वदा अपने अन्तर्मानस में उस परमात्मतत्त्व को निहित करना परम अभीष्ट है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी का उन पुराणपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने शरणागत अर्जुन को इङ्गित किया है--**''मन्मनाभव मद्भक्तोमद्याजी मां नमस्कुरु'' ''सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'' ''मय्येव मन आधत्स्व'' ''मयि बुद्धिं निवेशय'' ''बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्'' ''तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'' ''तमेव-शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत''** इन श्रीगीतोक्त समग्र वचनों का सारभूत यही तात्पर्य है **कि उन्हीं निखिलजगज्जन्मादिहेतु सर्वान्तरात्मा भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण**

का उनकी प्रपन्नापूर्वक सर्वविधा भजन अनुस्मरण करे। इसी भाव को सुदर्शनचक्रावतार श्रीमन्निम्बार्काचार्य भगवान् ने अपने ''वेदान्तकामधेनु-दशश्लोकी'' में उपदिष्ट किया है--**'उपासनीयं नितरां जनैः सदा' 'नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्'**।

इसी आशय को अभिव्यक्त कर रहे हैं जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठाधीश्वर श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज अपनी सरस वाणी में--

अरे भाई गोविंदै गाय।
ध्रुव हरि गायो सब सुख पायो, तनके दुरित नसाय।।
प्रतिग्या राजसुता की राखी, हरषी हरि बर पाय।
'गोबिंदसरन' भज ताप नसावन, हियरा अति सरसाय।।
सुमिरन कीजै हरि ही कौ।
सोवत जागत बैठत ऊठत, जीवन हरिजी कौ।।
इन्द्री मन चैतन्य जासु बल, प्रेरक सब ही कौ।
सुखदायक सुर असुर भूमिसुर, ता बिन जग फीकौ।।
सुमिरन करि प्रह्लाद अभै हरि, दियौ हरिजन टीकौ।
'गोबिंदसरन' गनत नहिं कोऊ, मेटन भव भीकौ।।

वस्तुतः जिनके जीवन में भगवद्भक्ति परायणता है, प्रतिपल श्रीप्रभु का ही चिन्तन, ध्यान, आराधन है वे भवताप द्वन्द्वों से विरत होकर भगवदीय दिव्य रसानन्द की अनुभूति करते हैं। उनके समग्र संकटों का परिहार स्वतः विलीन हो जाता है। उनका निर्मल अन्तःकरण अहर्निश अपने आराध्य के स्मरण में तत्पर रहता है। ऐसे पुण्यात्मा भक्तों के लिये श्रीप्रभु स्वयं उनके समस्त योगक्षेम का वहन करते हैं--

'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं बहाम्यहम्'
'न मे भक्तः प्रणश्यति'
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्त्वङ्घ्रिरेणुभिः'

अशरणशरण भक्तवांछाकल्पतरु अकारणकरुणावरुणालय युगलकिशोर सर्वेश्वर श्रीराधामाधव प्रभु इतने कृपार्णव है कि अपने प्रपन्नागत भक्तों के पावन मनोरथों को पूर्ण करते हैं। उन्हें परम अभय प्रदान कर **शाश्वत दिव्यानन्द रसामृतसिन्धु में निमज्जित करते हैं। अतः भवारण्य के**

कण्टकाकीर्ण बाधा से सर्वथा विमुख होकर सर्वात्मभाव से अपने हृदयेश्वर की आराधना करना ही जीवन का परम लक्ष्य हो। इसी अभिप्राय को परमाचार्यवर्य जगद्गुरु निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज अपने 'श्रीपरशुरामसागर' ग्रन्थ में अभिव्यक्त कर रहे हैं--

परसा जीवन दूरि है, मरना निकट विचारि।
तातें कछु न कीजिये, भजिये देव मुरारि।।
दीनबन्धु दुःख हरन हरि, अशरन शरन सहाय।
ऐसे प्रभु को 'परशुराँ', भजै क्यों पछिताय।।
हरि सनमुख सिरनाइये, जपिये हरि को जाप।
हरि उर तैं न बिसारिये, 'परसा' प्रेम मिलाप।।
जिनि तन सिरज्यों 'परशुराँ, ताकौं सदा संभारि।
नित पोषे रक्षा करे, हरि प्रीतम न विसारि।।

अतएव सर्वात्मना श्रीहरि का ही अनुसन्धान हो यही जीवन का सार सर्वस्व है।

वेदादिशास्त्र प्रोक्त सनातन संस्कृति

श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादि प्रतिपादित त्रिकालदर्शी तत्त्ववेत्ता ऋषि-मुनीश्वरों आप्तधीर पुरुषों द्वारा अनुमोदित अनादिवैदिक सनातन संस्कृति ही सर्वाङ्गीण रूपेण अनुपालनीय है। यह संस्कृति प्राणीमात्र की हितकामना करती है। जिस प्राणी से मृत्यु का सर्वथा भय हो उसकी भी मंगलकामना ही नहीं अपितु उसकी वन्दना भी करती है। जो प्राणी हेय अस्पृश्य समझा जाता हो उसके लिये भी गो-ग्रास की भाँति श्वान ग्रास और काक ग्रास का विधान है। सर्प का दर्शन वन्दन माङ्गलिक माना जाता है। जड रूप वृक्षों से अपने दन्तधावन हेतु उसकी शाखा प्राप्त करते समय वन्दन पूर्वक क्षमा प्रार्थी होते हैं। चेंटी जैसे सूक्ष्म शरीरधारी प्राणियों को अन्नकण वितरण किया जाता है। माता-पिता, गुरुजनों, शिक्षकजनों, वृद्ध और असहायजनों, दीन-दुःखियों की सेवा करना इस संस्कृति का परम धर्म है। अतिथि-अभ्यागत जनों का समग्र विधा स्वागत करना वैदिक संस्कृति का मूल आधार है। ऐसा परम औदार्य इस महान् संस्कृति में

निहित है। जिसका वर्णन लेखनी द्वारा संभव नहीं।

समग्र विश्व मङ्गल कामना की अनवरत उत्कट उत्कण्ठा करने वाली संस्कृति पर यदि कोई आघात करने की चेष्टा करे तो यह न केवल अज्ञानता ही नहीं अपितु समग्रतया पूर्णतः असुरता और अक्षम्य अपराध है। ऐसे जघन्य क्रूरकर्म-परायण जनों को संरक्षण देना सदा अहितकर है। सम्प्रति इस विकट संकटापन्न अवस्था में उत्तम पुरुषों का, प्रशासकों का यह परम कर्तव्य और परम धर्म हो जाता है, कि वे दुरित जनों के परिहार हेतु मनसा, वाचा, कर्मणा अपने कर्तव्य का निर्वाह करना अपना अनिवार्य स्वरूप समझें।

सर्वथा शान्त इस भारतीय संस्कृति और मानवता पर जो अकल्पनीय आघात हो रहे हैं वे कितने निन्दनीय है लेखनी व्यक्त नहीं कर सकती।

देव मन्दिरों तक को भी वे क्रूरकर्मा विनाश करने में तत्पर हैं। प्रशासकवर्ग मूकवत् स्वयं को स्वस्थ समझ रहा है। ऐसे घृणित कर्मों का अविलम्ब परिहार हो, परिशमन हो तभी ऐसे दुरितजनों को दिशा मिलेगी। इस प्रकार किया गया विलम्ब अत्यन्त भयावह होगा। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश प्रदान करते हुए यही उपदेश किया है-''तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'' वस्तुतः यह भगवद्-वचन अत्यन्त सारगर्भित है इसी पवित्र उपदेश को अपने अन्तःकरण में धारण कर ''तस्माद्युध्यस्व भारत'' ''तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः'' ''ततो युद्धाय युज्यस्व'' का आश्रय लें सभी संकटों का स्वतः ही निवारण होगा। अन्यथा ''महती विनष्टिः'' अर्थात् अन्तन्तोगत्वा महाप्रणाश ही एकमात्र सर्वान्तिम परिणति है।

प्रातःकाल का भूला हुआ यदि सन्ध्या तक अपने आवास पर लौटकर आ जाय तो भूला नहीं कहाता अतः अब भी विवेक से राष्ट्र-रक्षा एवं संस्कृति के सर्वात्मना संरक्षण हेतु उपयुक्त मार्ग का अवलम्ब लेना नितान्त रूपेण परम अपेक्षित है। सामान्य उपेक्षा भी भयङ्करता उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार शरीरगत सामान्य व्याधि की उपेक्षा करने पर वह भीषण रूप ले लेती है। अतः स्थिर चित्त से प्रशासक वर्ग एवं समग्र देशवासी समवेत रूप से राष्ट्र एवं संस्कृति पर आने वाले तीव्रतम झंझावातों का इस

कालचक्र का सम्यक् प्रकार से समाधान करने को पूर्णतः सक्षम रहें।

विपरीत शक्ति को कभी सामान्य न समझा जाय अपनी स्वयं की शिथिलता अपने लिये ही घातक होना अस्वाभाविक नहीं। अतः संक्षेप में स्वस्थ चित्त से गहन चिन्तन पूर्वक इस और समस्त विचार वृत्तियों को केन्द्रित करके सर्वात्मना अपनी वैदिक सनातन संस्कृति और अपने इसी संस्कृति के परम प्रतीक देवालयों की, गोमाता की अपने सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मय साहित्य किंवा हिन्दी-व्रजभाषा या प्रान्तीय भाषा के सत्साहित्य की सुरक्षा के साथ सम्पूर्ण राष्ट्र की सर्वविध रूप से उसके सुरक्षार्थ जिन उपायों का आश्रय लेना हो किञ्चिन्मात्र भी विलम्ब न करे तभी अपना यह भारतवर्ष अपने अतीत के गौरव पर स्थिर रह सकेगा।

स्वार्थान्धता अत्यन्त घातक है

जिस मानव के जीवन में स्वार्थपरता है, स्वार्थान्धता है, वह सभी की दृष्टि में हेयास्पद है। और जिसके जीवन में स्वार्थ राहित्य है निस्वार्थ भाव से सेवारत है वह सभी का प्रिय भाजन होता है। आज विश्व में सर्वत्र स्वार्थपरता के कारण अशान्ति, आक्रोश, कलह, वैपरीत्य आदि का ही प्राबल्य है। जिसके परिणामस्वरूप तस्करता, अनाचार, लूटखसोट, नाना उपद्रव दृष्टिगत होते हैं। जिसके कारण न तो परस्पर सौहार्द, मतैक्य और न आत्मीयता ही हो पाती है। कहीं द्वन्द्व युद्ध तो कहीं जघन्य पापाचार हत्यायें और अकल्पनीय घृणित घटनायें प्रतिदिन होती हैं।

जो मानव जगन्नियन्ता सर्वेश्वर श्रीहरि के समाश्रित होकर प्राणिमात्र की मङ्गलकामना करता है, पवित्र आचरण करता है, स्वकीय स्वार्थपरता का त्याग करता है,--

सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ।।

इस पावन विचार को अपने हृदय में धारण कर तदनुकूल आचरण करता है वही मानव उत्तमश्लोक मानव है। **''सर्वभूतहितेरताः''** यह उदात्त भाव जिसके मानस में सुप्रतिष्ठित हो वस्तुतः उसी का जीवन जीवन

है। **''उदरम्भरिणो जीवा वराकाः कूटभाषिणः''** ऐसों का जीवन आसुरी जीवन है जो सभी के लिये अमङ्गल और अनर्थकारी है और इसके मूल में स्वार्थ परायणता ही प्रमुख है स्वार्थ लिप्सा में मानव कर्तव्याकर्तव्य का बोध नहीं कर पाता अविवेकपूर्ण उसका जीवन कष्टदायक हो जाता है। महाभारत के युद्ध में स्वार्थ का ही प्रामुख्य था। उसी के फलस्वरूप महा विनाश हुआ।

सम्प्रति सम्पूर्ण विश्व के सन्मुख जो अशान्ति उपद्रव आदि दृग्गोचर हो रहे हैं, ये सब मात्र स्वार्थ के पीछे हैं। यदि इसका परिशमन हो जाय तो समस्त समस्यायें स्वतः शान्त हो जायेगी। सर्वत्र शान्ति का स्वस्थ स्वरूप स्वयमेव आविर्भूत होगा तथा प्रत्येक जन परस्पर में सौजन्य का आश्रय लेकर अपना तथा अपने राष्ट्र का सर्वतोभावेन हित करने में सर्वदा जागरुक हो सकेंगे।

जो स्वार्थ-रत हैं भगवद्विमुख हैं, हिंसा-परायण है ऐसे ही विमुखजनों के लिये श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर आचार्यवर्य श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज इस दिव्य वचन से इसी आशय को ही अभिव्यक्त कर रहे हैं--

देखो हरि विमुखन की करनी।
पर निन्दा -हिंसा पर द्रोही, तिनके भार दुखित तन धरनी।।
हरि चरनामृत विमुख अधम नर, पीवत मदिरा नरक वितरनी।
रुचि सौं सुनत विषै का गाथा, सुनत न कथा स्याम मन हरनी।।
हरि अमृत फल त्यागि विषै विष, खात न जानत परबस परनी।
गोबिंदसरन चिन्ता तिनकी मन, पार चहत पाषान सु तरनी।।



असहायजनों की सेवा करना हमारा परम कर्तव्य

जो जन समुदाय असहाय, दीन दुःखी, साधन विहीन, रोगाक्रान्त, विपन्नादि नानाविध कष्टों का अनुभव करता है तथा समग्रविधा से निरुपाय अवस्था में किंवा वार्द्धक्यकाल में प्रपीडित है ऐसे संतप्त जनों की सेवा, सहानुभूति आदि विधाओं से उनकी आर्तावस्था का अपने प्राप्त साधनों से परिशमन करना निन्तान्त कर्तव्य है।

जिनको जल का, अन्न का, वस्त्र का, अर्थाभाव का संताप है। तदर्थ पूर्त्यर्थ समय विनियोग करना श्रेष्ठ मानव का महनीय धर्म एवं अत्यावश्यक कर्तव्य है। सम्प्रति भारत के विभिन्न-अञ्चलों में इस प्रकार की अवस्थायें प्रत्यक्ष दृष्टिगत होती हैं। ऐसे विपरीत काल में हमारा एवं प्रशासक वर्ग का इत्त्थंभूत पावन कर्म होना परम अपेक्षित है जिससे ऐसे असहाय वर्ग को कुछ शान्ति का अनुभव संभव हो। श्रीमद्भागवत में महाराज रन्तिदेव का यह अत्यन्त प्रेरणादायक वचन कितना हृदयाकर्षक है जो सर्वरीत्या मननीय एवं अवधारणीय है।

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिल - देहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ।।

उन सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर से न तो अष्ट सिद्धियों की इच्छा करता और न मोक्ष को ही चाहता, मैं मात्र यही कामना करता हूँ कि समग्र प्राणि-समूह के अन्तःकरण में निवास करूँ जिससे उन प्राणियों को होने वाला कष्ट मुझे ही मिले और वे परम सुखी रहें।

कैसी अनुपम कामना है महाराज रन्तिदेव की जो समस्त प्राणि मात्र के क्लेश बहन को स्वयं सन्नद्ध होकर उनके सर्वविध सुखास्पद भाव की मङ्गल-स्पृहा निखिल जगत्पालक सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर से करते हैं। इन भक्तराज की कितनी विस्मयावह लालसा अभिव्यक्त हो रही है जो निश्चय लोकातीत है। वस्तुतः इस उपर्युक्त आदर्शमय वचनानुसार शतांश भी इसका अनुपालन हो जाय तो कितना श्रेष्ठ है। जिनका उत्तम जीवन है, उत्तम कर्तव्य है, उत्तम विचार है, वे इसी भाव को हृदयङ्गम करके आचरण में लाते हैं, किन्तु इसके विपरीत जिनका अन्तःकरण अपावन है कुण्ठित है

कलुषित है वे निरन्तर सबका अहित चिन्तन अमङ्गल ही सोचते हैं। ऐसे अविवेकी जन अन्ततः अपना अधःपतन ही करते हैं।

हमारे शास्त्रों का हमारी वैदिक सनातन संस्कृति का यह कितना मङ्गलकारक उद्घोष हमें इङ्गित करता है--

सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्।।

सम्पूर्ण यावन्मात्र प्राणि परम सुखी रहें, निरामय अर्थात् रोग रहित हों, सभी श्रेष्ठता का अनुभव करें, कोई भी किसी प्रकार के दुःख को प्राप्त न करें।

यथार्थ में ऐसा सर्वहितप्रद पावन वचन दिव्य उद्घोष विश्व की किसी भी संस्कृति में नहीं मिल सकता। यह पवित्र विचार केवल हमारी भारतीय मङ्गल संस्कृति में निहित है। 'सर्व भूतहिते रताः' का पुनीत संदेश इसी संस्कृति का अनुपम स्वरूप है।

अतः उत्तम पुरुषों का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि जो प्राणी किसी भी रूप में अति संतप्त हो किसी प्राकृतिकजन्य घोर विपत्ति में व्याकुल हो व्यथित हो तो उसके कष्ट निवारणार्थ अपना सहयोग, परिचर्या यथाशक्य करना मानव धर्म का आचरणीय परम कर्तव्य है। और इस कर्तव्य के निर्वाह के लिये मनसा, वाचा, कर्मणा, अपने आपको सेवार्पित करे। ऐसे उत्तम सेवारत मानव पर सर्वज्ञ सर्वेश्वर श्रीहरि भी अति प्रमुदित होते हैं और अपनी अहैतुकी अनिर्वचनीय कृपावृष्टि से उस सेवा प्रवृत्त साधक को कृतार्थ करते हैं। इस जगत् में वह सर्वदा आदरणीय एवं चिरस्मरणीय हो जाता है।

जिसके जीवन में सेवाव्रत अनुष्ठेय है वह परम गौरवास्पद एवं महान् आदर्शरूप है।

दीन-दुःखी सेवा करै, यह आदर्श महान।
श्रीहरि कृपा भाजन बनै, 'शरण' सदा सुखमान।।

दीन-दुःखियों की सेवा करने वाला उत्तम पुरुष कभी भी विपत्ति नहीं पाता वह निरापद अवस्था में इस भूतल पर सुयश पाकर ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति करता है। इसलिये साधक को चाहिये वह अनवरत सेवाव्रती बने।

श्रीवृन्दावन का झूला महोत्सव

श्रीधाम वृन्दावन के रसमय दिव्यातिदिव्य महोत्सवों में झूला महोत्सव के दिव्यानन्द का निवर्चन वाणी किंवा लेखनी का विषय ही नहीं है। इसकी दिव्यानुभूति तो वे आप्तकाम पूर्णकाम निष्काम अमलात्मा अनन्यरसिक महात्मा महापुरुष ही कर सकते हैं जो निरन्तर श्रीधाम की मञ्जुल कुञ्जों में पावन वीथियों में कलिन्दजा के कमनीय कूल पर अवस्थित रहकर वृन्दावनविहारी युगलकिशोर श्यामाश्याम सर्वेश्वर श्रीराधामाधव प्रभु के तन्मयता पूर्वक समाधिस्थ हो अनवरत उन्हीं के दिव्य चिन्तन में तत्पर हों।

यद्यपि सदा ही श्रीधाम महोत्सवमय है तथापि श्रावण की इस मनोहर पावस ऋतु में झूला-महोत्सव में जो अनिवर्चनीय आनन्दप्रद रसमयी धारा प्रतिपल प्रवाहित रहती है वह लोकोत्तर है अवर्णनीय है अचिन्त्य है। श्याम मञ्जुल अम्बुद घटा, दामिनी-द्युति-दिव्य-चमत्कृति, नवघनगर्जन, वारिवर्षणधारा, यामुननीरगम्भीरधारा, मत्स्य-कच्छपादि जलचरक्रीड़ा, सघन हरित द्रुमावलि, विविध-विकसित-कुसुम-सौरभ, दर्दुर निकर घोष, भृङ्गावली गुञ्जन, मयूर-शुक-सारिका-कोकिल-सारस-हंसादि-नभचरमधुरनिनाद, रसिकजन-समुच्चरित-सरसपदावली, व्रजजनप्रगीतलोकसंगीत, व्रजवृन्दावनोपासकरसिकोच्चरितजयध्वनि, श्रीरासलीलालितरसास्वादन, श्रीवनरसिकविद्वन्मूर्द्धन्य,-मधुरयुगलकथामृतरसप्रवाह आदि ये सभी रसभरित अनेकानेक श्रीधाम के स्वाभाविक स्वरूप के दर्शन अति कमनीय हैं।

श्रीयुगलप्रियालाल नित्यनवसखीपरिकर से सदा परम सुशोभित जब मञ्जुलकुञ्जों में तरुवल्लरियों के मध्य विविध दिव्य रत्नजटित हेममण्डित झूला महोत्सव में विराजित दिव्यातिदिव्य शोभा समन्वित झूल रहे हैं उस असमोर्ध्व कमनीयता का वर्णन इस प्राकृत जगत् में प्राकृत भाषा में प्राकृत लेखनी से कथमपि सम्भव नहीं। कोई श्रीयुगल कृपाभाजन भाग्यशाली रसिक महानुभाव ही इस अद्भुत शोभा की अभिव्यक्ति अपने मानस में प्राप्त कर सकता है।

जय हो, जय हो, सखी परिकर द्वारा समुच्चरित यह परम मनोहारी

जय ध्वनि कितनी अनुपम है विलक्षण है। वस्तुतः श्रीधाम के इस झूला महोत्सव का वर्णन किस विधा से किया जाय। अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर रसिकराज राजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने झूला के इस दिव्य स्वरूप का ''श्रीमहावाणीजी'' में जो वर्णन किया है भावुकजन उसका परम तन्मयता से अनुशीलन करें,--

झूलत लाड़िली लाल हिंडोरे। झूलावें सखि थोरें-थोरें।
झूल फूल में बैठे दोऊ उभँग अंग अँग सोहैं।
तैसीय रंगरँगीली सहचरी सखी संग मन मोहैं।।
लाड़ लड़नकौं लाड़ लड़ावत कहि-कहि वचन लड़ोहे।
सुनि-सुनि पुनि-पुनि भीजि-भीजि रस रीझन रीझि रिझोहैं।।
गौर साँवरे गात मनोहर सुहे रंग पट पहरें।
लहलहाति लावनि लावनि में लावनिता की लहरें।।
मंजुल मुकुट चंद्रिका चटकनि छुटे छबनि की लहरें।
नाना बरन बरन आभूषन आभूषित गुन-गहरें।।
इक इक करन गहें डाँडी दूजैं कर दै गरबहियाँ।
उरन भरे आनन्द मधुर मुख मंद मंद मुसकहियाँ।।
बर कपोल पर किरनिं कचन की सनी सनेह सुमहियाँ।
अति रसभीनी चखियनि की चितवनि में चित्त चुरहियाँ।।
उमड़ी घुमड़ि घटा सब दिसितें लागत परम सुहाई।
जैसिय दामिनि की कलकौंधनि चकाचौंधनि छिति छाई।।
हरीभरी हरेभरे द्रुमन प्रति रहो लता लपटाई।
तैसीये चट चातकि सुक पिक रट मोरनि सोर मचाई।।
बहत सहज सुखदायक सीतल मंद सुगंध समीरें।
परसतही सरसत अँग अँग में अति अमृत की सीरें।।
खिसनि कुसुम अंचर की फहरनि श्रमकन समन सरीरें।।
उमगि१ अनुरागिनि गावत मुक्तमालिनी अलियाँ।
बाजन की बाजनि सुरसाजनि रतिराजनि रंगरलियाँ।।
तान तरंगनि नृत्य सुधंगनि कौतुक बढ्य्यौ अतुलियाँ।
तन मन मगन महासुख-सरवर सोहत मुख मंजुलियाँ।।

कोउ सखी कर लियें बीजना कोउ चँवर कर ढौरैं।
कोउ सखी कर लियें मौरछल झुकि झुकि झूमि झकोरैं।।
कोउ सखी मुखबास डबालियें कोउ झारी भरि सौंरैं।
अपनी अपनी सौंजनि सजि सजि सब ठाडी सब औरैं।।
जुगलचन्द्र आनंद उजागर नागरता की रासी।
नित नव कुंज-भवन सुख विलसत नित्यबिलास बिलासी।।
लगी रहत नित संग चकोरी सहचरि खास खवासी।
श्रीहरिप्रिया प्रमोद प्रमोदहिं निरखि निरंतर दासी।।

असहायजनों की सेवा परमधर्म है

मानव के जीवन में अनेक उत्तमोत्तम ऐसे कर्तव्य कर्म हैं जो सर्वदा समाचरणीय हैं। उनमें सेवा कर्म का उच्चतम स्थान है। सेवा के भी अनेक स्वरूप हैं, यथा पितृ-सेवा अर्थात् माता-पिता की निष्ठा पूर्वक सेवा सम्पादन करना। ऐसे ही गुरु सेवा का बड़ा महत्व है। गुरु सेवा से सर्वार्थ सिद्धि प्राप्त हो जाती है। श्रद्धापूर्वक की गई यह सेवा निश्चित ही फलदायी होती है। इसी प्रकार जो दीन दुःखी हैं, असहाय है, असमर्थ है, वृद्ध है, रुजाक्रान्त हैं, ऐसे जनों की सेवा से जगन्नियन्ता श्रीसर्वेश्वर भी अतिशय प्रसन्न होते हैं। पशु-पक्षी-लता-पादप आदि चराचरात्मक जगत् की सेवा में जिनकी अनुरक्ति है, वस्तुतः वे पुण्यश्लोक मानव श्रीभगवत्कृपा के पात्र होते हैं। सेवा धर्म नितान्त रूपेण अनुष्ठेय है। सेवा धर्म पालन से अपना तो समग्र विधा हित होता ही है साथ ही इतरजनों को सत्प्रेरणा प्राप्त होती है।

अनेक परम भागवत महापुरुषों के ऐसे उदाहरण है जिन्होंने मनसा, वाचा, कर्मणा असहायजनों की सेवा में अपना सर्वार्पण किया है। महाराज श्रीरन्तिदेव का लोक पावन चरित जगत् प्रसिद्ध है। एतद्विषयक उनका यह दिव्य वचन कितने महत्व का है,--

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।।

(श्रीमद्भा. स्क. ९ अ. २१ श्लो.१२)

मैं उन सर्वात्मा सर्वेश्वर श्रीहरि से अष्ट सिद्धि समन्वित परम गति की आकांक्षा नहीं करता और न मोक्ष ही मुझे अभीप्सित है। मैं मात्र इच्छा करता हूँ कि समस्त चराचर प्राणियों के अन्तःकरण में मैं स्वयं अवस्थित हो जाऊँ और उनका सम्पूर्ण क्लेश मैं ही सहता रहूँ जिसके फलस्वरूप यावन्मात्र समस्त प्राणी आनन्द का अनुभव कर सकें।

वस्तुतः महाराज श्रीरन्तिदेव की यह परम प्रेरणादायी उक्ति कितनी हृदयाकर्षक है, उद्‌बोधनकारक है जिसे अपनी लेखनी के द्वारा व्यक्त करना भी कठिन है। एवंविध महाराज श्रीअम्बरीष का भक्ति-सेवा से परिपूर्ण जीवन भी अत्यन्त चित्ताकर्षक है। उन्होंने श्रीहरि भक्ति के साथ सभी की मंगल कामना चाही। महर्षि दुर्भासा के कुपित होने पर उनके द्वारा प्रयुक्त कृत्या पर श्रीसुदर्शनचक्रराज ने उसका शमन कर महर्षि पर श्री चक्रराज ने आक्रमण कर लोक लोकान्तरों में पलायमान करने के लिये श्रीदुर्वासा को विचलित कर दिया ब्रह्मा, शंकर, भगवान् विष्णु ने भी उनकी रक्षा करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की इस अवधि में बिना अन्न-जल ग्रहण किये महाराज अम्बरीष करबद्ध श्रीदुर्वासा के संकट निवारण हेतु श्रीहरि की प्रार्थना करते हुए ज्यों के त्यों दीर्घकाल पर्यन्त खड़े ही रहे। क्या ही विचित्र यह दिव्य आदर्श है जिसे मानवमात्र को किन्हीं भी अंशों में अवधारण कर अपने जीवन को चरितार्थ करना चाहिये। उदाहरण तो अनेक है किन्तु उनसे प्रेरणा प्राप्त करने वाले उत्तमजन दुर्लभ हैं। फिर भी काल-क्रमानुसार असहायजनों की जितनी भी सेवा सम्पादित हो सके इस सेवाधर्म को अपने अन्तर्मानस में अवश्य ही धारण करना नितान्त आवश्यक है।

साम्प्रतिक समय में जहाँ भी दृष्टिपात करें सर्वत्र किसी न किसी रूप में परस्पर कलह नाना उपद्रवों का अकल्पनीय नग्न ताण्डव ही देखने सुनने को मिलता है जो अत्यन्त घृणास्पद है। विवेकहीन मानव स्वार्थान्ध होकर कल्पनातीत दुष्कृत्यों की ओर अग्रसर है। किन्तु जो शास्त्र सम्मत वैदिक सनातन धर्म के प्रति परम आस्थावान् हैं वे अपने समुचित कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए असहायजनों की भावना पूर्वक परिचर्या (सेवा) में अपने समय का सदुपयोग करते हैं। यथार्थ में यह परम प्रेरक श्रेष्ठतम कार्य है।

दुष्काल में हमारा कर्तव्य

अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, चक्रवात, संक्रामक रोग, युद्ध आदि विषम परिस्थितियों से जो जन समुदाय, पशु-पक्षी आदि प्रपीड़ित हो तो ऐसे विकट संकटापन्न काल में उत्तम पुरुषों का यह परम पावन धर्म और अत्यन्त अनिवार्य कर्तव्य होता है कि जिस विधा से उनका यथाशक्य मनसा, वाचा, कर्मणा और तन-मन-धन, अन्न-जल-वसन से पर्याप्त सहयोग एवं अपनी यथेष्ठ सेवा प्रस्तुत करें। वस्तुतः यही वास्तविक मानवता का उत्तम स्वरूप है।

ऐसे विपरीत अवसर पर प्रशासकों का सरकार का एवं उद्योगपतियों का, व्यवसायियों का तथा स्वस्थ अवस्था पूर्ण क्षेत्रवासियों का यह परम धर्म, परम कर्तव्य है कि वे सर्वात्मना अपनी पवित्र सेवा से संकटापन्नजनों को सन्तुष्ट करें। हमारे भारत के विभिन्न अञ्चलों के ऐसे महानुभाव भी हैं जो ऐसे दुःखद वृत्त को अवगत कर तत्काल अपनी प्रेरणाप्रद सेवा से महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। कतिपय ऐसी संस्थायें भी हैं जो विषम काल में अपनी सहानुभूति में अग्रगण्य रहती हैं। परन्तु अपने अन्तर्मानस में तब विचार होता है कि जो पूर्णतया अत्यन्त श्रीसम्पन्न और समर्थ हैं तब भी वे ऐसे विपरीत काल में अपनी पवित्र सेवा से वञ्चित रह जाते हैं जो निश्चय ही अत्यन्त चिन्तनीय प्रसङ्ग है।

अनावृष्टि के कारण भीषण अकल्पनीय, दुष्काल का प्रचण्ड ताण्डव हो रहा है, जिससे गोधन की भी भारी मात्रा में क्षति हुई हैं। इसी प्रकार भेड़-बकरियों के अस्थिकङ्काल से वन प्रदेश भरा पड़ा है। हरिणों की भी यही दशा है। मयूरादि पक्षिगणों के सामने भी संकट की कमी नहीं है। नाना प्रकार के नभचरों को भी यह अकाल संताप दे रहा है। तत्क्षेत्रीय जनों के सामने भी यही स्थिति है।

परम करुणावरुणालय भगवान् श्रीसर्वेश्वर से पुनः-पुनः यही अभ्यर्थना एवं मंगलकामना है कि वे कृपार्णव प्रभु अपनी निर्हैतुकी कृपा-कादम्बिनी का अभिवर्षण कर संकटापन्न समस्त प्राणीमात्र की रक्षा करें।

सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भाद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भेवत्।।

''हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'' सर्वेश्वर श्रीहरि के चिन्तन से समग्र संकटों का परिहार स्वतः हो जाता है। शास्त्रों के ये दिव्य वचन इसी का उद्बोधन दे रहे हैं--

अच्युतानन्त गोविन्द नामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्।।
हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपिस्मृतः।
अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः।।
रामनाम जपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना।।

उपर्युक्त इन दिव्य वचनों का सारांश यही है कि उन सर्वान्तिरात्मा सर्वेश्वर श्रीराधामाधव का हम समवेत रूप से चिन्तन स्मरण करें सभी विपत्तियों का अविलम्ब परिशमन सहज में सम्भव होगा। एतावता सभी भगवज्जन अपने-अपने परमाराध्य का निष्ठापूर्वक चिन्तन करें।

पुरुषोत्तम (अधिकमास) में परिक्रमा का विशेष महत्व

यों तो देव मन्न्दिरों की, श्रीभगवद्धामों की, तीर्थ स्थलों की कभी भी परिक्रमा की जाय तो परम फलदायी होती है। यदि यही परिक्रमा पुरुषोत्तम मास (अधिकमास) में श्रद्धाभाव पूर्वक क्री जाय तो उसका और भी अधिक सत्फल प्राप्त होता है। पुरुषोत्तम मास में व्रजधाम स्थित गिरिराज श्रीगोवर्धन की पदाति किंवा दण्डवती-परिक्रमा की जाय तो सहस्रगुणाधिक दिव्यातिदिव्य फल की उपलब्धि स्वाभाविक है। बड़े सौभाग्य से यह पावनतम अवसर प्राप्त होता है, इससे श्रद्धालु भावुकजनों को नितान्त रूप से परिक्रमा करने का संकल्प लेना चाहिये जिससे हमारे जन्म-जन्मान्तरीय कल्मष राशि का सहज में प्रक्षालन होकर श्रीभगवत्कृपा प्राप्त हो जाय।

यानि यानि च पापानि जन्मान्तरकृतानि च ।
तानि तानि प्रणश्यन्ति प्रदक्षिणा-पदे पदे ।।

जन्मजन्मान्तरीय हमारे जो भी पाप राशि हो वह परिक्रमा में प्रति पद-पद पर स्वतः ध्वस्त हो जाती है।

ऐसे पुनीत अवसर पर भगवद्दर्शन के साथ मन्दिर-परिक्रमा, तीर्थ-सरोवरों की परिक्रमा, कथा स्थल-यज्ञ आदि मंगलमय पवित्रतम स्थानों की परिक्रमा नियमित एक मास पर्यन्त पालन करना परम श्रेष्ठतम तप है। अपने घर में ही तुलसी-स्थल की परिक्रमा करें, तुलसी के दीपदान करें। इसी प्रकार गोमाता की परिक्रमा करें, उनको अन्न-तृण दान का परम पुण्यमय कार्य है। ज्येष्ठ अधिक मास में पक्षियों को अन्न-जल वितरण अत्यन्त फलप्रद है। मानव जीवन की सार्थकता चरितार्थता ऐसे ही पुण्यमय उत्तम कार्यों के सम्पादन करने में शास्त्रों ने श्रेष्ठ आप्त महापुरुषों ने अभिव्यक्त की है।

अपने यहाँ श्रीसर्वेश्वर प्रभु श्रीराधामाधव भगवान् की परम पुनीत सन्निधि में विभिन्न रूपात्मक मांगलिक समारोह समायोजित होते हैं। ऐसे रमणीय अवसर पर मन्दिर-परिक्रमा, निम्बार्कतीर्थ-सरोवर, यज्ञ मण्डप, भागवत मण्डप आदि की श्रीभगवन्नाम जपते हुए परिक्रमा करें इससे अनुपम लाभ होगा। प्रत्यक्ष में सुन्दर आनन्द रसानुभूति के साथ परोक्ष में इसका भावी अतीव सुखद फल परम मंगलदायक होता है। अतः भगवज्जनों को इस रसमय महानन्द सम्बर्द्धक अवसर पर सम्मिलित होकर अपने सुन्दर समय का सदुपयोग कर परम लाभान्वित होना चाहिए।

व्रजधाम में तो लता-द्रुमों की भी परिक्रमा करते हैं। पता नहीं कौन ऋषि-मुनि-यति, तपस्वी, मनस्वी, धीर पुरुष यहाँ व्रज में लता-तरुवरों के रूप में स्थित रहकर अपने परमाराध्य रसिकेश्वर सर्वेश्वर युगलकिशोर नित्यनिकुञ्जविहारी श्यामाश्याम श्रीराधामाधव प्रभु अनन्त सखि परिकर पुञ्ज से परिवेष्टित होकर श्रीवृन्दावन की मञ्जुल पावन कुञ्जों में विहरण करें और उन श्रीयुगल के श्रीयुग्मपदारविन्द विन्यास से श्रीवन अवनि की रजः कण राशि से हम अभिषिक्त हो जाँय जिससे श्रीवृन्दावनवास का साफल्य प्राप्त हो सके।

इसीलिये ये ऋषि-मुनि जन लता-गुल्मों के रूप में श्रीवृन्दावन में कलिन्दजा श्रीयमुना के सुरम्य पुलिनवर्ती तटों पर श्रीगिरिराज, वरसाना, नन्दगाँव, गोकुल, मथुरा आदि व्रज के समस्त क्षेत्र में निवास कर अपने को कृतार्थ मानते हैं। इसी दृष्टि से रसिक भावुकजन इन लता-वृक्षों की भी परिक्रमा करते हैं।

प्रदक्षिणा अर्थात् परिक्रमा इसका भी शास्त्रों में किन-किन देव मन्दिरों की कितनी परिक्रमा की जाय इसका भी स्वरूप परिवर्णित है, यथा--

चतुर्वारं भ्रमीभिस्तु जगत्सर्वं चराचरम् ।
क्रान्तं भवति विप्राग्र्य ! तत्तीर्थ गमनाधिकम् ।।
एका चण्ड्यां रवौ सप्त तिस्रो दद्याद्विनायके ।
चतस्रः केशवे दद्याच्छिवे त्वर्द्धप्रदक्षिणाम् ।।

भगवान् की चार बार परिक्रमा करने से सम्पूर्ण चराचर जगत् की परि मा हो जाती है। हे विप्रो में अग्रणी ! वह परिक्रमा समस्त तीर्थाटन से अधिक पुण्यदायक होती है।

पराम्बाशक्ति देवी के (एक) भुवनभास्कर भगवान् सूर्य के (सात), श्रीगणपतिजी के (तीन), भगवान् सर्वेश्वर केशव श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु श्रीलक्ष्मीनारायण भगवान् श्रीराम के (चार) तथा चन्द्रमौलि आशुतोष भगवान् श्रीशङ्कर के (एक) का भी (अर्द्धभाग) के रूप परिक्रमा करने का शास्त्रीय विधान वर्णित है।

परिक्रमा के अनन्तर अत्यन्त विनीत भाव से मन्दिर में विराजित श्रीप्रभु प्रतिमाओं को अथवा धामों को तीर्थों को, यज्ञ स्थलों, कथा मण्डप स्थलों को प्रणतिपूर्वक दण्डवत्प्रणाम अर्पित करे। जिस प्रकार परिक्रमा का महत्व है उसी प्रकार प्रणाम की भी अनुपम महिमा है--

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणमो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ।।

भगवान् श्रीकृष्ण को एक बार किये गये प्रणाम की महिमा दश अश्वमेध यज्ञ के सदृश है, दश अश्वमेध यज्ञ करने वाले को पुनः जन्म लेना पड़ता है किन्तु सर्वेश्वर श्रीकृष्ण को प्रणाम करने वाला इस भवार्णव से

निवृत्त होकर श्रीभगवद्धाम की प्राप्ति करता है। प्रणाम करने की विधि भी शास्त्रों में इस प्रकार उपदिष्ट है, यथा--

दोर्भ्यां पद्भ्यां च जानुभ्यामुरसा शिरसा तथा।
मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः।।
जानुभ्यां चैव बाहुभ्यां शिरसा वचसा धिया।
पञ्चाङ्गक प्रणामः स्यात्पावनौ प्रवराविभौ।।

दोनों भुजाओं, पद युगल, दोनों जंघाओं, वक्षस्थल,-उदर-शिर-मन-वाणी से जो प्रणाम किया जाय वह यह प्रणाम अष्टविध रूप है।

जंघा, बाहु, शिर, वाणी, पवित्र बुद्धि से जो प्रणाम किया उसे पञ्चाङ्ग प्रणाम कहा जाता है, ये उभयविध प्रणाम अत्यन्त श्रेष्ठ और पावनतम हैं।

नाम संकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनः तं नमामि हरिं प्रियम्।।

जिन सर्वेश्वर श्रीहरि का मंगलमय नाम संकीर्तन समस्त पापपुञ्ज का परिहार करने वाला होता है और जिनको प्रणाम किया जाय तो वह सम्पूर्ण दुःखों का परिशमन करने वाला होता है ऐसे परम करुणावरुणालय हृदयप्रिय श्रीहरि को प्रणाम करते हैं।

इस प्रकार परिक्रमा और प्रणाम का जो दिव्य माहात्म्य है वह वस्तुतः अनुपम है। परम भागवत भगवज्जनों को नियमित रूप से परिक्रमा तथा प्रणाम का अनुपालन करना निन्तात रूप से परम अभीष्ट होना चाहिये।

मारुतिनन्दन श्रीहनुमान्जी का दिव्यतम स्वरूप

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक अखिलान्तरात्मा सर्वेश्वर भगवान् श्रीराम के नित्य दिव्य पार्षद श्रीहनुमान्जी महाराज का जो परम दिव्य स्वरूप उनका लोकोत्तर माहात्म्य है उसका निर्वचन करना लेखनी का माध्यम नहीं है। यह तो उनकी ही अनन्तकृपाजन्य प्रेरणा स्वरूप ही अपनी लेखनी को पवित्रमात्र करना है। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने ''श्रीरामचरितमानस'' में एवं ''श्रीहनुमान् चालीसा'' में उनके महनीय स्वरूप का जो प्रतिपादन कराया है वह अतीव अद्भुत है। अध्यात्मरामायण,

वाल्मीकि-रामायण प्रभृति बहुविध रामायणों, विविध काव्य ग्रन्थों में अञ्जनिनन्दन महावीर श्रीहनुमान्‌जी का जो असमोर्ध्व स्वरूप का, उनकी दिव्यातिदिव्य महिमा का परिवर्णन है वह अतीव कमनीय है। श्रीराम-रावण युद्धकाल में पवनतनय श्रीमन्महावीर हनुमान्‌जी ने जो असीम महाबल का प्रयोग किया जिसे अवलोकन कर उभयपक्ष के सभी महायोद्धा परम विस्मित हो गये।

श्रीहनुमत्-लालजी के ऐसे ही दिव्य स्वरूप का विवेचन संस्कृत रससिद्ध महाकवि श्रीजयदेव ने ''श्रीरामगीतगोविन्द'' में परम माधुर्यपूर्ण परिवर्णन किया है--

तीर्त्वा क्षारपयोनिधिं क्षणमथो गत्वा श्रिय सन्निधौ
दत्त्वा राघवमुद्रिकामपशुचं कृत्वा प्रविश्याटवीम्।
भङ्क्त्वाशेषतरून्निहत्य बहुशो रक्षोगणांस्तत्पुरीं
दग्ध्वाऽऽदाय मणिं रघुत्तममगाद्वीरो हनूमान्कपिः ।।

वीराग्रगण्य कपीश्वर श्रीहनुमानजी ने क्षणमात्र ही में महासागर को सरलता से लांघ कर, जगज्जननी श्रीजानकीजी के सन्निकट पहुँच कर, उन्हें राजीवलोचन नयनाभिराम भगवान् श्रीराम की मङ्गल मुद्रिका समर्पण पूर्वक उस दुस्सह महाशोक से रहित करके, अशोकवन में प्रवेश कर, वहाँ के समस्त द्रुमावली को छिन्न-भिन्न कर, अनेक निशाचरों का हनन करते हुए लङ्कापुरी को पूर्णतः भस्मसात् किया और भगवान् श्रीराघवेन्द्र सरकार की पावन सेवा में उपस्थित हो गये।

वस्तुतः श्रीहनुमानजी की अजेय शक्ति का उनके असीम अनन्त सामर्थ्य का परिज्ञान करना अतीव दुरूह है। संक्षेप में उनके सुभग मङ्गल स्वरूप का निम्नाङ्कित स्तव से जो किञ्चित् दिग्दर्शन कराने का प्रयास किया गया है, भावुक भगवज्जनों के हितार्थ यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं--

श्रीरामचन्द्राऽङ्घ्रिसरोजभृङ्गं गदाधरं शैलधरं विशालम्।
मुनीन्द्र-वृन्दारकवृन्दवन्द्यं सदाऽऽञ्जनेयं मनसा स्मरामि ।।१।।
सिन्दूरगात्रं रघुनाथदासं समीरसूनुं हरिनामनिष्ठम्।
प्रवाल--मुक्ताऽम्बुजहाररम्यं सदाऽऽञ्जनेयं मनसा स्मरामि ।।२।।

श्रीरामगाथागुणगानदक्षं तद्ध्यानमग्नं नितरां प्रसन्नम् ।
भक्ते-र्हरे-र्दानपरं वरेण्यं सदाऽऽञ्जनेयं मनसा स्मरामि ।।३ ।।
हुंकारविद्रावितशत्रुसंघं दैत्यान्तकं कष्टहरं सुराणाम् ।
भवाब्धिभीते शमनप्रवीणं सदाऽऽञ्जनेयं मनसा स्मरामि ।।४ ।।
पारं पयोधेश्च जवेन यातं येनाऽभितो राघवकार्यहेतोः ।
तं रामभक्तं हनुमन्तमीड्यं सदाऽऽञ्जनेयं मनसा स्मरामि ।।५ ।।
श्रीजानकीवल्लभनित्यसेवापरायणं शान्तमुदारवीरम् ।
प्रपन्नभक्तेप्सितदानशीलं सदाऽऽञ्जनेयं मनसा स्मरामि ।।६ ।।
नित्यं भ्रमन्तं सरयूप्रतीरे श्रीरामसंकीर्तनगानमत्तम् ।
मञ्जीरहस्ताम्बुजमद्रिगात्रं सदाऽऽञ्जनेयं मनसा स्मरामि ।।७ ।।
क्षेत्रे महाभारत इष्टभूमौ देवै र्नुतं पार्थरथध्वजस्थम् ।
श्रीकृष्ण कृष्णेति मुहुर्जपन्तं सदाऽऽञ्जनेयं मनसा स्मरामि ।।८ ।।
सर्वार्थभक्तिदातारं श्रीहनुमन्महाष्टकम् ।
राधासर्वेश्वराद्येन शरणान्तेन निर्मितम् ।।९ ।।

श्रीधामवृन्दावन में श्रावण की अनुपम छवि एवं झूला-महोत्सव

वर्षा ऋतु में श्रावण मास की हरीतिमा सरसता मधुरता प्रायः समस्त भूमण्डल पर ही दृष्टिगोचर होती है किन्तु श्रावण मास की जो दिव्यता, पावनता, अतिशय मनोरमता श्रीवृन्दावनधाम में दर्शन को प्राप्त होती है वह इतनी अनुपम अनिर्वचनीय है जिसका परिवर्णन सम्भव नहीं है। इस लोकोत्तर दिव्य छवि का वे बड़भागी भाग्यशाली रसिक भावुकजन महानुभाव आनन्द लेते हैं जो सदा युगलकिशोर श्रीश्यामाश्याम के दिव्यातिदिव्य सुभग मङ्गल स्वरूप के चिन्तन में अभिरत रहते हैं। वस्तुतः श्रीधाम में श्रीयमुनाजी की श्रावण मास में गम्भीर धारा उत्ताल-तरङ्गें और पावन पुलिन का मनोहारी दर्शन इतना अद्भुत होता है जिसके अवलोकन मात्र से ही अन्तःकरण में अभूतपूर्व आनन्द रसानुभूति होती है जो स्वकीय अन्तर्वेद्य है। इसी प्रकार विविध लताद्रुमवल्लरियों के कमनीय दर्शन, नानाविध कुसुम

सौरभ चतुर्दिक् परिव्याप्त रहता है जिस ओर जाँय दिव्य सुगन्धि से मनमधुकर पुलकायमान हो उठता है। वस्तुतः यह छटा ही इतनी विलक्षण है जिसके दर्शनों के लिए विधि शिवपुरन्दर-किन्नरादि वृन्दारकवृन्द भी प्रतिपल व्याकुल रहते हैं। मयूर-शुक-सारिका-चातक-कोकिलादि पक्षिगणों का कलित कलरव भ्रमरावलियों का मधुर गुञ्जार दादुरवृन्द का मधुर घोष इतना ललित होता है जिसके श्रवण करने पर हृदय में रसधारा प्रवाहित होने लगती है। कुञ्ज-निकुञ्जों सुरम्य मन्दिरों में श्रीयुगलप्रियालालन अतिरुचिर झूला पर विराजित होकर जिस प्रकार झूला विहार करते हैं वस्तुतः यह दर्शन और भी अधिक चारुतम होता है। इसी दिव्यतम स्वरूप का रसिकाचार्य प्रवरों ने अपने रसमय वाणी ग्रन्थों में इसका कितना मञ्जुलतम परिवर्णन किया है जो अपने हृदय में सर्वदा अवधारणीय है--

बिहरैं विपिन बिहारी बिहारनि।
मानि मानि मन मोद परस्पर, तनक न मानत हारनि।।
अंग अंग रसरंग तरंगनि, कोटि काम बलिहारनि।
'श्रीहरिप्रिया' अटकि रहे दोऊ, निज निज नैंन निहारनि।।१।।
देखौ सखी ! दोउ कदमतर ठाढ़े।
जमुना तीर भीर तरुवनिकी, कोकिल कूजित गाढे।।
भुजा परस्पर अंसनि दीने, अंग अनंगनि बाढे।
'श्रीहरिप्रिया' रति रस भीने, सुरति-सिंधु तें काढ़े।।२।।
आज बन अद्भुत वरषा बरसी।
सजल स्यामघन संग सौदामिनि, वरभामिनि हिय हरसी।।
चहल पहल भई सकल महल में, गई अहलनि तन तरसी।
'श्रीहरिप्रिया' मिलि रही निरंतर, हितू सहेलिनि सरसी।।३।।
बरसत दम्पति अति रत बन री।
तैसोई गरजत घनन घनन घन, पवन सनन सन सन री।।
मुखरित मोर-मोर मधुर सुर, उमदाते महामाते मदन री।
'श्रीहरिप्रिया' तैसेई रस भींजत, आलापत न न न न री।।४।।
झुलावें नवल छबीली, बाल हिंडोरें रङ्ग सों।
झूलत मोहन स्याम सलोनों, सोहन-मोहनलाल।।

रोरी तिलक, अछित मोतिन के, अमल कमल माल।
'श्रीहरिप्रिया' प्रान के प्रीतम, सरस प्रेम प्रतिपाल।।

उपर्युक्त सरस मधुर पदावली रसिकराजराजेश्वर आचार्यवर्य श्री हरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज के ''श्रीमहावाणीजी'' ग्रन्थ से संकलित है। आपश्री के ही आचार्य-परम्परानुवर्ती श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराज ने अपने ''श्रीगीतामृतगंगा'' वाणी ग्रन्थ में भी इन निम्न पदों से कितना अनुपम भाव व्यक्त किया है,--

ठाड़े दोऊ सघन कुञ्ज की छैय्यां।
बड़ी बड़ी बूंदनि बरसत बादर, मेलि रहे गर बहियां।।
बहुत दिननि के बिछूरे बातनि, करत हुती जे मन गहियां।
'वृन्दावन' प्रभु चाहत है नित, ऐसी बनैं विधि कहियां।।१।।

पिय प्यारे के संग हिंढौरैं, झूलति मचकि मचकि।
नील पीत पट फर हरात अरु, जान छीन कटि लचकि लचकि।।
गावत राग मलार मधुर सुरलेत, तांन अति हरषि हरषि।
'वृन्दावन प्रभु' की छवि निरखत, गरजत घन वन बरषि बरषि।।२।।

व्रजधाम एवं वसन्त महोत्सव

भारतवर्ष की परम पावन रम्य वसुन्धरा पर अवस्थित व्रजधाम की लोकोत्तर असीम महिमा श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादि संस्कृत वाङ्मय में एवं व्रजभाषा हिन्दी साहित्य में विपुल रूपेण परिवर्णित है। जिस व्रजधाम की अतिरमणीय अवनि पर परात्पर परब्रह्म जगन्नियन्ता सर्वाधार सर्वेश्वर भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अवतीर्ण होकर प्रपन्न रसिक भगवज्जनों को अपनी अहैतुकी कृपावृष्टि से अभिषिक्त कर अनुपम रससुधासिन्धु में आप्लावित करते हैं वस्तुत वह असीम है अनिर्वचनीय है असमोर्ध्व है। यह विवेचन का विषय नहीं प्रत्युत भगवदनुग्रह प्रसादजन्य सात्विक भक्तहृदय में अनुभवगम्य है। ऐसे इस दिव्य व्रजधाम में श्रीवृन्दावनधाम की सच्चिन्मयपूर्ण शोभा तो और भी अद्भुत तथा अनिर्वचनीय है। जहाँ कलिन्द-तनया श्रीयमुनाजी की गभीर नीर-धाराअनन्त-अनन्त परम रसिक भागवत

महानुभावों को उस मञ्जुल मधुर रस में सराबोर करती है जिसका प्रतिपादन लेखनी का माध्यम नहीं। यहाँ के सुमन-सुरभित लता-पादप कितने ललित मनोहर हैं जो युगलप्रियालाल श्रीश्यामाश्याम को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। कोकिल-सारिका-मयूर-कीरादि खगवृन्दों का अतिकलित कलरव भी सरस श्रवणीय है। मधुकरों का सुगुञ्जन तो ऐसा अद्भुत व्याप्त है जिसे श्रीप्रियाप्रियतम श्रवण कर आनन्द विभोर हो जाते हैं।

वस्तुतः व्रजधाम तथा श्रीवृन्दावन तो उल्लासपूर्ण उत्सव-महोत्सवों का मङ्गल अधिष्ठान हैं। ग्रीष्म में जलविहार, पुष्प-शृङ्गार तो श्रावण में मञ्जुल झूला-महोत्सव, फाल्गुन में फाग विहार सुप्रसिद्ध है। इसी प्रकार माघ मास में वसन्तोत्सव का वसन्त विहार भी अपनी अवर्णनीय दिव्य आभा को लिये हुए ऋतुराज वसन्त रसिकेश्वर रसिकाधार निकुञ्जविहारी युगलकिशोर श्रीराधाविहारीलाल को अपने समस्त नवल वसन्त रसानन्द की विभिन्न छवि से अतिशय प्रमुदित पुलकित कर अपना अहोभाग्य मानता है। इसी भाव की अभिव्यक्ति सन्त शिरोमणि श्रीनारायण स्वामी जो व्रज के परम पुरातन महान् रसिक सन्त हुए उन्होंने कितनी सरसता से की है जो सर्वदा मननीय है--

नारायण वृन्दाविपिन, निशिदिन रहत वसन्त।
पिय प्यारी मिलि मुदित मन, क्रीड़ा करत अनन्त।।
चलो लाल खेलें वसन्त मिलि, श्रीयमुना के कूल।
नव निकुंज वन नई ऋतु आई, नये-नये फूले फूल।।
द्रुम डारनि बैठे नव पक्षी, वोलत अति अनुकूल।
'नारायण' उत नई बहार सुख, इतमें तुम सुख मूल।।

इसी प्रकार रसिकवर श्रीनागरीदासजी महाराज ने भी अपने सरस वाणी-साहित्य में कितना अनुपम ऋतु श्रेष्ठ वसन्त बहार का वर्णन किया है जो अतीव चित्ताकर्षक परम मनोहारी है,--

अति सुखदाई री द्रुमनि कोयलिया,
कुहक मचाई नव वसन्त रितु सरसाई।
छई सुवास भ्रमत मधुकर मिलि,
नूत मंजरनि की डारियाँ कदली कुंज गहवरि आई।।

अंब-मोर नवबाल बाल लैं, लालहि बहसि बंदाई ।
पिय-प्यारी नागरि नागर हिय, फाग खेलि सुधि आय छाई ।।

वस्तुतः वसन्त का स्वरूप ही इतना मनोरम है जिसका विवेचन ही अशक्य है। वृन्दावन निकुञ्जेश्वर युगलकिशोर श्रीराधासर्वेश्वर नित्य नव-नव निकुञ्ज में वसन्तोत्सव लीला विलास रस का जिस दिव्य विधा से प्रतिपल पान करते हैं, वह कितना दिव्यातिदिव्य, मधुरातिमधुर, सरसातिसरस एवं अप्राकृत चिन्मय स्वरूप है, जिसे रसिकशेखर रसिकमूर्धन्य रसिक महानुभाव ही श्रीयुगलकृपादृष्टि प्राप्त कर अपने पवित्र अन्तःकरण में अनुभव कर सकते हैं। व्रजमञ्जुकुंजनिकुंजों में नवल वसन्त वसन सुशोभित, नवनव वसन्त सुमन माल मनोहर, नवल वसन्त मुकुट परिलसित, नवल वसन्त मधुर पदार्थ परिसेवनरत वृन्दावनयुगलविहारी श्रीश्यामाश्याम वसन्त शृङ्गार सुशोभित होकर अनन्त-अनन्त नव वसन्त वस्त्र परिवेष्टित सहचरी वृन्द के मध्य कितने महामञ्जुल मनोहर दिव्य प्रभायुत वसन्त विहार अभिरत हैं जिसे लेखनी किंवा वाणी मूक हो जाती है। यह तो उन्हीं श्रीयुगललाल के दिव्यानुग्रह से उस वसन्त के अगाधरससुधासिन्धु के एक सीकर (कण) का दिग्दर्शन मात्र यहाँ परिवर्णन का संकेतरूप है। भावुकजन अपने पवित्र मानस में इस वसन्तोत्सव का चिन्तन कर अपने को कृतार्थ करें।

अनादि वैदिक सनातनधर्म एवं निम्बार्कसम्प्रदाय

श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादि प्रतिपादित अनादि वैदिक सनातन धर्म की अनुपम महिमा है। यह परमोच्च सनातन भागवत धर्म चेतनाचेतनात्मक निखिल जगत् का सार्वकालिक सर्वविध श्रेय एवं परम मङ्गल करता है। सनातन धर्म में सत्य, तप, दम, अहिंसा, श्रेय, सदाचार आदि विविध दिव्योपदेश असीम अनन्तरूप से प्रतिपादित हैं। यह भगवदीय वैदिक सनातन धर्म सकल सृष्टि के पूर्व से ही सदा-सर्वदा अक्षुण्ण रूपेण सम्प्रति-ष्ठित है। सनातन धर्म सार्वभौम धर्म है। इसके अनुसेवन अनुपालन से प्राणिमात्र का मङ्गल होता है। वेद-स्मृति-पुराणादि शास्त्रों में धर्म का जो उज्ज्वल स्वरूप परिवर्णित है वह सर्वदा हृदय में अवधारणीय एवं समाचरणीय है।

श्रुति-स्मृति-सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।।
सत्यं दमः तपः शौचं संतोषश्च क्षमार्जवम् ।
ज्ञानं शमो दया दानं एष धर्मः सनातनः ।।

उपर्युक्त वचनों से सनातन धर्म का दिव्य स्वरूप स्पष्टतया अभिव्यक्त है। परात्पर परब्रह्म सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण भी भारतवर्ष की सुपावन धराधाम पर 'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे' इस अपने सदुपदेशानुसार अवतीर्ण होकर सनातन धर्म का अभ्युत्त्थान एवं संरक्षण करते हैं। वस्तुतस्तु धर्म सदा अनुसेवनीय एवं नितान्त रूपेण सर्वदा अवधारणीय है। हमारे सम्पूर्ण शास्त्र इसी का प्रतिपादन करते हैं, यथा 'धर्म चर' धर्मस्तमनुगच्छति' 'धर्मानुगो गच्छति जीव एकः' 'कर्तव्यो धर्मसंग्रहः' 'धर्मो रक्षतिरक्षितः' 'धर्मो यस्य च जीवति' 'यतो धर्मस्ततो जयः' 'त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता' 'सत्ये तिष्ठ रतो धर्मे हित्वा सर्वमनार्जवम्' 'धर्मे ते भवतु मनः' 'धर्मं हि यो वर्द्धयते स पण्डितः।' श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत्' इत्यादि शास्त्रीय विविध वचन हैं। अतः धर्म युक्त जीवन ही परम सार्थक है। सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य श्रीचरणों ने अपने अनेक दार्शनिक ग्रन्थों में धर्म का कमनीय गहनतम वर्णन किया है। श्रीनिम्बार्क भगवान् द्वारा प्रणीत 'वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी' की वृहद् भाष्यरूप 'वेदान्तरत्नमञ्जूषा' ग्रन्थ में-'किञ्चधर्मादिवर्गे पुरुषार्थबुद्ध्या तत्प्राप्तीप्सा' 'एष वः पुण्यनिलय एष धर्म सनातनः। एष वो मोक्षदाता च एषमार्ग उदाहृतः॥' आदि नानाविध वचन हैं। श्रीनिम्बार्क भगवान् की आचार्य परम्परा में श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने अपने विशालतम 'परशुरामसागर' ग्रन्थ में 'धर्म रह्याँ तो सब रह्यो धर्म गयाँ सब जाय', धर्म हीण नर परशुराँ अन्त मरे पछताय' प्रभृति वचनों से सनातन धर्म के आचरणीय कर्तव्यों की ओर इङ्गित किया है। परब्रह्म भगवान् सर्वेश्वर व्रजविहारी श्रीराधाकृष्ण स्वयं असाधारण धर्ममय हैं इसी का प्रतिपादन 'ब्रह्मसूत्र' के श्रीनिम्बार्क भाष्य में कितना सुन्दर प्रतिपादन है। 'अत्र हि सर्वलोकवेदयज्ञभूतप्राणात्मादिनियमयितृत्वादीनां सर्वान्तर्यामित्वामृतत्वा-दीनाञ्च परमात्मनोऽसाधारणधर्माणां व्यपदेशात्' एवंविध नानाविध वचनों से धर्म के लोकोत्तर स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है। वस्तुतः धर्म ही मूल

आधार है। 'नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः। न पुत्र-दारा न ज्ञाति-धर्मस्तिष्ठति केवलः॥' इत्यादि यह शास्त्र प्रसिद्ध उपदेश भी धर्म को ही सर्वस्व आधार प्रतिपादित किया है। अतएव अनादि वैदिक सनातन धर्म ही सर्वदा अनुष्ठेय है।

सदाचार ही मानव का महनीय भूषण है

यदि मानव जीवन में सदाचार न हो तो उसका जीवन पशुतुल्य ही है। केवल मानव शरीर प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं। जब तक मानव का समग्र जीवन वेद-पुराणादि शास्त्र प्रतिपादित सदाचार से संवलित न होगा, वह एकमात्र केवल मानवाभास रूप ही रहेगा। सदाचार ही मानव का महनीय भूषण है, सर्वस्व सम्पत्ति है और वही मानवता की आधारभित्ति एवं उत्तमोत्तम ऊर्ध्वलोक-प्राप्ति की मूल सरणि है अथ च श्रीभगवत्प्राप्ति में भी वह अत्यावश्यक पालनीय कर्तव्य है। श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादि शास्त्रों में सदाचार पर सर्वाधिक बल दिया गया है, इन निम्नाङ्कित वचन से स्पष्ट है--

आचारात् फलते धर्ममाचारात् फलते धनम्।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम्।

(महाभा० अनुशासनपर्व)

''सदाचार के परिपालन से धर्म की अभिवृद्धि तथा उपलब्धि होती है। सदाचार से यश की संप्राप्ति एवं त्याज्य अवगुणों का विनाश होता है।'' महाभारत के ही 'दान-धर्म' में सदाचार का वर्णन करते हुए उसके महत्व का दिग्दर्शन कराया गया है--

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥

सदाचार से आयु और लक्ष्मी की उपलब्धि तथा यश मिलता है और स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है, जिससे यह मानव परमानन्द की दिव्यानुभुति करता है। श्रुति-स्मृति आदि सभी शास्त्रों एवं ऋषि-मुनीश्वरों का यह विनिश्चय है कि आचार ही प्रथम धर्म है, अतः इसका पालन

परमावश्यक है। सदाचार पालन करने वाला व्यक्ति सर्वत्र पूजित होता है। सदाचार सेवन से प्रजा की उपलब्धि होती है। सदाचार से अक्षय अन्न मिलता है। इस भाँति सदाचार की अनन्त महिमा है। सदाचार से स्वर्ग, सुख और मोक्ष भी मिलता है। सदाचार से क्या नहीं प्राप्त होता अर्थात् सभी कुछ सहज हो जाता है। सर्वगुणों से रहित मानव यदि सदाचार सम्पन्न हो तो वह श्रद्धायुक्त एवं निष्पातक रहता हुआ शतवर्ष पर्यन्त जीवित रहता है। 'धर्मान्न प्रमदितव्यमाचारान्न प्रमदितव्यम्' इत्यादि श्रुति-वचन भी यही आदेश करते हैं कि धर्मपालन एवं सदाचार-सेवन में प्रमाद (आलस्य) कदापि न करे। सदाचार के अनुसेवन के लिये शास्त्रों मे अतिशय बल दिया है। सदाचारहीन पुरुष कभी भी श्रेय-प्राप्ति नहीं कर सकता-'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' सदाचार विवर्जित मानव को वेद भी पवित्र नहीं करते। वस्तुतः आचारहीन मानव उभयत्र विविध क्लेशों का अनुभव करता है और सर्वत्र अनादरणीय रहता है। ऋषि-मुनिजनों के, आचारनिष्ठ धर्मविद् धर्माचार्यों के तथा तत्त्वज्ञ मनीषियों के कल्याणमय दिव्य वचनों से सुस्पष्ट है कि सदाचार का सर्वदा आचरण करना चाहिये।

वेदादि शास्त्रों के सिद्धान्तानुसार श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में सदाचार की सर्वाधिक मुख्यता है। वैष्णव संस्कारों में सर्वप्रथम सदाचार की ही अपेक्षा रहती है। बिना सदाचार-पालन के शिष्यों को वैष्णव संस्कार ही नहीं प्रदान कराये जाते। श्रीसुदर्शनचक्रावतार श्रीमन्निम्बार्काचार्य भगवान् ने 'सदाचारप्रकाश' नामक एक वृहद् ग्रन्थ का प्रणयन किया है, जिसका वर्णन निम्बार्क सम्प्रदाय के तत्परवर्ती पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में है, परन्तु काल प्रभाव से आज वह दिव्य ग्रन्थ विलुप्त है। श्रीनिम्बार्क भगवान् कृत 'मन्त्रार्थ-रहस्य-षोडशी एवं 'प्रपन्नसुरतरुमञ्जरी' आदि ग्रन्थों में मन्त्र-दान के अधिकारी-क्रम में सदाचार-पालन पर विवेचन किया है। इसी प्रकार भगवान् श्रीनिम्बार्क ने 'ब्रह्मसूत्र' के 'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्य्यायैव तद्दर्शनात्' (४/१/१६) इस सूत्र के 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामक भाष्य में लिखा है--

विद्ययाग्निहोत्रदानतप आदीनां स्वाश्रमकर्मणां निवृत्तिशङ्का नास्ति, विद्यापोषकत्वादनुष्ठेयान्येव। यज्ञादिश्रुतौ तेषां विद्योत्पादकत्वदर्शनात्।'

इसी प्रकार 'ब्रह्मसूत्र' के 'आचारदर्शनात् (३:४/३) इस सूत्र के

'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' भाष्य में श्रीनिम्बार्क भगवान् ने एवं 'वेदान्त-कौस्तुभ' भाष्य में श्रीनिम्बार्क भगवान् के प्रमुख शिष्य पाञ्चजन्य शङ्खावतार तत्पीठाधिरूढ श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराज ने सदाचार-पालन का विशद उपदेश किया है--

'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' भाष्य में--'जनकोऽहं वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' इत्यादि श्रुतिभ्यो जनकादीनामाचारदर्शनात्। तथा 'वेदान्तकौस्तुभ' भाष्य के-'नेतरोऽनुपपत्तेः', भेदव्यपदेशाच्च', 'अनुपपत्तेश्च न शारीर' इत्यादि सूत्रों के आधार पर 'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्', ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ', 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' इत्यादि उभय भाष्यों के उद्धरण से सम्यक्रीत्या परिलक्षित है कि श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में सदाचार पर कितना अधिक बल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य साम्प्रदायिक प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थों में सदाचार को परमावश्यक परिपालनीय कर्तव्य माना गया है। वस्तुतः सदाचार सम्पन्न मानव अत्र परत्र सर्वविध सुख-समृद्धि का अनुभव करता है। उसका सर्वत्र समादर है, वह सभी का श्रद्धा भाजन अर्चनीय एवं अभिवन्दनीय हो जाता है। अतः समग्र दृष्ट्या सदाचार निन्तात संसेवनीय आचरणीय और अवधारणीय है।

देवोत्तर-सम्पदा के हरण करने की प्रवृत्ति अत्यन्त हानिकारक है

यों तो किसी की भी सम्पदा, वित्त, वस्त्र, भूमि, वैभव, आदि के हरण की दूषित प्रवृत्ति कथमपि किसी को भी नहीं होनी चाहिये, उसमें भी देवोत्तर-सम्पदा के हरण करने की कुत्सित-लिप्सा अन्तःकरण में आनी ही नहीं चाहिये। चाहे प्रशासक हो या मठाधीश, सन्त हो या सद्गृहस्थ किंवा जन सामान्य ऐसी कुलिप्सा हीन वृत्ति अत्यन्त घातक है। भले ही आज उसका विपरीत परिणाम प्रत्यक्ष में दृग्गोचर नहीं होता हो किन्तु परोक्ष में उसका दुःखद परिणाम सञ्चित होता रहता है और उसका कब किस समय विस्फोट हो जाय अकल्पनीय है। विवेकी जन को चाहिये शास्त्राज्ञानुसार अपनी चर्या आचरण में ले। अपने दुर्लभ मनुज जीवन को उत्तम कार्यों में

प्रवृत्त करे। इसी में उसके जीवन की सार्थकता है। 'ईशावास्योपनिषद्' का यह मार्मिक-वचन कितना उत्कृष्ट और हृदयग्राही एवं सर्वदा जीवन में समाचरणीय है--

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

अर्थात् यह समस्त चराचरात्मक जगत् उन्हीं सर्वनियन्ता सर्वेश्वर श्रीहरि से परिव्याप्त है। उन्हीं परम कृपामय श्रीप्रभु के द्वारा प्रदत्त-वस्तु का ही भगवत्प्रसाद रूप में उपयोग करें तथा किसी भी इतर जन के धन, वैभव आदि के हरण करने की कभी भी इच्छा न करें।

वस्तुतः इस उपनिषदुक्त उपदेश के अनुसार ही मानव मात्र का जीवन होना चाहिये। व्यक्ति, राष्ट्र एवं भगवदीय देवोत्तर सम्पत्ति की ओर जिस किसी के भी चित्त में उसके तस्करतापूर्वक ग्रहण करने की कलुषित भावना ही नहीं आनी चाहिये। यदि इसके विपरीत आचरण किया गया तो इहलोक-परलोक उभयत्र त्रिविध तापों से संतप्त होना स्वाभाविक है।

''विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्'' के अनुसार विज्ञजन का भी जगन्नियन्ता सर्वद्रष्टा सर्वेश्वर की अचिन्त्य अनिर्वचनीय माया के असीम आवर्त में आबद्ध होकर अपने समुचित सत्पथ से विचलित हो जाना कोई विस्मयावह नहीं। तथापि जो जन आप्त-पुरुषों का पुण्यश्लोक आदर्शजनों का उत्तम सङ्ग एवं निगमागमादि पावन शास्त्रों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करता है वह ऐसे विरुद्ध अनर्थकारी मार्ग का अवलम्ब नहीं लेता प्रत्युत वह पर-सम्पत्ति किंवा देवोत्तर सम्पत्ति की सर्वात्मना सुरक्षा करता है। वस्तुतः ऐसा आदर्शमय जीवन सर्वदा अभिवन्दनीय होता है। अतः समग्र दृष्टि से विवेक पूर्वक श्रेष्ठ-पथ का अनुगमन करना ही परम अभीष्ट होना चाहिये।



शास्त्र-सरणि का त्याग अहितकर है

भारतीय वैदिक सनातन संस्कृति में शास्त्र ही मूल आधार है। श्रुति-स्मृति-पुराणादि शास्त्रों के बिना हमारे किसी भी कर्तव्य कार्य का निर्धारण नहीं होता। हमारे सम्पूर्ण जीवन की चर्या आचार-विचार सभी कुछ शास्त्रों पर निर्भर है। श्रीभगवन्निश्वासभूत वेद ही हमारे लिये प्रमुख है, वेदानुकूल स्मृति-पुराण-महाभारतादि शास्त्र ही प्रमाणभूत आधार हैं। इन शास्त्रानुकूल आप्तवचन ही ग्राह्य है। शास्त्र-राहित्य वचन सर्वथा अग्राह्य है अतः शास्त्र प्रतिपादित सिद्धान्तानुसार ही मार्ग अनुष्ठेय है। तद्विपरीत मार्ग नितान्तरूपतया उपेक्षणीय है। श्रीमद्भगवद्गीता में परात्परब्रह्म भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण का यह उपदेश सर्वदा अवधारणीय है--

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं प परां गतिम्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता अ. १६ श्लो. १३)

अर्थात् जो मानव शास्त्र-विधि का परित्याग करके स्वेच्छया आचरण करता है वह न तो सिद्धि को न परमगति को एवं न सुख को ही प्राप्त कर सकता है।

अतः विवेकी पुरुष को चाहिये कि वह कभी भी शास्त्रविधि का कथमपि त्याग न करे। साम्प्रतिक समय में अनेक जन शास्त्रविधि की उपेक्षा कर मनमानी कार्य करने में अपने को परम सौभाग्यशाली मानते हैं, जो नितान्त रूप से असंगत है। किसी के साथ सहभोज कर लेना ही एकमात्र सहानुभूति नहीं अपितु उनकी अपेक्षित विविध समस्याओं का समाधान करना ही यथार्थ सहानुभूति होगी। अबला-दीन-असहाय जनों का सर्वविध सहयोग सबसे बड़ी सेवा है। इस निस्वार्थ विशुद्ध सेवा से सर्वद्रष्टा सर्वेश्वर श्रीहरि भी परम प्रमुदित होते हैं। महाराज श्रीरन्तिदेव के ये वचन स्मरणीय है--

न कामयेऽहं गतिमीश्वररात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भा.स्क.९अ.२१श्लो.१२)

अर्थात् मैं सर्वेश्वर श्रीहरि से अष्टसिद्धि सम्पन्न परमगति का इच्छुक नहीं, और न मुक्ति की ही स्पृहा करता। मैं एकमात्र यही कामना करता हूँ कि समग्र-प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर उनका समस्त क्लेश मैं ही सहूँ जिससे उन प्राणियों को कष्ट न हो।

वस्तुतः महाराज श्रीरन्तिदेव का यह उपदेश कितना अनुपम हृदयग्राही है, अतः दीन-दुःखियों की सेवा हमारा परम आदर्शरूप है। यह सेवा भी विशुद्धान्तःकरण से की जाय तो और भी उत्तम है। जिस प्रकार सेवा-सहानुभूति करना हमारा परम कर्तव्य है। उसी प्रकार शास्त्रविधि पालन, शास्त्र मर्यादा का संरक्षण भी हमारा परम धर्म एवं परम कर्तव्य है। इससे विरहित स्वरूप अभीष्ट नहीं।

शास्त्राज्ञा-अनुपालन ही हमारा स्वरूप है कर्तव्य है। देव में देवत्व मानव में मानवत्व असुर में असुरत्व आदि का सम्यक् बोध शास्त्र द्वारा ही सम्भाव्य है। अन्यथा शास्त्रों के बिना यह विवेक उपलभ्यमान नहीं सुतरां शास्त्र-सरणि का त्याग अहितकर है।

वही जीवन सार्थक है जिसमें श्रीहरि का स्मरण होता हो

मनुज जीवन बड़ा दुर्लभ है। बहुजन्मार्जित पुण्य प्रभाव से भी यह पावन जीवन सुलभ नहीं। यह तो जगन्नियन्ता श्रीसर्वेश्वर का अहैतुक-कृपाप्रसाद जिस निष्ठावान् सरल साधक को प्राप्त हो जाय उसे ही यह अलभ्य जीवन सुलभ हो सकता है। ऐसे सुरदुर्लभ नृजन्म को पाकर जगन्नियन्ता श्रीसर्वेश्वर का सतत स्मरण पूर्वक अपने उत्तम जीवन को चरितार्थ करे वही मानव परम श्रेष्ठ है।

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः।।

(श्रीमद्भा.४-३१-९)

वही जन्म, कर्म, आयु, मन तथा वाणी सार्थक है जिससे मानव समूह द्वारा विश्वात्मा सर्वेश्वर श्रीहरि का चिन्तन-स्मरण होता हो।

शास्त्र-सरणि का त्याग अहितकर है

भारतीय वैदिक सनातन संस्कृति में शास्त्र ही मूल आधार है। श्रुति-स्मृति-पुराणादि शास्त्रों के बिना हमारे किसी भी कर्तव्य कार्य का निर्धारण नहीं होता। हमारे सम्पूर्ण जीवन की चर्या आचार-विचार सभी कुछ शास्त्रों पर निर्भर है। श्रीभगवन्निश्वासभूत वेद ही हमारे लिये प्रमुख है, वेदानुकूल स्मृति-पुराण-महाभारतादि शास्त्र ही प्रमाणभूत आधार हैं। इन शास्त्रानुकूल आप्तवचन ही ग्राह्य है। शास्त्र-राहित्य वचन सर्वथा अग्राह्य है अतः शास्त्र प्रतिपादित सिद्धान्तानुसार ही मार्ग अनुष्ठेय है। तद्विपरीत मार्ग नितान्तरूपतया उपेक्षणीय है। श्रीमद्भगवद्गीता में परात्परब्रह्म भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण का यह उपदेश सर्वदा अवधारणीय है--

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं प परां गतिम् ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता अ. १६ श्लो. १३)

अर्थात् जो मानव शास्त्र-विधि का परित्याग करके स्वेच्छया आचरण करता है वह न तो सिद्धि को न परमगति को एवं न सुख को ही प्राप्त कर सकता है।

अतः विवेकी पुरुष को चाहिये कि वह कभी भी शास्त्रविधि का कथमपि त्याग न करे। साम्प्रतिक समय में अनेक जन शास्त्रविधि की उपेक्षा कर मनमानी कार्य करने में अपने को परम सौभाग्यशाली मानते हैं, जो नितान्त रूप से असंगत है। किसी के साथ सहभोज कर लेना ही एकमात्र सहानुभूति नहीं अपितु उनकी अपेक्षित विविध समस्याओं का समाधान करना ही यथार्थ सहानुभूति होगी। अबला-दीन-असहाय जनों का सर्वविध सहयोग सबसे बड़ी सेवा है। इस निस्वार्थ विशुद्ध सेवा से सर्वद्रष्टा सर्वेश्वर श्रीहरि भी परम प्रमुदित होते हैं। महाराज श्रीरन्तिदेव के ये वचन स्मरणीय है--

न कामयेऽहं गतिमीश्वररात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ।।

(श्रीमद्भा.स्क.९अ.२१श्लो.१२)

अर्थात् मैं सर्वेश्वर श्रीहरि से अष्टसिद्धि सम्पन्न परमगति का इच्छुक नहीं, और न मुक्ति की ही स्पृहा करता। मैं एकमात्र यही कामना करता हूँ कि समग्र-प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर उनका समस्त क्लेश मैं ही सहूँ जिससे उन प्राणियों को कष्ट न हो।

वस्तुतः महाराज श्रीरन्तिदेव का यह उपदेश कितना अनुपम हृदयग्राही है, अतः दीन-दुःखियों की सेवा हमारा परम आदर्शरूप है। यह सेवा भी विशुद्धान्तःकरण से की जाय तो और भी उत्तम है। जिस प्रकार सेवा-सहानुभूति करना हमारा परम कर्तव्य है। उसी प्रकार शास्त्रविधि पालन, शास्त्र मर्यादा का संरक्षण भी हमारा परम धर्म एवं परम कर्तव्य है। इससे विरहित स्वरूप अभीष्ट नहीं।

शास्त्राज्ञा-अनुपालन ही हमारा स्वरूप है कर्तव्य है। देव में देवत्व मानव में मानवत्व असुर में असुरत्व आदि का सम्यक् बोध शास्त्र द्वारा ही सम्भाव्य है। अन्यथा शास्त्रों के बिना यह विवेक उपलभ्यमान नहीं सुतरां शास्त्र-सरणि का त्याग अहितकर है।

वही जीवन सार्थक है जिसमें श्रीहरि का स्मरण होता हो

मनुज जीवन बड़ा दुर्लभ है। बहुजन्मार्जित पुण्य प्रभाव से भी यह पावन जीवन सुलभ नहीं। यह तो जगन्नियन्ता श्रीसर्वेश्वर का अहैतुक-कृपाप्रसाद जिस निष्ठावान् सरल साधक को प्राप्त हो जाय उसे ही यह अलभ्य जीवन सुलभ हो सकता है। ऐसे सुरदुर्लभ नृजन्म को पाकर जगन्नियन्ता श्रीसर्वेश्वर का सतत स्मरण पूर्वक अपने उत्तम जीवन को चरितार्थ करे वही मानव परम श्रेष्ठ है।

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ।।

(श्रीमद्भा.४-३१-९)

वही जन्म, कर्म, आयु, मन तथा वाणी सार्थक है जिससे मानव समूह द्वारा विश्वात्मा सर्वेश्वर श्रीहरि का चिन्तन-स्मरण होता हो।

श्रीमद्भागवत में भक्त प्रचेतागणों द्वारा उपर्युक्त सदुक्ति सार्थक है। ''श्रीगोपालतापिन्युपनिषद्'' में भी **''सततमावर्तये सततमावर्तये''** इस वचन से भी स्पष्ट निर्देश है कि निरन्तर श्रीगोविन्द का अभिचिन्तन जीवन का चरम लक्ष्य होना नितान्त अभीष्ट हो।

सुदर्शनचक्रावतार श्रीमन्निम्बार्क भगवान् ने अपने 'वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी' में **''उपासनीयं नितरां जनैः सदाः''** **''नान्या गति कृष्णपदारविन्दात्''** इत्यादि वचनों से श्रीभगवदाराधन का ही महनीय उपदेश किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में सर्वनियन्ता सर्वेश्वर आनन्दकन्द नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं श्रीमुख से उपदेश किया है--

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मराति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता अ.८श्लो.१४)

अर्थात् हे अर्जुन ! जो साधक पुरुष अनन्यचित्त से सदा सर्वदा प्रतिपल मुझ पुराणपुरुषोत्तम का अनुस्मरण करता है ऐसे मेरे मे नित्य एकनिष्ठ प्रवृत्त हुए योगी के लिये मैं अति सुलभ हूँ।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।।

(श्रीद्भगवद्गीता अ.१२श्लो.२०)

जो श्रद्धा परायण साधक भक्त मेरे प्रति अनन्यभावयुक्त होकर धर्मरूप सुधारस को कामना रहित पूर्वक अनुसेवन करते हैं ऐसे परम भक्त मुझे अतिशय प्रिय हैं।

इसी भाव को अनन्त श्रीसमलंकृत निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर आचार्यवर्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने अपने अतीव विशालतम 'श्रीपरशुरामसागर' नामक ग्रन्थ में अभिव्यक्त किया है--

सुख नाही संसार में, उपजे दुःख अपार ।
'परसा' सो तजि हरि भजौ दुख-सुख हरण विचार ।।

अतएव साधकजनों को चाहिए कि वे सतत भगवत्सेवा, भगवत्समाराधना में ही अपने समय को चरितार्थ करें। इसी में जीवन का परम कल्याण निहित है।

दीन-सेवा से सर्वेश्वर श्रीहरि प्रसन्न होते हैं

जो साधक भक्त दीन-सेवा परायण है। सकल साधनविहीन दीन-जनों के सर्वविध सुख-सुविधा के लिये मनसा, वाचा, कर्मणा अपनी स्वार्थ रहित सेवा समर्पित करता है, वस्तुतः वह साधक-भक्त सर्वद्रष्टा सर्वान्तिर्यामी सर्वज्ञ सर्वेश्वर युगलविहारी भगवान् श्रीराधामाधव को भी प्रसन्न कर लेता है। यथार्थ में दीन-दुःखियों की सेवा उनके प्रति की गई सहानुभूति अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

जगत् में वही मानव सौभाग्यशाली है जो अपनी अर्जित सम्पत्ति का विनियोग आर्तजनों के लिये, दीनों के लिये करता है। केवल अपने ही निमित्त वस्तु मात्र का जो उपयोग करता है, उसे शास्त्र हेयास्पद बताते हैं और यह उत्तम मानव का लक्षण भी नहीं।

सुदर्शनचक्रावतार श्रीनिम्बार्क भगवान् ने अपने ''वेदान्तकामधेनु-दशश्लोकी'' में ''कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते'' इस वचन से स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जिन साधक पुरुषों में दीन भाव है वे ही भगवत्कृपा के पात्र हैं। महाराज श्रीरन्तिदेव ने प्रस्तुत प्रसङ्ग में कितना सुन्दर भाव व्यक्त किया है-

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ।।

अर्थात् मैं जगन्नियन्ता श्रीसर्वेश्वर से अष्टसिद्धि-सम्पन्न परम गति की स्पृहा नहीं करता। और न मुक्ति ही चाहता। मैं एकमात्र यही आकांक्षा करता हूँ कि समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर उनके सभी क्लेश-संताप को प्राप्त करलूँ, फलतः उन प्राणियों को किसी भी प्रकार का कष्ट उठाना प पड़े।

महाराज श्रीरन्तिदेव के दीन-दुःखियों के प्रति ये अन्तर्वेदनापरक वचन कितने हृदयग्राही है जो अनुपम हैं। भारतीय वैदिक सनातन संस्कृति के सम्पोषक आप्त-महापुरुषों, ऋषि-मुनीश्वरों ने अपनी सर्वोत्तम चर्या में आर्त-सेवा को प्रथम स्थान दिया है। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के परमाचार्यों ने भी दीन-सेवा एवं दैन्य भाव को ही सर्वोत्कृष्ट माना है। श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर आचार्यप्रवर श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने ''श्रीपरशुराम सागर''

नामक अपने महनीय ग्रन्थ में--

दीन गरीबी प्रसराम, करि जाणैं जो कोय ।
बिना गरीबी बंदगी, कृष्ण कृपालु न होय ।।

(श्रीपरशुरामसागर प्र.भा.पृ.५२)

अर्थात् दीनावस्था भी श्रीभगवत्कृपा का ही स्वरूप है। बिना दीनजनों की सेवा कृपार्णव सर्वेश्वर श्रीकृष्ण भी कृपा नहीं करते। अतः दीन-सेवा दयार्द्र हृदयजनों को अवश्य करनी चाहिये, जिससे करुणा-वरुणालय भगवान् सर्वेश्वर उस दीन सेवा परायण साधक जन को नितान्ततया अनुकम्पा भाजन बनायेंगे।

महारास विलास का दिव्य स्वरूप

अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधीश्वर परात्पर रसब्रह्म भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण रसरूप हैं, और उनकी सर्वाराध्या वृन्दावनाधीश्वरी सर्वेश्वरी श्रीराधा रसरूपा है। ये श्रीराधाकृष्ण युगल-स्वरूप तत्त्वतः एक ही हैं। केवल "क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्" अर्थात् एकमात्र ललित लीला रस विलास निमित्त ही उभयविध रूप से श्रीवृन्दावन निकुञ्ज धाम को अनन्त-अनन्त सखी समूह से परिसेवित परम सुशोभित कर रहे हैं। इस श्रीयुगल स्वरूप रस का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करने में वेदादि शास्त्र भी स्वयं को असमर्थ मानते हैं, इसीलिये "नेति नेति" कहकर वेदादि शास्त्र भी मौनावलम्ब ले लेते हैं। यद्यपि संक्षेप में "रसो वै सः" "आनन्दं ब्रह्म" "सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति" "स आत्मरतिः, आत्मक्रीडः, आत्ममिथुनः" आदि सूत्रात्मक वचनों से निरूपण करते हुए रसब्रह्म को 'इदमित्त्थम्' कहकर अपने को असमर्थ समझा है। वस्तुतः उन युगलकिशोर रसेश्वर भगवान् श्रीराधामाधव का उनके असमोर्ध्व रस का उनके लोकोत्तर लीला विलास का विवेचन ही लोकातीत है, अनिर्वचनीय है, अनुपमेय है, अद्भुत है। वे रसधाम हैं, रसमय हैं, रसाधार हैं, रस स्वरूप है, रससिन्धु हैं और रसैकलभ्य भी हैं अतः उन रसमय प्रभु का विवेचन वाणी किंवा लेखनी का विषय ही नहीं। एकमात्र 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'। जो आप्तकाम पूर्णकाम निष्काम परमनिर्मलान्तकरण श्रीयुगलपदपङ्कजपरागरेणुसेवनपरायण, युगलकैङ्कर्यचर्यानिरत

अनवरतयुगलोपासना सन्निविष्टमानस हो ऐसे परम रसिक मूर्द्धन्य महानुभाव ही उस युगल रस के किञ्चित् कण मात्र का परिबोधन करने में सक्षम हो सके, वह भी जब श्रीयुगललाल-कृपाकादम्बिनी रसाभिवृष्टि से परम अभिषिक्त हो। अतः इन समग्रविधा से युगलस्वरूप के रस को उनके महारास को उनके रसकेलि विलास को किमपिरूपेण संक्षेपतः समझा जा सकता है। तथापि अति असाध्य वह अवस्था है। श्रीश्यामाश्याम स्वयं ही कृपावृष्टि से सिञ्चित करदें तो सभी कुछ असम्भव भी सम्भव है, क्योंकि वे ''कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सर्वसमर्थ'' है सुतरां उनकी मङ्गलमयी कृपा से ही उनके उस दिव्य महारास के रसमय स्वरूप का यत्किमपि अति संक्षिप्त परिबोधाभासमात्र ही कहा जा सकता है।

इस शारदीय महारास का वर्णन श्रीमद्भागवत में जिस विधा परिवर्णित है वह कितना अनुपम है लेखनी उसे व्यक्त करने में नितान्त अवरुद्ध है। श्रीरसिकाचार्यवर्यों ने इस महारास का जो स्वरूप अपने रसमय वाणी ग्रन्थों में निर्दिष्ट किया है वह अपने हृदय में पूर्णतः अवधारणीय है--

परमाचार्यप्रवर श्रीश्रीभट्टदेवाचार्यजी महाराज ने व्रजभाषा आदि वाणी 'श्रीयुगलशतक' ग्रन्थ में शरत्पूर्णिमा महारास का कितना सरस वर्णन किया है परम मननीय है--

फूली कुमुदिनी सरद सुहाई।
जमुना तीर धीर दोउ विहरत, कमल नील-पीर कर माई।।
नील बरन स्यामा रूचिकीनी, अरून बरनमा हरि मन भाई।
'श्रीभट्ट' लपटि रहे अंसन कर, मानौ मरकत कनक जराई।।

आचार्यवर्य श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज ने अपने वाणी ग्रन्थ में महारास का मधुरातिमधुर प्रतिपादन किया है--

रासमण्डल रच्यौ रसिक हरि राधिका, नचत दोऊ सुघर बर गति सुवंगे।।
उदित उडराज बन सरद पूरन निसा, मुदित मन मादवी हिय उमंगे।।
पटक मृदु पदन की मटक भृकुटीन चरा, उघट मुख सुघट थुंग-थुंगे।।
मुकुट की लटक अरु चटक पटपीत की, होत लखि रति मदन मान भंगे।।
रुनित नूपुर चरन कुनित कटि किंकनी, फिरत मंडल जुगल अर्ध अंगे।।
थकित नभ चन्द उडगन थकित सुरबधू, नाद बस विवस अनुराग रंगे।।

प्रेम-रसमगन-बपु सुधि न भूषन-बसन, परस पर ललन तन मन प्रवंगे ।।
स्रमित जिय जानि 'गोविंदसरन' भामिनी, दामिनी सी लई निज उछंगे ।।

अकाल की संकटापन्न अवस्था में अनिवार्य कर्तव्य

आज भारत के विभिन्न प्रान्तों में अकाल की भीषण ज्वाला प्रत्यक्ष है। अनावृष्टि के कारण अन्न-जल घास आदि के अभाव में मानवेतर प्राणियों में पशु-पक्षी आदि सभी प्राणी संकट की अकल्पनीय स्थिति में विपन्नावस्था में कष्टमय जीवन यापन कर रहे हैं। पशुधन में सर्वाधिक कष्ट गोधन को है। विज्ञ पुरुष भी गायों को अपने घर से निष्कासित करके उनके कष्ट अनुभव नहीं करते। जो श्रीसम्पन्न हैं सम्पदा से परिपूर्ण है वे भी इतने चिन्तित नहीं हैं जिससे उन प्राणियों के निर्वाह की व्यवस्था की जा सके। कतिपय महानुभावों ने विशिष्ट नगरवासियों ने अवश्य ही गोधन के निर्वाह हेतु यत्र-तत्र व्यवस्था की है किन्तु वह भी अकाल अवस्थानुरूप अपर्याप्त है। अनेकानेक पक्षी जो जल अन्न कण बिना कैसे संकट में हैं जिसे व्यक्त नहीं किया जा सकता वन-जन्तु जल तृण आदि के अभाव में निर्बल असहाय एवं नितान्त व्यथित है।

इस भयङ्कर विपत्ति काल में मानव जिनके पास सामर्थ्य, सम्पन्नता, बुद्धि, विवेक आदि सभी कुछ विद्यमान है किन्तु अत्यन्त विस्मय होता है कि वे भी इस दिशा में पर्याप्त चिन्तन किंवा तदर्थ कोई उपाय उद्यम आदि की भावना कार्यान्वित करते हों दृष्टिगत नहीं, पर्याप्त नहीं। कितने मनस्वी धार्मिक महानुभाव इस दिशा में अग्रगामी हैं किन्तु यह कार्य भी अकिञ्चित्कर ही कहा जा सकता है। अतः हम सभी मनुज मात्र की इसके सम्यक् समाधान हेतु अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य सम्पादन की पावन भूमिका बनानी होगी। तभी इस विकट समस्या की अभिपूर्ति सम्भव है। धर्माचार्यों, सन्त-महात्माओं, धीरपुरुषों श्रीसम्पन्न श्रेष्ठी महानुभावों, देश-प्रसाशकों, स्वयं सरकार को इस दिशा में ऐसा दृढ स्वरूप निर्धारिण करना परम अपेक्षित है जिससे इस अति दुरुह अति कठिन समय चक्र का इस दुष्काल के दुष्प्रभाव

का पूर्णतया समाधान किया जा सके। यों तो सरकार के द्वारा इस सन्दर्भ में योजायें कार्यान्वित की जा रही है किन्तु उसे पूर्ण पर्याप्त की संज्ञा नहीं दी जा सकती अतएव इस दुष्काल की स्थिति अनुसार समस्त श्रीसम्पन्न समाज को पूर्णतः जागरूक होना नितान्त आवश्यक है। जब समाचार पत्रों में पढते हैं आहार के बिना गोधन का इतर पशुधन की जिस रूप में जिस मात्रा में विनाश हो रहा है वह लेखनी द्वारा अभिव्यक्त करना कठिन है।

ऐसी चिन्तनीय अवस्था में हम सभी मानव मात्र का क्या अनिवार्य कर्तव्य होता है उसे अपने स्वस्थ अन्तःकरण में गहन रूप से विचार करें। जल की व्यवस्था, अन्न की व्यवस्था, घास की व्यवस्था जिस विधा से जिस प्रक्रिया से जिस विधि से हो सके मनसा, वाचा, कर्मणा, तन, मन, धन से समस्त नगरों, महानगरों, ग्रामों आदि में समितियाँ स्थापित कर निस्वार्थ भाव से इस गरिमामय आदर्शपूर्ण इस अत्यन्त अनिवार्य कार्य को साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न कराने हेतु तत्पर कटिबद्ध हो जाँय तो सहज में इस असह्य समस्या का समाधान हो सकेगा। परमार्थ हेतु समवेत रूप से किये गये कार्य की सफलताअवश्य प्राप्त होगी। अकारणकरुणावरुणालय विश्वम्भर सर्वेश्वर प्रभु स्वयं ऐसी शक्ति प्रदान करेंगे जिससे कहीं पर भी किसी प्रकार का अन्तराय बाधक न होगा। परोपकारार्थ जो भी आयोजन किया जाता है उसमें निश्चय ही सफलता है। सुखद परिणाम है।

''परोपकाराय सतां विभूतयः'' श्रेष्ठ पुरुषों का पवित्र जीवन परोपकारार्थ ही होता है। ऐसी नितान्त जटिल स्थिति में तो और भी अधिक पालनीय-आचरणीय कर्तव्य है जिससे गोधन का पशु-पक्षी आदि प्राणियों का कष्ट दूर हो सके। जन समुदाय में दीन, दुःखी, शक्तिहीन जनों का यथासम्भव अन्न-वस्त्रादि से साहाय्य सम्पादित हो। साथ ही जगन्नियन्ता सर्वशक्तिमान् भगवान् सर्वेश्वर की आराधना, नाम संकीर्तन, प्रार्थना, अनुष्ठान के साथ दान, पुण्य, धर्म पालन आदि के यथासाध्य किये जाने पर सर्वद्रष्टा श्रीहरि अवश्य ही अपनी कृपामयी दृष्टि से सभी के लिये मङ्गल करेंगे। उनके सम्पूर्ण विधान मङ्गल रूप होते हैं। अन्त में-

सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

''सर्वभूतहिते रताः'' यही भारतीय अनादिवैदिक सनातन संस्कृति है। इसी का परिपालन अनुगमन करना ही हम मानवमात्र का परमधर्म एवं अत्यन्त अनिवार्य कर्तव्य है।

मन को सदा सत्साहित्य अनुशीलन में ही संलग्न करें

मानव जीवन तभी उज्ज्वल बनता है जब वह अपने अमूल्य जीवन को सत्साहित्य परिशीलन में प्रवृत्त कर दें। उत्तम ग्रन्थों के मनन से सत्पथ का बोध होता है। विकृत जीवन में भी उत्तमता का संचार हाता है। सतत चिन्तन परायण चञ्चल मन को सन्मार्ग दर्शन होता है मानव का मन अनवरत कुछ न कुछ चिन्तन करता ही रहता है, यदि उसे विकृत पथ की और अग्रसर करदें, वही पतन का कारण बनता है और इसी प्रकार कहीं उसे सत्पथ की और प्रेरित कर दें तो वही मन मानव के उत्थान का प्रमुख हेतु होता है। शास्त्रों का यह वचन प्रसिद्ध है-''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'' अर्थात् मन ही बन्धन मोक्ष का मूल कारण है। इसी दृष्टि से मन का सर्वदा सन्मार्ग की और प्रवृत्त करना चाहिए, जिससे मानव अपना हित कर सके। जो मानव अपने हित अहित पर विचार नहीं करता वह परिणाम में नितान्त कष्टानुभूति ही करता है। श्रुति वचन में ऐसे व्यक्ति को ''स आत्महा'' कह कर इङ्गित किया है, अतः स्वात्म-कल्याण हेतु अपने कलुषित मानस को तत्प्रेरक सत्साहित्य अनुशीलन में संलग्न करना ही मानव का यथार्थ विवेक है।

धार्मिक पत्र-पांत्रिकाओं के प्रकाशन प्रेरणा के स्रोत है। मानव को अपने कर्तव्यों का उद्बोधन इससे ही प्राप्त होता है। संस्कृति, आचार-विचार एवं सामयिक परिज्ञान आदि-आदि उपलब्धियों के साथ विचारों का आदन-प्रदान पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के माध्यम से अतीव सुलभतया पूर्वक होता ।

उत्तम जीवन के लिये उत्तम पुरुषों का सङ्ग, उत्तम शास्त्रों का स्वाध्याय और उत्तम स्थान का निवास परमावश्यक है, इससे मानव का

जीवन न केवल उत्तम ही बनता है किन्तु उसका निःसन्देह कल्याण भी होता है।

महापुरुषों का उत्तम संग अति कठिन है। ''महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च'' इसी प्रकार धार्मिक स्थलों का उत्तम निवास भी सुलभ नहीं, परञ्च सद्ग्रन्थों का उत्तम स्वाध्याय तो अति सुलभ ही है। उसमें भी ग्रन्थों की अपेक्षा धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं का स्वाध्याय तो और भी सरलता से उपलब्ध हो जाता है। जिससे विभिन्न श्रेष्ठ महापुरुषों के भक्तिमय सत्पथ बोधक सुललित अति सरस उपदेश और उनके अनुभवपूर्ण परम श्रेय पद, सुन्दर सद्विचार घर बैठे प्राप्त हो जाते हैं। जिज्ञासु साधकजनों के सम्यक् परिज्ञानार्थ आज के साम्प्रतिक युग में आध्यात्मिक श्रुति-पुराणादि उत्तमोत्तम ग्रन्थ एवं धार्मिक सत्पथबोधक पत्र-पत्रिकाओं की महती अवश्यकता है।

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य-समुपदिष्ट पञ्चसंस्कारों का स्वरूप

मानव जीवन में संस्कारों की बड़ी महत्ता है । जो मानव सुसंस्कृत संस्कारों से समन्वित हैं उसमें उज्ज्वलता, पावनता, सरसता, मधुरता एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रस्फुटित होती है । हमारी भारतीय अनादि वैदिक सनातन संस्कृति में संस्कारों का सर्वाधिक महत्व है । संस्कारहीन मानव उत्तमोत्तम गुणगणों से वंचित रहता हैं फलतः उसका परिणाम हितावह नहीं होता अतएव पावन संस्कारों की नितान्त अपेक्षा है । सुन्दर संस्कारों के अभाव में मानव पथ विचलित होकर किंकर्तव्य विमूढ बन जाता हैं। इसीलिए हमारे तत्त्वद्रष्टा आप्त महापुरुषों ने उत्तम संस्कार युक्त जीवन को ही परमोपादेय माना है । इसी हेतु शास्त्रों में षोडश संस्कारों का विधान विहित है । सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य प्रवर जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य अपने ''वेदान्त-कामधेनु दशश्लोकी'' के अन्तिम श्लोक में पञ्चार्थ तत्त्व का विवेचन करते हुए विरोधी तत्त्वों से सावधान रहने की प्रेरणा प्रदान की है । विरोधी तत्त्वों से हमारी कलुषित वृत्ति एवं विकारमय संस्कार होते हैं । यथा--

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततःपरम् ।

विरोधिनोरूपमथैतदाप्ते ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः ।।

(वेदान्त-कामधेनु-दशश्लोकी श्लोक १०)

श्रीनिम्बार्क भगवान् ने शास्त्र प्रतिपादित वैष्णव पंच संस्कारों का निरूपण किया है ।

तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः ।
अमी हि पञ्च संस्काराः परमैकान्तहेतवः ।।

(नारदपञ्चरात्र एवं पद्मपुराण)

शंख-चक्र मुद्राओं को भुजाओं पर धारण करना, गोपीचन्दन से तिलक करना तथा भगवत् सम्बन्धी नाम से सम्बोधित करे और तुलसी कण्ठी धारण एवं मन्त्रोपदेश ग्रहण पूर्वक इन पञ्च संस्कारों से सुशोभित होकर श्रीहरि भजन परायण हो ।

१. शंख-चक्र--

अङ्कितः शङ्खचक्राभ्यामुभयोर्बाहुमूलयोः ।
समर्च्चयेद्धरिं नित्यं नान्यथा पूजनं भवेत् ।।

(स्मृति शास्त्र)

जिसके दोनों भुजाओं पर शङ्ख-चक्र के चिह्न अंकित हो ऐसा साधक नित्य सर्वेश्वर श्रीहरि का सम्यक् प्रकार अर्चन-वन्दन करे उसके द्वारा की गई पूजा कभी व्यर्थ नहीं जाती ।

२. तिलक--

ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो विप्रः सर्वलोकेषु पूजितः ।
विमानवरमारुह्य याति विष्णोः परं पदम् ।।

(पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में)

ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करने वाला विप्र किंवा साधक जो सर्वत्र सम्पूजित होता है । वह इस पाँच भौतिक शरीर के त्यागने पर दिव्य विमान में सुशोभित होकर भगवान् विष्णु वासुदेव श्रीकृष्ण के नित्य धाम को प्राप्त करता है ।

३. नाम--

वैष्णवोसि हरिदासोसीति शिष्यं वदेत् गुरुः ।
अङ्कयेच्छङ्खचक्राभ्यां नाम कुर्याच्च वैष्णवम् ।।

बिना नाम चरन्धर्मं रिक्तो भवति मन्दधीः ।
मुकुन्दनामसंस्कारविहीनस्तु बहिर्मुखः ।।

(आगम शास्त्र)

श्रीगुरुदेव स्वयं शिष्य को दीक्षा दान के समय शंख-चक्र से अङ्कित कर वैष्णव परक नामकरण कर इस प्रकार निर्देश करे कि तुम आज से वैष्णव रूप में तथा श्रीहरि के शरणागत दास रूप में अवस्थित हो।

बिना नाम संस्कार के मन्दमति साधक धर्म का सेवन करने पर भी उसके फल से वञ्चित रहता है । मुकुन्द नाम संस्कार रहित वह सदा ही बहिर्मुख है ।

४. कण्ठी--

तुलसी काष्ठमालाञ्च कण्ठस्थां वहते तु यः ।
अप्यशौचो ह्यनाचारो मामेवैति न संशयः ।।

(विष्णुधर्म)

जो तुलसी काष्ठ की माला को अर्थात् तुलसी कण्ठी को अपने कण्ठ प्रदेश में सदा धारण करता है वह अपवित्र एवं आचारहीन भी हो तो निःसन्देह मुझे ही प्राप्त करता है ।

तुलसीकाष्ठसम्भूतां मालां यो वहते नरः ।
तारितं च कुलं तेन यावद्रामकथा क्षितौ ।।

(स्कन्दपुराण)

तुलसी काष्ठ माला (तुलसी कंठी) को जो मानव धारण करता है वह जब तक इस भूतल पर श्रीरामकथा विद्यमान है अपने समस्त कुल को इस भवसिन्धु से तार देता है ।

५. मन्त्र--

मन्त्रान् श्रीमन्त्रराजादीन् वैष्णवान् गुर्वनुग्रहात् ।
सर्वैश्वर्यं जपन्प्राप्य याति विष्णोः परं पदम् ।।

(आगम)

सर्वेषां मन्त्रवर्गाणां श्रेष्ठो वैष्णव उच्यते ।
विशेषात्कृष्णमनवो भोगमोक्षैकसाधनम् ।।

(वृहद्गौतमीय तन्त्र)

श्रीगुरुदेव के परमानुग्रह से उनसे प्राप्त मन्त्र एवं मन्त्रराज इन भगवदीय मन्त्रों के जप करने पर सर्वेश्वर विष्णुरूप भगवान् श्रीकृष्ण के परम दिव्य धाम को प्राप्त करता है ।

सम्पूर्ण मन्त्रसमूह में भगवान् विष्णु परक मन्त्र अति श्रेष्ठ होता है और विशेषतः सर्वेश्वर श्रीकृष्णपरक मन्त्र समस्त ऐश्वर्य और भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष को देने वाला है ।

नारायणमुखाम्भोजान्मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः ।
आविर्भूतः कुमारैस्तु गृहीत्वा नारदाय च ।
उपदिष्टः स्वशिष्याय निम्बार्काय च तेन तु ।
एवं परम्पराप्राप्तो मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः ।।

नारायण भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से आविर्भूत यह अष्टादशाक्षर श्रीगोपालमन्त्रराज है जिसे महर्षिवर्य श्रीसनकादिकों ने प्राप्त किया और उनसे देवर्षिप्रवर श्रीनारदजी ने तथा इन देवर्षि ने अपने परम शिष्य सुदर्शनचक्रावतार श्रीनिम्बार्क भगवान् को प्रदान किया । इस प्रकार परम्परा पूर्वक यह ''श्रीगोपालतापिनी'' उपनिषत् वर्णित अष्टादशाक्षर श्रीगोपाल मन्त्रराज सर्वश्रेष्ठ है ।

वस्तुतः इन पञ्च संस्कारों को भगवन्निष्ठ परमधीर महामनस्वी प्रशस्त सद्गुरुदेव द्वारा शरणापन्न साधक प्राप्त कर लेता है तो उसका नृजन्म परम सार्थक हो जाता है । संस्कार राहित्य जीवन इस भवाटवी के झञ्झावातों से प्रताडित रहता है । अतः इन पञ्च संस्कारों का विधान शास्त्र परिवर्णित एवं श्रीभगवन्निम्बार्काचार्योपदिष्ट अतीव महत्वकर है । इनके समाश्रय से मानव शाश्वत परमानन्दरससुधासिन्धु में अवगाहन पूर्वक नित्य नवयुगलकिशोर वृन्दावननिकुंजविहारी श्यामाश्याम श्रीराधाकृष्ण की अनिवर्चनीय अनुकम्पा का भाजन हो जाता है । फलतः इस भवार्णव के दुःख द्वन्द्वों से रहित होकर सदा सर्वदा उनके नित्य परिकर में अवस्थित रहकर अनन्त रसामृत का पान करता है जो मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है ।

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य की आचार्य-परम्परा में रसिकराजराजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने अपने रसमय ''श्रीमहावाणी'' ग्रन्थ में इन उत्तम संस्कारों को परिपुष्ट करने के लिए इस भावपूर्ण पद में--द्वादश

लक्षण एवं दशविध सोपान का वर्णन परम मननीय है ।

जो कोउ प्रभु कें आश्रय आवैं । सो अन्याश्रय सब छिटकावैं ।।
बिधि-निषेध कें जे जे धर्म । तिनिकों त्यागि रहें निष्कर्म ।।
झूठ क्रोध निंदा तजि देंही । बिन प्रसाद मुख और न लेंही ।।
सब जीवनि पर करुना राखैं । कबहुँ कठोर बचन नहिं भाखैं ।।
मन माधुर्य-रस माहि समोवैं । घरी पहर पल वृथा न खोवैं ।।
सतगुरु के मारग पगु-धारैं । हरि सतगुरु बिचि भेद न पारैं ।।
ए द्वादस-लच्छिन अवगाहैं । जे जन परा परम-पद चाहैं ।।
जाकें दस पैड़ी अति दृढि हैं । बिन अधिकार कौन तहाँ चढि हैं ।
पहले रसिक जनन कों सेवैं । दूजी दया हिये धरि लेवैं ।।
तीजी धर्म सुनिष्ठा गुनि हैं । चौथी कथा अतृप्त ह्वै सुनि हैं ।।
पंचमि पद पंकज अनुरागैं । षष्टी रूप अधिकता पागैं ।।
सप्तमि प्रेम हिये विरधावैं । अष्टमि रूप ध्यान गुन गावैं ।।
नवमी दृढ़ता निश्चैं गहिबें । दसमी रसकी सरिता बहिबें ।।
या अनुक्रम करि जे अनुसरहीं । सनै-सनै जगत निरबरहीं ।।
परमधाम परिकर मधि बसहीं । श्रीहरिप्रिया हितू सँग लसहीं ।।

जो रसिक भगवद् भक्त श्रीराधासर्वेश्वर प्रभु के चरण कमलाश्रित होवे । वह जगत् के विकारमय आश्रय का परित्याग कर, विधि निषेध के धर्म में अनाशक्त होकर निष्कर्म भाव से इन द्वादश लक्षणों को अपने हृदय में धारण करे, जिससे परम पद ध्रुव रूप से सिद्ध हैं । यथा-मिथ्या[१], क्रोध[२], निन्दा[३] और कटुवचन[४] इनका त्याग करे। भगवत्-प्रसाद के अतिरिक्त अन्य वस्तु को ग्रहण न करे[५], समस्त प्राणी मात्र पर करुणापूर्ण भाव हो[६], अपने मन को मधुरता से परिपूर्ण करें[७], भगवतपरक रस में अवगाहन करे[८], समय को पलभर भी वृथा न जाने दे[९], सद्गुरु द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुगमन करे[१०], श्रीहरि[११] और सद्गुरु में विभेद न करे[१२] ।

इसी प्रकार दशविध सोपान जिन्हें पात्रता के बिना कैसे पार किया जा सकता हैं । यह दश सोपान एवंविध रूप में वर्णित हैं । यथा--भक्तों का सत्संग[१], हृदय में दया का संचार[२], धर्म में निष्ठा[३], भगवत्कथा श्रवण[४], श्रीहरिपदकमलों में अनुराग[५], भगवद् दर्शन की उत्कण्ठा[६], निज मानस में

प्रेमाभक्ति[७], भगवद् रूप का ध्यान पूर्वक गुणगान[८], दृढ़ भाव[९], भगवद् रस की सरिता का प्रवाह[१०], इन दश रूपात्मक वर्णित सोपान पथ पर जो अग्रसर हो वह शनैः शनैः इस भवसागर से उद्धार पा लेता है ।और श्रीप्रभु के दिव्य धाम परिकर में निवास करते हुए अनन्त परमानन्द का निश्चय ही अनुभव करता है । उपर्युक्त पञ्च संस्कारों को धारण करने वाला साधक इस महनीय पद में वर्णित नियमों का परिपालन करता हुआ अपने मानव जीवन को श्रेष्ठ संस्कारों से समन्वित कर उसे परम सार्थक करे ।

यद्यपि श्रीनिम्बार्क सिद्धान्त में पञ्च संस्कारों का परिवर्णन बहुत ही विस्तृत है तथापि इस प्रस्तुत आलेख में अत्यन्त संक्षिप्त रूप में निर्दिष्ट हुआ है । जो साधकों के अपने मानस में सर्वदा अवधारणीय है ।

चतुर्विंशति अवतारों में श्रीहंसावतार एवं सुदर्शनचक्रावतार श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य

यद्यपि भगवदवतार का हेतु स्वयं सर्वनियन्ता सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में सुप्रसिद्ध इन श्लोक द्वय से स्पष्ट रूपेण निरूपण किया है--

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।

इस धराधाम पर जब जब भी अनादिवैदिक सनातन धर्म का ह्रास होता है एवं अधर्म की अभिवृद्धि होती है तब मैं स्वयं भूतल पर अवतीर्ण होता हूँ ।

उत्तम श्लोक श्रेष्ठ महापुरुषों की सर्वविध रक्षार्थ एवं पापाचार-परायण दुरितजनों के परिहार एवं श्रुति सम्मत सनातन धर्म के सम्यक् संस्थापन निमित्त ही मैं स्वयं प्रत्येक युग में अवतरित होता हूँ ।

इन श्रीमद्भगवद्गीतोक्त श्रीभगवदीय वचन से अवतार का प्रमुख हेतु स्वतः स्वाभाविक सुस्पष्ट है तथापि सुदर्शन चक्रावतार

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यचरणों नें अपने ''वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी'' के अष्टम श्लोक से श्रीहरि के अवतार का जो भाव प्रतिपादित किया है वह निश्चय ही अत्यन्त विलक्षण परम दिव्य भाव से परिपूर्ण एवं शास्त्र सम्मत है ।

वे श्रीप्रभु अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधिपति क्षराक्षरातीत जगज्जन्मादिहेतु निखिलजगदभिन्ननिमित्तोपादनकारण, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुंसर्वसमर्थ हैं, वे सर्वनियन्ता, सर्वान्तरात्मा, सर्वशक्तिमान् हैं । अपने नित्य दिव्यधाम में विराजित रहते हुए **''संकल्पादेवतच्छ्रुतेः''** इस सिद्धान्तानुसार इस समस्त चराचर जगत् का क्षणमात्र में उद्भव, संरक्षण एवं विलय कर देते हैं, उन्हें अवतार की अपेक्षा ही नहीं तथापि अनुग्रहविग्रहस्वरूप श्रीसर्वेश्वर अपने प्रपन्न परम भागवत भगवज्जनों की स्वाभाविक पराभक्ति से समाकृष्ट हो इस भारत की पावन वसुधा पर अवश्य ही विभिन्न स्वरूपों में अवतीर्ण होते हैं।

''वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी'' के अष्टम श्लोक से भगवत्-शरणागति के निरूपण क्रम में भगवदवतारपरक जो प्रतिपादन हुआ है वह परम कमनीय है--

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात् ।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ॥

(वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी श्लोक. ८)

इस श्लोक के तृतीय चरण में **''भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्य-विग्रहात्''** निर्देश करके श्रीप्रभु के अवतार लेने का हेतु स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त है जिसमें यही भाव निर्दिष्ट किया गया है कि वे सर्वाधिष्ठान श्रीहरि भक्तों के चिरभिलषित पावन मनोरथों को पूर्ण करने हेतु ही समय-समय पर स्वयं श्रीराम, श्रीकृष्ण प्रभृति स्वरूप में शिशुरूप धारण कर अवतीर्ण होकर उनके श्रेष्ठतम मनोरथों को सर्वात्मना पूर्ण करते हैं । महाराज दशरथ और माता कौशल्या व्रजाधीशनन्द एवं यशोदा के उत्तमोत्तम मनोरथों को पूर्ण करने निमित्त ही स्वयं बाल रूप में आविर्भूत होते हैं । यही तो उन सर्वेश्वर की भगवत्ता एवं परम कृपालुता है ।

श्रीहंसावतार धारण का भी यही प्रमुख लक्ष्य है । जगत्स्रष्टा पितामह श्रीब्रह्मा के समक्ष जब उन्हीं के मानस पुत्र श्रीसनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार महर्षिप्रवरों ने जब यह जिज्ञासा पूर्ण प्रश्न उपस्थापित किया--

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो ! ।
कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः ।।

(श्रीमद्भा. स्क. ११ अ. १३ श्लो. १७)

अर्थात् हे ब्रह्मदेव ! प्राणीमात्र का यह त्रिगुणात्मक चित्त इस चराचरात्मक त्रिगुणरूप जगत् के विषयादिक में आलिप्त है तथा ये जागतिक विषय इस चित्त में व्याप्त है अतः विषय तथा चित्त ये दोनों ही आपस में एक दूसरे से मिले हुए हैं तब इस भवार्णव से निवृत्त होने की उत्कण्ठा वाले मोक्षाभिलाषी को इस जगत् से मोक्ष की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? इनका उभयात्मक परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध है अतएव इस जगत् से चित्त की सर्वथा निवृत्ति कैसे सम्भावित है कृपाकर इसका सम्यक् समाधान करें ।

श्रीसनकादि महर्षियों द्वारा इस परम गूढतम रहस्यात्मक अत्यद्भुत प्रश्न के करने पर जगत्पिता ब्रह्मा भी व्यामुग्ध होगये और मन ही मन इसका सही समाधान न पाने पर अकारणकरुणावरुणालय अखिलान्तरात्मा भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण का चिन्तन किया । अनन्तकृपासिन्धु दयार्णव श्रीहरि इस अतीव गूढतम प्रश्न के समाधानार्थ ही श्रीब्रह्मा के वाहन हंस रूप में ही उनके समक्ष कुछ ही दूरी पर अतिशय देदीप्यमान स्वरूप में अवतीर्ण होकर श्रीसनकादि महर्षियों द्वारा जिज्ञासापूर्ण प्रश्न का इस प्रकार समाधान किया ।

पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः ।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः ।।

(श्रीमद्भा. स्क. ११ अ. १३ श्लो. २३)

देव, मानव, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि सभी पञ्चभूतात्मक होने पर 'आप कोन है ?' यह जिज्ञासात्मक प्रश्न ही यथार्थ नहीं है मात्र वाग्विलास कथनरूप व्यर्थ ही है ।

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
अहमेव न मत्ताऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ।।

(श्रीमद्भा. स्क. ११ अ. १३ श्लो. २४)

मन, वाणी, श्रोत्र, नेत्र प्रभृति इन्द्रियों से जो भी ज्ञान किया जाय वह मैं सर्वेश्वर ही हूँ इससे रहित कोई भी पदार्थ नहीं अतः यही अन्तर्वाह्य

ज्ञान ज्ञातव्य है ।

इस प्रकार श्रीसनकादिकों द्वारा श्रीब्रह्मा के प्रति किये गये प्रश्न का श्रीहंस भगवान् से समाधान पाने पर ये चारों महर्षिवृन्द अत्यन्त सन्तुष्ट हुए । पश्चात् उसी क्षण श्रीसनकादि महर्षियों की अभिलाषानुसार गुञ्जाफल सदृश दक्षिणावर्ती चक्राङ्कित अर्चाविग्रहरूप शालग्राम स्वरूप श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा उन्हें श्रीहंस भगवान् से प्राप्त हुई जो आगे चलकर वैष्णव पराभक्तिरस का अवबोध महर्षिवर्य श्रीसनकादिकों ने देवर्षिप्रवर श्रीनारद को कराते समय वही श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा प्रदान की । इसके अनन्तर द्वापरान्त में सुदर्शनचक्रावतार श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य को यही श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा देवर्षिवर्य श्रीनारदजी ने प्रदान की जो अद्यावधि आचार्य-परम्परागत अखिल भारतीय निम्बार्काचार्यपीठ, निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) पुष्करक्षेत्र, अजमेर (राजस्थान) में विद्यमान है जिनकी प्रतिदिन गोदुग्ध से वैदिक पुरुष सूक्त मन्त्रों द्वारा अभिषेक होता है ।

महर्षिवर्य श्रीसनकादिकों ने लोकलोकान्तरों में विचरण करते हुए इस धराधाम पर समस्त तीर्थगुरु श्रीपुष्करतीर्थ में जहाँ श्रीब्रह्माजी ब्रह्मलोक की भाँति सतत यहाँ पर भी सर्वदा सुशोभित हैं, आकर अपना यह अतीव गूढतम प्रश्न किया और भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ही श्रीहंस रूप में अवतीर्ण होकर उनके प्रश्न का दिव्यतम समाधान किया । २४ अवतारों का शास्त्रों में वर्णन हैं और सभी अवतार इसी भूतल पर भारतवर्ष की पावन वसुधा पर हुए हैं, अवतरण का अर्थ ही ऊर्ध्व लोकों से पृथ्वीतल पर होना स्वाभाविक है अतः यह अवतार भी भूतल पर पुष्कर में ही हुआ है जिसमें किसी प्रकार का सन्देह संभव नहीं । अतः पुष्करतीर्थ श्रीहंस भगवान् की पावन स्थली भी है ।

इसी प्रकार वे जगन्नियन्ता श्रीहरि कभी स्वयं तो कभी अपने नित्य दिव्य भगवत्पार्षदों को भी सम्प्रेषित कर अज्ञानान्धकार का निवारण एवं आसुरीशक्ति का परिहार कराते हैं और अनादि वैदिक सनातन वैष्णव धर्म का प्रतिष्ठापन भी कराते हैं ।

पञ्चसहस्रवर्ष पूर्व द्वापरान्त एवं कलियुगारम्भकाल में अपने ही निज करारविन्द में नित्य सुशोभित चक्रराज श्रीसुदर्शन को ''भविष्यपुराण''

के वचन से एवंविध आज्ञा प्रदान की--

सुदर्शन ! महाबाहो ! कोटिसूर्यसमप्रभ ! ।
अज्ञानतिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय ।।

करोड़ों सूर्य सदृश दिव्य प्रभायुत महाबाहो ! श्रीसुदर्शन ! अज्ञानान्धकार के निवारणार्थ इस जगतीतल पर आचार्य स्वरूप से अवतीर्ण होकर वैष्णव पराभक्ति के पावन पथ का संसारासक्त जनों को उत्तम ज्ञान हेतु का बोध करावें ।

अनुग्रहविग्रहस्वरूप सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का मङ्गल आदेश प्राप्त कर चक्रराज श्रीसुदर्शन ने इस अवनितल पर भारतवर्ष के दक्षिणाञ्चल क्षेत्र गोदावरी तदवर्ती पैठन सन्निकट मूंगी ग्राम में महर्षिवर्य श्रीअरुण के यहाँ माता श्रीजयन्ती के पावन उदर से नियमानन्द के रूप में अवतीर्ण होकर व्रजमण्डलस्थ गोवर्धन सन्निकटवर्ती निम्बग्राम में आपने देवर्षि श्रीनारदजी से पञ्चपदी विद्यात्मक श्रीगोपालमन्त्रराज की दीक्षा एवं श्रीसनकादिक संसेवित श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा प्राप्त की । यहीं पर आपने अपने आश्रम में समागत दिवाभोजी दण्डीयतिरूप श्रीब्रह्मा को सूर्यास्त होने पर श्रीसुदर्शन चक्रराज का आवाहन कर सूर्यवत् दिवानुभूति कराके उनका आतिथ्य कर उन्हें भगवत्प्रसाद कराया, इसी से जगत्स्रष्टा श्रीब्रह्मदेव ने उन्हें ''निम्बार्क'' नाम से सम्बोधित किया तभी से आप श्रीनिम्बार्काचार्य नाम से विख्यात हुए । आपकी उपासना नित्यनिकुञ्जवृन्दावनविहारी युगलकिशोर भगवान् श्रीराधाकृष्ण की है और आपका दार्शनिक सिद्धान्त स्वाभाविक-द्वैताद्वैत है, एकादशीव्रतादि में कपालवेध सिद्धान्त आपको ग्राह्य है । प्रस्थानत्रयी में आपका ब्रह्मसूत्र पर ''वेदान्तपारिजात सौरभ'' नामक भाष्य वृत्त्यात्मक रूप से परम प्रख्यात है । ''वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी'', ''प्रातः स्तवराज'', ''श्रीराधाष्टक स्तोत्र'' एवं ''मन्त्ररहस्यषोडशी'', ''प्रपन्नसुरतरुमञ्जरी'' प्रभृति ग्रन्थ परम मननीय हैं । आप वैष्णव चतुः सम्प्रदायों में अत्यन्त प्राचीनतम है । आपकी आचार्य परम्परा में पूर्वाचार्यों ने अनेक दार्शनिक तथा उपासना परक संस्कृत वाङ्मय एवं हिन्दी व्रज साहित्य में सरस रचनायें की हैं जो सर्वदा भागवतजनों को अपने अन्तर्मानस में अवधारणीय है ।

गोमाता भारत की आत्मा है

गौ समस्त प्राणियों की परम श्रेष्ठ शरण है, यह सम्पूर्ण विश्व की माता है--**'सर्वेषामेव भूतानां गावः शरणमुत्तमम्'**, **'गावो विश्वस्य मातरः।'** यह निखिलागमनिगमप्रतिपाद्य सर्ववन्दनीय एवं अमितशक्ति-प्रदायिनी दिव्यस्वरूपा है। कोटि-कोटि देवताओं की दिव्य अधिष्ठान है। इसकी पूजा समस्त देवताओं की पूजा है। इसका निरादर समस्त देवताओं का निरादर है। यह भारतीय संस्कृति की प्रतीक स्वरूपा है। परम दिव्यामृत को देने वाली सकलहितकारिणी तथा सम्पूर्ण विश्व का पोषण करने वाली है। इसकी आराधना से सकल देववृन्द एवं विश्वनियन्ता भगवान् श्रीसर्वेश्वर अतिशय प्रसन्न होते हैं। तभी तो वे व्रजराजकिशोर 'गोपाल' एवं 'गोविन्द' बनकर व्रज के वनोपवनों में, गिरिराज के मनोरम वनोपवनों में तथा कालिन्दी के कमनीय कूलों पर नंगे चरणों असंख्य गोसमूह के पृष्ठ भाग में अनुगमन करते हुए उनकी सेवा निरत रहा करते थे। अग्निपुराण (२९२/१८) में कहा गया है--

गावः पवित्रं परमं गावो माङ्गल्यमुत्तमम्।
गावः स्वर्गस्य सोपानं गावो धन्याः सनातनाः ।।

'गायें परम पवित्र, परम मङ्गलमयी, स्वर्ग की सोपान, सनातन एवं धन्यस्वरूपा हैं।'

गवां हि तीर्थे वसतीह गङ्गा पुष्टिस्तथा तद्रजसि प्रवद्धा।
लक्ष्मीः करीषे प्रणतौ च धर्म स्तासां प्रणामं सततं च कुर्यात् ।।

(विष्णुधर्मो० २/४२/५८)

'गौ-रूपी तीर्थ में गङ्गा आदि सभी नदियों तथा तीर्थों का आवास है, उसकी परम पावन धूलि में पुष्टि विद्यमान है, उसके गोमय में साक्षात् लक्ष्मी है तथा इन्हें प्रणाम करने में धर्म सम्पन्न हो जाता है। अतः गोमाता सदा सर्वदा प्रणाम करने योग्य है।'

शास्त्रों में स्थल-स्थल पर गौ की गरिमा, महिमा एवं सर्वोपादेयता निर्दिष्ट की गयी है। गौ का दर्शन, स्पर्श और अर्चन परम पुण्यमय है। गाय के स्पर्शमात्र से आयु बढती है। भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्यामसुन्दर ने

गाण्डीवधारी अर्जुन को महाभारत के अनुशासन-पर्व (५१/२७/३२) में इस प्रकार उपदेश किया है--

कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं शिवम्।।
निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम्।
विराजयति तं देशं पापं चास्यापकर्षति।।

'गोमाता की पुण्यमयी महिमा का कीर्तन, श्रवण, दर्शन एवं उसका दान सम्पूर्ण पापों को दूर करता है। निर्भय होकर जिस भूमि पर गाय श्वास लेती है वह परम शोभामयी है, वहाँ से पाप पलायित हो जाता है।'

भगवान् मनु ने गोदान का फल कितना उत्कृष्ट बताया है-

'अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम्'

अर्थात् 'बैल को देने वाला अतुल सम्पत्ति तथा गाय को देने वाला दिव्यातिदिव्य सूर्यलोक को प्राप्त करता है।'

जिस भारत के धर्म, संस्कृति और विविध शास्त्र तथा सर्वद्रष्टा तत्वज्ञ ऋषि-मुनियों एवं आप्त महापुरुषों के अनेक उपदेश गोमाता की दिव्य महिमा से आते-प्रोत हैं, जिस भारत की पुण्य वसुन्धरा सदा-सर्वदा से गौ के विमल यश से समग्र विश्व में अपनी दिव्य धवलिमा आलोकित करती आयी है, जिस भारत में अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक, सर्वनियन्ता श्रीसर्वेश्वर भी 'गोपाल' बनकर गोमहिमा श्रेष्ठता, सर्वमूर्द्धन्यता बतलाते हैं, उस पवित्र भारत की दिव्य अवनि गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत के स्थान पर गोमाता के रक्त से रंजित की जा रही है। हमारी जनतन्त्र सरकार प्रतिदिन हजारों-हजार गायों को विविध प्रकार से निर्दयता पूर्वक भीषण यान्त्रिक यातनाओं के द्वारा मौत के घाट उतारती है। कैसा अकल्पनीय घोर अत्याचार है। जहाँ शास्त्र का इस प्रकार का सन्देश देता है---**अन्तकाय गोघातकम्'** अर्थात् गोघातक को प्राणदण्ड दिया जाना चाहिये। और अथर्ववेद का कहना है--

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा।।

'यदि तू हमारी गौ, घोड़े एवं पुरुषों की हत्या करता है तो हम सीसे

की गोली से तुझे बींध देंगे, जिससे तू हमारे वीरों का वध न कर सके।'

वहाँ हत्या की बात तो दूर रही गौ की ताड़ना, उसे अपशब्द कहना, पैर से आघात करना, भूखी रखना तथा कठोरता से हाँकना आदि का भी शास्त्रों में निषेध किया गया है। इस सम्बन्ध में वेदादि निखिल शास्त्रों का एक स्वर से महान् उद्घोष है, किन्तु महाघोर दुःख का विषय है कि उसके सर्वथा विपरीत आचरण करने वाली हमारी सरकार भारत की संस्कृति और धर्म को ठुकराकर मदान्धता से गोहत्या के जघन्यतम कृत्य में संलग्न है। क्या उसे अतीत का इतिहास स्मरण नहीं हैं ? हिरण्यकशिपु, रावण, कुम्भकर्ण, शिशुपाल तथा कंसादि का अभिमान चूर-चूर होकर विनष्ट हो गया। उनके अत्याचार का भीषण परिणाम उन्हें भोगना पड़ा। अतएव सत्ता के महामद में आकर सन्मार्ग को नहीं छोड़ बैठना चाहिये।

अहिंसा के पोषक भारत के शीर्षस्थ नेता लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी के उपदेशों को विस्मरण कर सरकार का स्वेच्छाचारिता का अवलम्ब लेना देश की महान् प्रतिष्ठा को गहरी खाई में डालना है। भारत की सम्पूर्ण जनता की इस पवित्र माँग की सरकार उपेक्षा करती जा रही है। यह लोकतन्त्र का महान् उपहास और स्वार्थपरता का प्रत्यक्ष उदाहरण है। सरकार नाना प्रकार के तर्कहीन हेतु बता-बताकर भ्रान्त धारणा में डालकर स्वार्थ-सिद्धि के चक्कर में है, किन्तु यह भारत की धर्मप्राण जनता धर्म के महत्त्व को भली प्रकार जानती है और अपनी गोमाता की रक्षा के लिये सर्वस्व बलिदान करने में कभी पीछे नहीं रहेगी।

सरकार को अब भी देश की समृद्धि तथा प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण गोवध पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये। धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक आदि सभी दृष्टियों से गोमाता परमोपकारिणी है, इसका विनाश राष्ट्र का विनाश है। यह भारत की अतुलनीय अमूल्य सम्पत्ति है, अतः इसकी रक्षा राष्ट्र की रक्षा है।

गवां सेवा तु कर्तव्या गृहस्थैः पुण्यलिप्सुभिः ।
गवां सेवापरो यस्तु तस्य श्रीर्वर्धतेऽचिरात् ।।

अर्थात् प्रत्येक पुण्य की इच्छा रखने वाले सद्गृहस्थ को गायों की सेवा अवश्य करनी चाहिये, क्योंकि जो नित्य श्रद्धा-भक्ति से गायों की

प्रयत्नपूर्वक सेवा करता है उसकी सम्पत्ति शीघ्र ही वृद्धि को प्राप्त होती है और नित्य वर्धमान रहती है।

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य एवं उनके द्वारा वेद-प्रामाण्य-प्रतिपादन

वैष्णव चतुःसम्प्रदाय में सुदर्शनचक्रावतार श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य परम प्राचीनतम हैं। आपने महर्षि वेदव्यासकृत 'ब्रह्मसूत्र' पर 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नाम से वृत्यात्मक भाष्य का प्रणयन किया और आपही के परम पट्टशिष्य श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराज ने इसी 'वेदान्तनारिजातसौरभ' भाष्य का ही 'वेदान्तकौस्तुभ' नाम से सुप्रसिद्ध भाष्य का विशेष विस्तार किया, प्रस्तुत सन्दर्भ में इन्हीं भाष्य-द्वय के आधार पर वेद-प्रामाण्य का यह विवेचन द्रष्टव्य है--

वेदान्तदर्शन में मुख्यतः प्रमाणत्रय के आधार पर आत्म-परमात्म-तत्त्व एवं प्राकृत-जगत् के स्वरूप का निर्वचन हुआ है। उन प्रमाणत्रय में शब्द-प्रमाण अर्थात् वेद-प्रमाण का ही प्रामुख्य है। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यजी ने ब्रह्म एवं जीव-जगत् निरूपण-प्रसंग में 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम सूत्र **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** तथा तृतीय एवं चतुर्थ सूत्र **'शास्त्रयोनित्वात्' 'तत्तु समन्वयात्'** - इन सूत्रों पर तथा 'ब्रह्मसूत्र' के 'वेदान्तपारिजातसौरभ' भाष्य में आपने एवं आपके पट्टशिष्य पाञ्चजन्य शंखावतार श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराज ने 'वेदान्तकौस्तुभ' भाष्य में वेद-प्रामाण्य का जो निर्वचन किया है, वस्तुतः वह धीर पुरुषों द्वारा सर्वदा अवधारणीय है।

श्रीनिम्बार्क भगवान् ने ब्रह्मसूत्र के -**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'**-इस प्रथम सूत्र के प्रारम्भ में ही **'अथ'** शब्द का गहनतम भावार्थ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, यथा-**'अथाधीतषडङ्गवेदेन'**, **'अथ'** अर्थात् जिन्होंने षडङ्ग-वेद का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन, मनन-चिन्तन किया है। इसी प्रयुक्त 'अथ' शब्द का स्पष्टीकरण आचार्यवर्य श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराज ने 'वेदान्तकौस्तुभ' भाष्य में जिस विधा से प्रतिपादित किया है, वह कितना सुन्दरतम है यथा-**'तत्राथानन्तरमितिधर्मजिज्ञासाविषयभूतधर्म-**

स्वरूपतत्साधनतदनुष्ठानप्रकारतत्फलविषयकज्ञानानन्तरं 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति विधीयमानसंस्कारादिपूर्वकं साङ्गं वेदमधीत्य।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र में 'अथ' शब्द का अर्थ 'अनन्तर' है। अर्थात् धर्मजिज्ञासा के विषय में धर्म का स्वरूप, धर्म के साधन, धर्म के अनुष्ठान-प्रकार और उनके फल-सम्बन्धी ज्ञान के अनन्तर इस प्रकार 'अथ' का यह गम्भीर भाव प्रकट किया है। ऐसे ही आप द्वारा तृतीय सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्'-इस सूत्र-भाष्य में वेद-प्रामाण्य का निरूपण और भी विलक्षण है--

'उक्तलक्षणं ब्रह्मानुमानादिगम्यमुत वेदप्रमाणकमितिसंशये अनुमानादिगम्यं 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति ब्रह्मणो वागगोचरत्वश्रवणादिति पूर्वपक्षे, ब्रह्म नानुमानादिगम्यं किंतु वेदप्रमाणकम्। कुतः? शास्त्रयोनित्वात्'। शास्त्रं वेदो योनिः कारणं ज्ञापकं प्रमाणं यस्मिंस्तच्छास्त्रयोनि तस्य भावस्तत्त्वं तस्माच्छास्त्रयोनित्वाच्छास्त्र प्रमाणकत्वात्। वेदैकप्रमाणकमेव ब्रह्मेति सिद्धान्तः, ननु लाघवाच्छास्त्रयोनीत्येव सुवचम्, तथा च शास्त्रयोनि वेदप्रमाणकं ब्रह्मेतीष्टसिद्धिरिति चेन्न। नानुमानादिगम्यं ब्रह्म शास्त्रयोनित्वादितीतर-प्रमाणविघातकहेतुनिर्देशात्। ननु नानुमानादिगम्यमिति कुतो लभ्यते इति चेत्, पूर्वोक्तकार्यत्वलिङ्गेन जगतः कर्तृजन्यत्वसाधके नानुमानगम्यं ब्रह्मेति शङ्का जाता तन्निवारणायार्थिकस्तत्पदलाभः 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति सर्वे वेदा यत्रैकीभवन्ति तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छाम'। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' इत्यादि श्रुतिभ्यः। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः', ' वेदे रामायणे चैव भारते पञ्चरात्रके। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते', 'नमामः सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वतीत्यादिस्मृतिभ्यश्च।'

ब्रह्म को जानना अनुमान आदि प्रमाणों से योग्य है ? या वेद-प्रमाण से ? इस संशय में यदि अनुमान से जानने योग्य कहें तो वहाँ तक वाणी की भी पहुँच नहीं है, ऐसा सुना जाता है। अतः ब्रह्म अनुमान आदि से जानने योग्य नहीं है। वेद प्रमाण से ही जानने योग्य है, क्योंकि ब्रह्म का शास्त्रयोनित्व होने से शास्त्र का अर्थ है वेद, योनि का अर्थ है कारण एवं

ज्ञापक तथा **'त्व'** प्रत्यय भाव में है, वह अर्थान्तर के निवारणार्थ है। अर्थात् वेद-प्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रमाण नहीं हो सकता। एकमात्र वेद-प्रमाणक ही ब्रह्म है--यह सिद्धान्त है। लाघव होने से 'शास्त्रयोनि' इतना ही सूत्र उचित था **'त्वा'** इतना क्यों बढ़ाया? **'वेदप्रमाणकं ब्रह्म'** यह अर्थ हो ही जाता है। उत्तर है--'अन्य प्रमाणों के निषेधार्थ बढाया है।' पुनः शंका है कि ब्रह्म का अनुमानादि प्रमाणगम्य न होना कहाँ से लिया ? पूर्वसूत्र **'जन्माद्यस्य यतः'** में जगत् का कार्यत्व कहा गया है जो कर्तृजन्य है। जिससे ब्रह्म के अनुमानगम्य होने की शंका होती है। तन्निवारणार्थ अर्थ से अनुमान-प्रमाण द्वारा जानने योग्य नहीं है जिस पद का समस्त वेद प्रतिपादन करते हैं और जिस पद में समस्त वेद एकीभाव से एकवाक्यता को प्राप्त करते हैं, उपनिषदों में बताये गये उस पुरुष को मैं पूछता हूँ। वेद को न जानने वाले ब्रह्म का मनन नहीं कर सकते--इन श्रुति-वचनों से तथा 'सब वेदों से मैं ही जानने योग्य हूँ। वेद, रामायण, महाभारत, पञ्चरात्र-इन सभी के आदि-मध्य और अन्त में सर्वत्र मेरा ही गान किया गया है, उस परमात्मा को हम नमस्कार करते हैं, जिसमें सब शास्त्रीय वचनों की शाश्वती प्रतिष्ठा समन्वित है--इन स्मृति-वचनों से भी एकमात्र सर्वशास्त्रों में प्रतिपाद्य ब्रह्म है।

इसी प्रस्तुत सूत्र के भाष्य के अग्रिम प्रकरण में और भी स्पष्ट कर दिया है, यथा--

'कृत्स्नस्य तु विश्वस्य वेदं विना कार्यत्वमप्रसिद्धमतो जगत्कर्ताऽपि वेदादेव ज्ञातुं शक्यो नत्वनुमानसहस्त्रेण। न च प्रत्यक्ष-प्रमाणगम्यं ब्रह्म, तद्ग्रहणे हि साधारणानामिन्द्रियाणामसामर्थ्यात्। 'नेन्द्रियाणि नानुमानम्', 'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठेति' श्रुतेः। हे प्रेष्ठ ! एषा ब्रह्मविषया मतिस्तर्केण न निरस्या। यद्वा न प्राप्तुं योग्या। अन्येन वेदविदा सर्वज्ञेनाचार्येण प्रोक्ता सुज्ञानाय भवतीत्यर्थः। 'तर्काप्रतिष्ठानाम्' इत्यादिसूत्रात्। 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्'। 'नाप्रतिष्ठिततर्केण गम्भीरार्थस्य निश्चयः' इति महाभारताच्च। किंच सर्वज्ञैर्मन्त्रैः ऋषिभिश्च साकल्येन सर्वथाऽगम्यं दुर्बोधमचिन्त्यानन्त-गुणशक्त्यादिमज्जगत्कारणं ब्रह्मानुमानादिवेद्यमिति कोऽनुन्मत्तो ब्रूयात्। न च 'यतो वाचो निवर्तन्ते'

इत्यादि श्रुतीनां का गतिरितिशङ्क्यम्। तासामियत्तावच्छिन्नं ब्रह्मेत्यर्थ-परत्वात्। वक्ष्यति च 'प्रकृतैतावत्त्वं हीति' सूत्रे। शास्त्रस्य योनिः शास्त्रयोनिरिति विग्रहेऽप्यमेवार्थः सर्वज्ञब्रह्मनिःश्वसितैरन्तरङ्गैर्वेदैरेवं ब्रह्म वेद्यम्, न बहिर्भूतैरन्यकल्पितानुमानादिभिरितिफलितोऽर्थः। अत्रायं सूत्रस्य 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' इति वाक्यं विषयः। न चास्मिन्नर्थे वेदानां नित्यत्वहानिः, नित्यसिद्धानां निर्गमनमात्रस्वीकारात्, 'वाचा त्रिरूप नित्यया।' 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा प्रवृत्तय' इति श्रुतिस्मृतिभ्यश्च। अनेन ब्रह्मणेऽप्राकृतो नित्यो विग्रह सूचितः। प्राकृतसृष्टे पूर्ववर्तिनो वेदस्य तन्निःश्वसितत्वात्। एतदुपरिष्टाद् वक्ष्यामः। तत्सिद्धं वेदैप्रमाणकं ब्रह्मेति।'

सम्पूर्ण विश्व का कार्यत्व वेद के बिना प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये जगत् का कर्ता भी वेद से ही जाना जा सकता है, हजार अनुमान से भी नहीं जाना जा सकता। ब्रह्म को प्रत्यक्ष-प्रमाण से नहीं जाना जाता, क्योंकि ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान साधारण इन्द्रियों की सामर्थ्य से बाहर है। ब्रह्म-ज्ञान में न इन्द्रियाँ समर्थ हैं न अनुमान समर्थ है। तर्क द्वारा यह ब्रह्मविषयक बुद्धि अपनेय नहीं है। हे प्रिय शिष्य ! तर्कानुमान से अन्य प्रमाण ही सुज्ञान के लिये है। श्रुति-वचन एवं तर्क आदि से अतिरिक्त वेद के तत्त्वज्ञ सर्वज्ञ आचार्यों द्वारा उक्त ब्रह्मविषयक ज्ञान समीचीन होता है। हे प्रिय शिष्य ! **'तर्काप्रतिष्ठानात्'** इस सूत्र-वचन के अनुसार तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। मनुस्मृति का वचन है--'जो भाव चिन्तन में नहीं आते उनको तर्क से नहीं साधना चाहिये।' महाभारत में लिखा है--'गम्भीर अर्थ का निश्चय अप्रतिष्ठित तर्क के द्वारा नहीं होता।'

और भी--'सर्वज्ञ मन्त्रों द्वारा, ऋषियों द्वारा तथा सम्मिलित साधनों से जो सर्वथा अप्राप्य, अज्ञेय और दुर्बोध है, अचिन्त्य, अनन्त गुणवाला, अनन्त शक्तिवाला, जगत् का कारण ब्रह्म अनुमान आदि प्रमाणों से ज्ञेय है। इस प्रकार का वचन कौन प्रबुद्ध पुरुष कहेगा ? अब यह शंका न करें कि जहाँ वाणी की पहुँच नहीं है, इस श्रुति-वचन की क्या गति होगी, क्योंकि **ऐसी श्रुतियाँ इयत्तावच्छिन्न ब्रह्म एतदर्थपरक हैं। अग्रिम सूत्रों में कहा भी है-**

-**'प्रकृतैतावत्त्वं हि'** और **'शास्त्रस्य योनिरिति'**--इस विग्रह में भी यही अर्थ है। सर्वज्ञ ब्रह्म के निःश्वसित अन्तरङ्ग वेदों से ही ब्रह्म वेद्य है, बहिर्भूत अन्य कल्पित अनुमानादि से नहीं--यह फलितार्थ है। इस सूत्र का महद्भूत परमात्मा के निःश्वसित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद इत्यादि श्रुति-वाक्य ही विषय हैं। परमात्मा के निःश्वास-रूप वेदों के नित्यत्व की हानि होगी यह शंका न करें, क्योंकि निःश्वास का अर्थ श्वास का निर्गमन है, जो पूर्व-सिद्ध का रेचन होने से निर्माण नहीं है। श्रुति एवं स्मृति वचनों के अनुसार त्रिरूप नित्य-वाणी, अनादि अनिधन दिव्य वेदमयी नित्य-वाणी आदि में स्वयम्भूद्वारा उत्सृष्ट हुई, जिससे सम्पूर्ण व्यवहार चला। इससे ब्रह्म का अप्राकृत, नित्य-विग्रह सूचित है। उसका निःश्वास होने से प्राकृत सृष्टि के पूर्ववर्ती वेद का वर्णन हम आगे करेंगे। इससे एकमात्र वेदों के प्रमाण से ब्रह्म वेद्य है, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार 'वेदान्तपारिजातसौरभ' एवं 'वेदान्तकौस्तुभ'--इन भाष्यद्वय में अनेक स्थलों पर वेद-प्रमाण्य का निर्वचन अतीव उत्कृष्टतम हुआ है। वस्तुतः शब्द-प्रमाण अर्थात् शास्त्र-प्रमाण और शास्त्र-प्रमाण में भी श्रीभगवन्निःश्वासभूत वेद-प्रमाण ही सर्वतोमुख्य है। प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणमूलक होते हैं, इसीलिये वेदान्तदर्शन में वेदादि शास्त्र-प्रमाण को परम श्रेष्ठ माना गया है। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यवर्य ने तथा आपश्री के ही परमपट्ट शिष्य 'वेदान्तकौस्तुभ'--भाष्यकार श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराज ने 'ब्रह्मसूत्र'-भाष्य में अनेक स्थलों पर वेद-प्रामाण्य का निरूपण किया है। श्रीनिम्बार्क भगवान् के परवर्ती आचार्यप्रवरों तथा निम्बार्क-सिद्धान्त-सम्पोषक विशिष्टमूर्धन्य धीर-पुरुषों ने श्रीनिम्बार्क-माहात्म्य-वर्णन-प्रसंग में श्रीनिम्बार्क भगवान् को **'वेदवेदाङ्गपारगः'** इत्यादि दिव्य वचनों से आपके वेदज्ञता का प्रख्यापन किया है, जिसके कतिपय उद्धरण परम मननीय हैं--

वेदाध्ययनविख्यातः　परमार्थपरायणः ।
श्रीकृष्णप्रियदासश्च श्रीकृष्णे कृतमानसः ।।

(श्रीलघुस्तवराजस्तोत्र, श्लो० ३७)

श्रीनिम्बार्क भगवान् वेदों के अध्ययन में विख्यात हैं, परमार्थ

(भगवद्भावाप्ति)-में परायण हैं, श्रीकृष्ण भगवान् के प्रिय दास है और श्रीकृष्ण भगवान् में ही जिनका सदा मानस है (मन लगा रहता है)।

आम्नायनिः श्वासवरौ प्रभू वा काश्येशशिष्यत्वमजादिशिक्षौ।
देवर्षिशिष्याय नमो नमस्ते तस्मै नमस्ते श्रुतिरक्षकाय।।

(श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति, श्लोक ४३)

निःश्वास-श्रुति-समूह में श्रेष्ठ प्रतिपाद्य प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र और बलभद्र-इन दोनों ने सान्दीपन की शिष्यता ग्रहण की थी, वैसे ही श्रुतिरक्षक (वेद मर्यादा को पालने वाले) श्रीनारदजी के शिष्य आपको बारम्बार नमस्कार है।

वेदानुरागी वेदार्थो वेदवेदाङ्गपारगः।
वेदविधानसारज्ञो वेदान्तार्थप्रदर्शकः।।

(श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र, श्लोक११)

वेदों का अनुकरण करने वाले, वेदों के अर्थरूप वेदों और शिक्षाकल्प आदि वेदाङ्गों में पारङ्गत, वेदों के विधानों के सार को जानने वाले, सत्-शास्त्रों के अर्थों के प्रवर्तक श्रीनिम्बार्क भगवान् हैं।

राधाकृष्णयुगोपासी राधाकृष्णोपदेशकः।
वेदस्थो वेदसंज्ञाता वेदवेदाङ्गपारगः।।

(श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र, श्लोक१२)

श्रीराधाकृष्ण की युगल उपासना करने वाले, श्रीराधाकृष्ण का ही उपदेश करने वाले, वेदों में स्थित रहने वाले, वेदों के सम्यक् ज्ञाता, वेदों और वेदाङ्गों में पारङ्गत श्रीनिम्बार्क भगवान् हैं।

वेदेङ्गितरसास्वादी वेदान्तहार्दसारवित्।
निगमागमसारज्ञः सच्छास्त्रार्थप्रवर्तकः।।

(श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र, श्लोक३६)

श्रीनिम्बार्क भगवान् वेदों में निर्दिष्ट वस्तु के रस का आस्वादन करने वाले, वेदों के प्रेय पदार्थों के सार को जानने वाले, वेदों और तन्त्र शास्त्रों के सार को जानने वाले, सत्-शास्त्रों के अर्थ का संसार में आचरण सिखाने वाले हैं।

इसी प्रकार विविध रूप से निम्बार्क-सिद्धान्तपरक ग्रन्थों में

श्रीनिम्बार्क भगवान् की वेदविज्ञता, वेदमयता आदि का निरूपण हुआ है। वस्तुतः श्रीनिम्बार्क भगवान् द्वारा समुपदिष्ट वेद-प्रामाण्य का प्रतिपादन जिस रूप में दृग्गोचर हो रहा है, वह नितान्तरूपेण तत्त्वज्ञ मनीषीजनों द्वारा सर्वदा मननीय है।

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय में प्रेम का दिव्य स्वरूप

श्रीसुदर्शनचक्रावतार परमाद्याचार्य जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य ने एवं तत्परवर्ती पूर्वाचार्यों एवं सम्प्रदाय के रसिक मूर्द्धन्य महामनीषी सन्त कवीश्वरों रसिक महात्माओं ने प्रेम (अनुराग-पराभक्ति) का जो दिव्यतम स्वरूप प्रतिपादित किया है वह अतीव अनपुम श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादि निखिल शास्त्र-सम्मत तथा उत्कृष्टतम रसानुरक्ति द्योतक है। श्रीनिम्बार्क भगवान् ने अपने गुरुवर्य देवर्षि श्रीनारदजी ने **श्रीनारदभक्तिसूत्र** में **अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्, मूकास्वादनवत्, प्रकाशते क्वापि पात्रे, गुण रहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविछिन्नं सूक्ष्मतरमनुभव-रूपम्, तत्प्राव्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति, त्रिसत्यस्य भाक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी** इन सूत्रों से परम प्रेमा भक्ति का जो निरूपण किया, उसी प्रकार आपने भी अपने **वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी** के नवम श्लोक से प्रेमलक्षणा भक्ति का अद्भुत अनिर्वचनीय प्रतिपादन किया है--

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः साचोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा।।

(वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी, श्लो० ९)

परम कृपाधाम सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य कृपा दैन्यादि-लक्षण परिपूर्ण प्रपन्न भक्तों पर होती है और जिस अनिर्वचनीय कृपा से उन कृपार्णव श्रीप्रभु के श्रीयुगलचरणकमलों में रसमयी भक्ति प्रकट होती है वही फलरूपा एवं प्रेमलक्षणा उत्तमा भक्ति वर्णित की गई है, तथा यह प्रेमलक्षणा पराभक्ति अनन्य रसिक-भगवज्जनों के निर्मल सरस अन्तःकरण में स्फुरित होती है। नानाविधजन्मार्जित पुण्य-कर्मो के साधनों द्वारा प्राप्त की जाने

वाली साधनरूपा अपरा भक्ति भी निर्दिष्ट हुई है।

अतः प्रेमनक्षणा पराभक्ति रसिक साधक के अन्तर्मन में आविर्भूत होती है वही फलरूपा उत्तमा भक्ति है। इसी का निर्वचन आद्याचार्य प्रवर श्रीनिम्बार्क भगवान् ने उक्त **दशश्लोकी** में किया है आपने अपने **श्रीप्रातः स्तवराज** एवं **श्रीराधाष्टक** स्तोत्र में भी वृन्दावननित्यनिकुञ्जविहारी युगलकिशोर श्यामाश्याम भगवान् श्रीराधाकृष्ण के परस्पर प्रेम प्राखर्य का जो परम ललित सरस वर्णन किया है वस्तुतः वह अतीव अनुपम है।

प्रातर्नमामि वृषभानुसुतापदाब्जं नेत्रालिभिः परिणुतं व्रजसुन्दरीणाम्।
प्रेमातुरेण हरिणा सुविशारदेन श्रीमद्व्रजेशतनयेन सदाऽभिवन्द्यम्।।

(प्रातःस्तवराज श्लो. ८)

दुराराध्यमाराध्य कृष्णं वशे तं महाप्रेमपूरेण राधाऽमिधाऽभूः।
स्वयं नाम कीर्त्या हरौ प्रेम यच्छ प्रपन्नाय मे कृष्णरूपे समक्षम्।।
मुकुन्दस्त्वया प्रेमादोरेण बद्धः पतङ्गो यथा त्वामनुभ्राम्यमाणः।
उपक्रीडयन् हार्दमेवानुगच्छन् कृपा वर्तते कारयातो मयीष्टिम्।।

(श्रीराधाष्टक स्तोत्र श्लोक. ३, ४)

भृङ्गीरूपी व्रजाङ्गनाओं के नयनों द्वारा जिनका स्तवन होता है ऐसे चतुरशिरोमणि प्रेमसुधारसपूरित व्रजेश्वर श्रीहरि स्वयं जिन प्रेमाह्लादिनी सर्वेश्वरी श्रीराधा प्रिया की अभिवन्दना करते है एवंविध वृषभानुसुता श्रीराधा के उन दिव्य चरणारविन्दों को मैं प्रभात में अभिनमन करता हूँ।

वृन्दावनाधीश्वरी श्रीराधे ! उन परम दुराराध्य सर्वेश्वर रसब्रह्म श्रीकृष्ण को अपने महाप्रेम रससुधा से स्वाधीन करने से आप **राधा** रूप से अतिशय सुशोभित हैं। इसी राधा नाम के मङ्गल-संकीर्तन मात्र से प्रेम स्वरूप श्रीकृष्ण दर्शन का दुर्लभ लाभ प्रदान करती हैं। एवंविध परम उदारमयी कृपामयी मुझ प्रपन्न को भी दिव्य दर्शन देकर कृतकृत्य करें।

हे श्रीराधे ! आपके अनुपम प्रेमडोर में आबद्ध जगज्जन्मादिहेतु परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण आपका पतङ्गवत् अनुगमन करते हैं ऐसी निकुञ्जेश्वरी श्रीराधे ! आपकी अहैतुकी परम कृपा है, अतः ऐसे प्रेमाबद्ध भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा दर्शन कृपा से मुझे अभिप्रेत रसानुराग प्रदान करें।

इसी प्रकार श्रीनिम्बार्क भगवान् से परवर्ती पूर्वाचार्यचरणों के द्वारा

प्रणीत "श्रीकृष्णस्तवराज" के इन श्लोकों से भी प्रेम का उत्कृष्टतम वर्णन परम मननीय है,--

ब्रह्मरुद्रसुरराजस्वर्चितं पर्चितश्च रमयाङ्कमालया ।
चर्चितश्च नवगोपबालया प्रेमभक्तिरसशालिमालया ।।
त्वय्यणुत्वसुमत्वभागिनि सर्वशक्तिबलयोगशालिनि ।
भक्तिरस्तु मम निश्चला हरे ! कृष्ण केशव महत्तमाश्रये ।।

(श्रीकृष्णस्तवराज श्लोक. ५,७)

विधि-रुद्रेन्द्रादि सुरवृन्दों द्वारा समर्चित, दिव्य विशालमाला से सुशोभित श्रीलक्ष्मीजी द्वारा परिसेवित एवं प्रेमाभक्ति रस से सुस्निग्ध श्रीकृष्ण-रूपी सुकण्ठहार विभूषित नित्यनवनवायमान व्रजेश्वरी श्रीराधा से परम शोभायमान श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण के सतत समर्चनीय श्रीयुगल-चरणाम्बुजों की मैं शरण ग्रहण कर रहा हूँ।

सृष्टि रचयिता श्रीब्रह्मा संहारकर्ता श्रीशङ्करादि देवों के भी जो जनक अर्थात् उत्पादक हैं, शरणागतजनों के पापपुञ्जों के परिहार करने वाले परमानन्दस्वरूप सर्वेश्वर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण!! आप अणु स्वरूपात्मक जीवात्मा और महत्व परिणाम रूप आकाश प्रभृति पदार्थों में अन्तर्यामी स्वरूप में अवस्थित हैं। इसीलिये **अणोरणीयान् महतो महीयान्** इत्यादि ये श्रुति वचन आपको सूक्ष्मातिसूक्ष्म और महान् से भी परम महान् अभिव्यक्त करते हैं। और आप में ज्ञान, क्रिया, बल आदि सम्पूर्ण शक्ति वैभव सन्निविष्ट है। अतएव सभी उत्तमोत्तम देववृन्द आपका ही समाश्रय ग्रहण करते हैं। ऐसे सर्वाधार सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न आपके मंगल पदाम्बुजों में मेरी अविचल प्रगाढ प्रेमाभक्ति अवस्थित रहे यही एकमात्र स्पृहा है।

आद्याचार्य श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य के आचार्यपरम्परानुवर्ती पूर्वा-चार्यप्रवरों ने अपने हिन्दी-व्रज वाणी साहित्य में जो प्रेम का अनिर्वचनीय निरूपण किया है वह परम मननीय है। श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीश्रीभट्टाचार्यजी महाराज ने अपनी व्रजभाषा की आदि वाणी में प्रेम का परमोत्कृष्ट स्वरूप प्रतिपादित किया है वह यथार्थ में हृदय में सर्वदा समुपासनीय है--

सेऊँ श्रीवृन्दाविपिन बिलास ।

जहाँ जुगल मिलि मंदिर मूरति, करत निरंतर बास ।।
प्रेम-प्रवाह रसिकजन प्यारे, कबहुँ न छांडत पास ।
कहा कहौं भाग की श्रीभट, राधाकृष्ण रस चास ।।
(श्रीयुगलशतक-सिद्धान्त सुख, पद सं.१०)

मन बच क्रम दुर्गम सदा, ताहि ब चरन छुवात ।
राधा तेरे प्रेम की, कहि आवत नहिं बात ।।
(श्रीयुगलशतक-सिद्धान्त सुख, दोहा सं.२९)

राधे तेरे प्रेम की कापै कही आवै ।
तेरी-सी गोपाल की, तोपै बनि आवै ।
मन बच क्रम दुर्गम किसोर, ताहि चरन छुवावै ।
श्रीभट मति वृषभानुजे, परताप जवावै ।।
(श्रीयुगलशतक-सिद्धान्त सुख, पद सं. २९)

बसौ मेरे नैंनन में दोउ चंद ।
गौर वरन वृषभानुनंदिनी, स्याम बरन नंदनंद ।।
गोलक रहे लुभाय रूप में, निरषत आनंद कंद ।
जै श्रीभट प्रेम रस बंधन, क्यों छूटै दृढ फंद ।।
(श्रीयुगलशतक-सहज सुख, पद सं. ५३)

प्रेम कला सुर सहित पिय, कहत प्रिया सौं बैन ।
हार उदार निहार उर, चहत चतुर चित लैन ।।
(श्रीयुगलशतक-सहज सुख, दोहा सं. ५५)

परस्पर निरषि थकित भये नैन ।
प्रेम कला भरि सुर राधे सौं, बोल अमृत बैन ।।
हार उदार निहार तिहारौ, राधे यह मन लैन ।
श्रीभट लटक जानि हितकारिनि, भई स्याम सुष दैन ।।
(श्रीयुगलशतक-सहज सुख, पद सं. ५५)

प्रीति रीति रस बस भये, जदपि मनोहर मैन ।
तदपि रटै निज मुष सदा, श्रीराधे राधे बैन ।।
(श्रीयुगलशतक-सहज सुख, दोहा सं. ६८)

मोहन राधे राधे बैन बोलैं।
प्रीति रीति रस बस नागरि, हरि लियौ प्रेम के मोलैं।।
हास विलास रास राधे संग, सील आपनौ तोलैं।
श्रीभट जदपि मदन मोहन तउ, हारि हारि सिर डोलैं।।

(श्रीयुगलशतक-सहज सुख, पद सं. ६८)

प्यारी प्रीतम परस्पर, रच्यौ अंग अनुराग।
अधर सुधा रस देत हैं, लेत स्याम बड़भाग।।

(श्रीयुगलशतक-सुरत सुख, दोहा सं. ७७)

श्रीवृन्दाविपिनेश्वरी, पद-रस सिन्धु विहारी।
रच्यौ परस्पर प्रेम छेम, बाढयौ अति भारी।।
अरप्यौ पिय हिय पाय कैं, निज अधर सुधारी।
श्रीभट बड़भागी गोपाल, पीयौ रुचिकारी।।

(श्रीयगुलशतक-सुरत सुख, पद सं. ७७)

श्रीश्रीभट्टाचार्यजी महाराज के परम कृपापात्र पट्टशिष्य जगद्गुरु निम्बार्काचार्य रसिकराजराजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने अपने **महावाणी** वृहद् वाणी ग्रन्थ में प्रेम परक अनेक स्थलों पर जिस अनिर्वचनीय विधा से मञ्जुल विवेचन किया है, परम द्रष्टव्य है,--

राधाकृष्णौ महारम्यौ, रंगदेव्यादिसेवितौ।
परमौ नियमप्रेम्णौ, किशोरौ, रसिककेश्वरौ।।

(महावाणी, सिद्धान्त सुख, श्लोक.१)

जयति प्रेमा प्रेम सीमा कोकिला कल बैनिये।
पराभक्ति प्रदायिनी करि कृपा करुणानिधि प्रिये।।

(महावाणी, सेवा सुख, पद सं. पंक्ति सं.९)

चित्ताकर्षित चंचला, बर्षनि-घन-रस-प्रेम।
जयति नित्यनागरि निपुन रसिक मनि तन-हेम।।

(महावाणी, सुरत सुख, दोहा सं. १)

जयति नवनित्य नागरि निपुन राधिके, रसिक-सिरमौरि मनमोहनी जू।
चारुछवि चंचला चित्त आकर्षनी, बर्षनी प्रेम-घन मोहनी जू।।
सहज सिद्धा प्रसिद्धा प्रकासिका प्रभा, दिव्य बर कनक-तन मोहनी जू।

स्वामिनी सुखद श्रीहरिप्रिया बिसद जस पान की परम धन मोहनी जू ।।

(महावाणी, सुरत सुख, पद सं. १)

जलतंरग ज्यौं नैंन में, तारे रहे समोय।
प्रेम पयोधि परे दोउ, पल न्यारे नहिं होय ।।

(महावाणी, सुरत सुख, दोहा सं. २४)

प्रेम पयोधि परे दोउ प्यारे निकसत, नाहिंन कबहुँ रैन दिन।
जलतरंग नैंननि तारे ज्यौं, न्यारे होत न जतन करौ किन ।।
मिले हैं भाँवते भाग सुहाग भरे, अनुराग छवीले छिन-छिन।
श्रीहरिप्रिया लगे लग दोउ निमिष, न रहें ये इन ये इन विन ।।

(महावाणी, सुरत सुख, पद सं. २४)

पूरन प्रेम प्रकास कें, परी पयोधनि पूरि।
जै श्रीराधा रसभरी, स्याम सजीवनि मूरि ।।

(महावाणी, सहज सुख, दोहा सं. ३२)

रसिक सुन्दर साँवरे की, प्रान जीवन जरी।
गौर अंग अनंग अद्भुत, सुरति रंगनि ररी ।।
सहज संग अभंग जोरी, सुभग साँचे ढरी।
परम प्रेम प्रकास पूरन, पर पयोधिनि परी ।।
हितू श्रीहरिप्रिया निरखति, निकट निज सहचरी ।।

(श्रीमहावणी, सहज सुख, पद सं. ३२)

प्यारी जू प्रानन की प्रतिपाल।
जिनकी दया सुदृष्टि वृष्टि करि, पल में होत निहाल ।।
तन मन परम पुष्ट पन पावै, लावै रंग रसाल।
श्रीहरिप्रिया प्रेम सर बाढे, काढे दुख ततकाल ।।

(श्रीमहावाणी, सहज सुख, पद सं. ३९)

परे रहैं नित प्रेम निधि, भई विधि औरहिं देह।
सुधि नहिं साँझ-सबेर कछु, अकथ कथा है नेह ।।

(श्रीमहावाणी, सहज सुख, दोहा सं. ४९)

कछु अकथ कथा है नेहकी।
भोर साँझ अरु साँझ भोर कछु, सुधि नहिं आवत गेहकी।।
परे रहैं नित प्रेमसिंन्धु में, भइ औरै दुति देहकी।
श्रीहरिप्रिया निरखि नैननि में, लगिय रहत झरि मेहकी।।
(श्रीमहावाणी, सहज सुख, पद सं. ४९)

प्रीतमा प्रवीना प्रेयसी परात्परा।
श्रिया हरिप्रिया प्रान जीवनि रस रेली।।
(श्रीमहावाणी, सहज सुख, पद सं.७८, पंक्ति सं. ७,८)

इसी प्रकार जगद्गुरु निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर आचार्यवर्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने अपने "श्रीपरशुराम सागर" वृहद्-ग्रन्थ में दोहावली भाग में प्रेम का जो प्रचुर वर्णन किया है, उसके कतिपय उद्धरण यहाँ प्रस्तुत है,--

बंध्यो प्रेम की डोर हरि, 'परशुराम' प्रभु आप।
साधु-साधु मुखि उच्चरै, करै भगत को जाप।।
जन्म मरण ये 'परशुराँ', हरि विमुखन के होय।
हरि रस पीवे प्रेम सों, जनमें मरे न सोय।।
प्रेमरस अंतरि बस्यो, प्राण रह्यो बिरमाइ।
लागी प्रीति अपार सों, 'परसा' तजी न जाइ।।
'परसा' संगति साध की, कीयां दोष दुरांहि।
पीजै अमृत प्रेम रस, रहिये हरि सुख मांही।।
हरि सनमुख सिरनाइये, जपिये हरि को जाप।
हरि उर तैं न बिसारिये, 'परसा' प्रेम मिलाप।।
जा सलिता सुख सिंधु सों, 'परसा' प्रीति करांहि।
फेर कदै न बीछड़ै, जाय मिली जे मांहि।।
हरि रस पीवै प्रीति करि, सुनि संतन की साखि।
'परसा' अपणैं जानि जन, सरणि लिये हरि राखि।।
प्रेम कथा थोड़ा घरां, बहुतां भरम विकार।
'परसा' प्रीतम प्रेम बिन, बूड़ै काली धार।।
'परसा' हरि भगति बिन, करिये सोई हराम।

नर औतार सुफल तबै, भजै प्रेम सों स्याम।।
नैणां कछू न सूझई, अंतरि सदा अंधार।
'परसा' प्रेम प्रकास बिन, पोषै विषै विकार।।
सर्वस हरि कौं सौंपिये, हरि न मिलै क्यौं आय।
'परसा' तन मन प्राण दै, पीजै प्रेम अघाय।।
हरि अमृत रस प्रेम सौं, पीवै जो इकतार।
'परसा' चढ़ै न ऊतरे, लागी रहै खुमार।।
(श्रीपरशुरामसागर-दोहावली, दोहा सं. ३६,९४,१११,१२०,
१३२,१३३,१४१,१५७,१५८,१६०,२१४, १३४)

इसी आचार्य परम्परा में जगद्‌गुरु निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराज ने अपने ''श्रीगीतामृत गङ्गा'' व्रजवाणी में प्रेम के दिव्य स्वरूप का जो असमोर्ध्व वर्णन किया है वह वस्तुतः अतीव विलक्षण है। उक्त ग्रन्थ के कतिपय मञ्जुल पद्यों के अनुशीलन से स्वतः प्रेम प्राखर्य का बोध हो सकेगा।

प्रेम कौ रूप इहे कहावै।
प्रीतम के सुख-सुख अपनौ दुख, वा होत न नैक लखावै।।
गुरुजन वरजन तरजन ज्यौं ज्यौं, त्यौं त्यौं रति नित नित अधिकावै।
दुरजन घर घर करत विनिन्दन, चन्दन सम शीतल सोउ भावै।।
पलक ओट हू कोटि बरस सम, छिनक जोट सुख कोटि जनावै।
वृन्दावन प्रभु नेही की गति, दे ही त्यागी धरै सोई पावै।।
(श्रीगीतामृत गङ्गा, घाट ४, पद ३५)

वसी तुव मूरति नैंननि मेरैं।
कैसैं चैंन परैं प्यारी अब, भली भाँति बिनु हेरैं।।
तनक किर किरी खीकति सोतो, नख-शिख भूषन तेरैं।
वृन्दावन प्रभु नेह अंजन ते, खरकति और घनेरैं।।
(श्रीगीतामृत गङ्गा, घाट ४, पद ४८)

जब जब लाल निहारौं तोहि।
तुम हौं वे हैं हौं इह इह कछु, नांहि रहत सुधि मोहि।।
तन, मन, श्रवन, रसन इन्द्रिन गति, रहसि जु दृगनि समोइ।

वृन्दावन प्रभु प्रेम तरंगनि, कहँ जो कहन की होइ।।

(श्रीगीतामृत गङ्गा, घाट ४, पद ५१)

तुम बिन दृगन सुहात न और।
नींद रैन दिन बसी रहत ही, बाहू को नहीं ठौर।।
अब कैसें फीको जग भावत चाखे, रूप सलौनै कौर।
वृन्दावन प्रभु सुरझत नाहीं, परे प्रेम के झोर।।

(श्रीगीतामृत गङ्गा, घाट ४, पद ५७)

इसी परम्परा में निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्य जी महाराज ने अपने परम रसमय "गोविन्द वाणी" ग्रन्थ में प्रेम रूपा पराभक्ति का जिस उत्तम विधा विवेचन किया है जो नितान्तरूपेण अत्यन्त चित्ताकर्षक है,--

जग में हरि के जन बड़भागी।
निसिदिन भजन भावना बितवत, चरन कँवल अनुरागी।।
प्रेम मगन गावत माधौ गुन, हरि धन भये बिभागी।
धारत तिलक माल तुलसी की, बुधि सो तैं द्रुत जागी।।
दरसन पावन होयैं पतित जन, जिनकी मति हरि पागी।
गोविन्दसरन बिस्व उपकारी, रसना हरि रट लागी।।

(श्रीगोविन्द वाणी, पद सं. १०४)

नेति नेति कहत निगम, एक प्रेम ही तैं सुगम।
गोविन्दसरन प्रभुता तजि, भये अति आधीनैं।।

(श्रीगोविन्द वाणी, पद सं. १०५ पंक्ति १०)

नीके बिहारी-बिहारिनि प्यारे।
कुंजमहल राजत रँगभीनै, सखि नैंननि के तारे।।
अद्भुत गौर-साँवरे दम्पति, पलहू होत न न्यारे।
मन बसी रसी सोहनी मूरति, बिसरत क्यौब बिसारे।।
रूप सुधा रस पियै परसपर, रहत प्रेम मतवारे।
गोबिंदसरन जिय कल न परत है, जब ते नैंन निहारे।।

(श्रीगोविन्द वाणी, पद सं. १०६)

प्रस्तुत प्रेमोत्कर्ष का लोकोत्तर रसपूर्ण भाव अभिव्यक्त कर रहे हैं

निम्बार्क सिद्धान्त सम्पोषक भक्तप्रवर श्रीनागरीदासजी। जिन्होंने पुष्कर-क्षेत्रान्तर्गत किशनगढ राज्य के सम्पूर्ण विपुल वैभव को परित्याग कर श्रीवृन्दावन के मञ्जुल निकुञ्ज वीथियों में कलिन्दजा-श्रीयमुना के अति सुरमणीय पावन पुलिन पर अवस्थित होकर वृन्दावननवनिकुञ्जविहारी युगलकिशोर श्यामाश्याम रसपरब्रह्म सर्वेश्वर श्रीराधाकृष्ण के परमप्रेमाभक्ति रससुधा अगाधसिन्धु में प्रतिपल निमज्जित समुच्छलित हो जिस परमानन्द-रससार का दिव्यतम अनुभव किया है, उसी को अपनी ललित कलित सरस पद्यमय व्रजवाणी में आपूरित किया है और जिसे श्रीयुगलरससरसज्ञ रसिक भगवज्जनों द्वारा अपने अतिशय कमनीय कलकण्ठ द्वारा निकुञ्ज रस का अनुपम पान किया जाता है।

विमल जुन्हइया जगमगी, रही बैंन धुनि छाय।
प्रेम-नदी तिय रगमगी, वृन्दा-कानन आय।।
रुकी न कापैं तिय गईं, छाँडि काज गृ चाह।
मिल्यो श्याम रस सिन्धु मन, सरिता प्रेम-प्रवाह।।

(श्रीनागरीदास वाणी, रासरसलता, दोहा ५,६)

क्यों नहिं करै प्रेम अभिलाष।
या बिन मिलै न नन्ददुलारो, परम भागवत साख।।
प्रेम स्वाद अरु स्वाद यौं, ज्यों अकडोडी दाख।
नागरीदास हिये में ऐसें, मन, वच, क्रम करि राख।।

(श्रीनागरीदास वाणी, छूटक, पद सं. १४)

दीजै प्रेम प्रेमनिधि श्याम।
गदगद कंठ नैंन जलधारा, गाऊँ गुन अभिराम।।
यज्ञा छकि सौं सब छूटि जाय ज्यौं, और सबै कलमष कैं काम।
नागरिया तुव रंगरंग्यो फिरै, इहिं वृन्दावनधाम।।

(श्रीनागरीदास वाणी, छूटक, पद सं. १२४)

देहु प्रेम हरि परम उदार।
बिना प्रेम जे भक्ति है नौधा, भई जात व्यौहार।।
प्रेमहि कैं बस होत श्याम तुम, प्रेमहिं के रिझवार।
प्रेम हाथ अपनै नहिं नागर, ताको कहा विचार।।

(श्रीनागरीदास वाणी, छूटक, पद सं. १५२)

वस्तुतः प्रेम का स्वरूप ही अनिर्वचनीय है, उसका प्रख्यापन वाणी किंवा लेखनी का माध्यम नही। यह तो यथार्थ में श्रीसर्वेश्वर कृपैकलभ्य है। इसी दिव्य भगवत्प्रेम का सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य एवं तत्परम्परावर्ती पूर्वाचार्य एवं रसिक परम भागवत महापुरुषों ने विविध रूप से निरूपण किया है जो सर्वदा रसिक भगवज्जनों को अपने निर्मल अन्तःकरण में अवधारणीय है।

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय में प्रतिपादित व्रत-पर्वोत्सव

हमारे श्रुति-स्मृति-पुराण-तन्त्रादि संस्कृत वाङ्मय समग्र शास्त्रों एवं वाणी ग्रन्थों में वर्ष भर किंवा विशिष्ट अवसरों पर आने वाले व्रत, पर्व, उत्सव, महोत्सवों का जो सुन्दरतम विवेचन पूर्ण वर्णन मिलता है जो हमारी अनादि वैदिक सनातन संस्कृति का पावन स्वरूप है। व्रत, पर्व और उत्सवों से अतुलनीय पुण्यों की प्राप्ति एवं असीम परमानन्दानुभूति होती है तथा साधक भगवज्जन भगवद्भावापत्ति मोक्ष की उपलब्धि करता है जो मानव जीवन का सर्वान्तिम लक्ष्य है। संस्कृत वाङ्मय शास्त्रों में व्रतपर्वोत्सवों का इतना विस्तृत परिवर्णन मिलता है जिसे धीरजन यावज्जीवन भी उसके पर्यवसान तक नहीं पहुँच पाते। वस्तुतः उनका लोकोत्तर दिव्य महात्म्य है। उनकी अनिर्वचनीय महिमा प्रख्यापित है। केवल श्रीनारदपाञ्चरात्र का ही मनन करें जिसमें एक लक्ष से भी अधिक संस्कृत के छन्द समाहित हैं। इसी प्रकार संमोहन तन्त्र, बृहद् गोतमीय तन्त्र, वेद, पुराणादि समस्त धर्मग्रन्थों में व्रतोत्सवपर्वों की अपरिमित विवेचना वर्णित है।

इसी प्रकार श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के प्रवर्तक सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यश्री ने एवं आपकी परम्परानुवर्ती पूर्वाचार्यों ने सम्प्रदाय के मूर्द्धन्य शीर्षस्थ सन्तों मनीषीप्रवरों एवं परम भागवत रसिकवरेण्यों महापुरुषों ने उत्सव-महोत्सवों का विविध व्रतों का अनेकानेक पर्वों-महापर्वों का अपने संस्कृत साहित्य, व्रज साहित्य, हिन्दी साहित्य किंवा प्रान्तीय भाषा में जिस विधा से विश्लेषण किया है वह वस्तुतः

नितान्तया उत्तम पुरुषों द्वारा हृदय में अवधारणीय है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में यहाँ श्रीनिम्बार्क सिद्धान्तानुसार कतिपय उद्धरणों के साथ संक्षेपतः विवेचन प्रस्तुत है जिसे मेधावी श्रद्धालु भगवज्जन अवश्य ही अनुशीलन कर व्रतपर्वोत्सवों के उच्चतम माहात्म्य से अवगत होकर परम लाभान्वित होंगे।

श्रीनिम्बार्क भगवान् ने श्रीभगवज्जयन्तियाँ, आचार्य पाटोत्सव, एकादशी व्रत आदि में कपालवेध सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यथा-

उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे ।
निम्बार्को भगववानेष वाञ्छितार्थप्रदायकः ।।

(भविष्य पुराण)

चतुर्विध वेधों में स्पर्श, सङ्ग, शल्य और वेध इनमें प्रथम स्पर्श-वेध को ही श्रीनिम्बार्क भगवान् ने मान्यता प्रदान की है आपके सिद्धान्त में शास्त्र सम्मत स्पर्श वेध ही प्रमुख है। आपने समस्त श्रीभगवज्जयन्तियाँ एवं सभी एकादशी व्रतों में तिथि का उदयकाल अर्द्धरात्र अर्थात् ४५ घटी के ऊपर ही स्वीकार किया है। आपश्री के सिद्धान्त में पलमात्र भी यदि अर्द्धरात्र ४५ घटी उपरान्त हो तो एकादशी का किया जाने वाला व्रत एकादशी में न करके द्वादशी में ही किया जाना चाहिये। यथा--

अर्द्धरात्रमतिक्रम्य दशमी दृश्यते यदि ।
तदा ह्येकादशीं त्यक्त्वा द्वादशीं समुपोषयेत् ।।

(कूर्म पुराण)

अर्द्धरात्र के अतिक्रमण अर्थात् उसके उल्लङ्घन अनन्तर ४५ घटी पश्चात् यदि दशमी तिथि आजाय तो ऐसी अवस्था में एकादशी के द्वितीय दिवस में व्रत करे एकादशी तिथि के दिन व्रत न करे।

इसका निष्कर्ष यह है कि ४५ घटी के उपरान्त दशमी आजावे तो अग्रिम तिथि एकादशी से उसका स्पर्श हो जाता है अतएव उसे स्पशविध नाम से निर्दिष्ट किया है। एकादशी के दो भेद हैं विद्धा एवं शुद्धा। इनमें भी पूर्व विद्धा तथा परविद्धा रूप व्यवहृत है। पूर्व विद्धा तिथि को एकादशी व्रत एकादशी को वर्जित है। परन्तु परविद्धा अर्थात् आगामी द्वादशी विद्धा एकादशी शुद्धा है अतः परविद्धा एकादशी व्रत करने का शास्त्रीय विधान है। **पूर्वविद्धातिथिस्त्यागोवैष्णवस्य हि लक्षणम्** श्रीनारदपञ्चरात्र के

वचनानुसार उक्त विधान सुस्पष्ट है। एवंविध श्रीभगवज्जयन्तियों एवं आचार्य-पाटोत्सवों में यही सिद्धान्त मान्य है।

एकादशी शुद्ध है और द्वादशी महाद्वादशी के रूप में यदि आजावे तो ऐसी अवस्था में एकादशी व्रत एवं महाद्वादशी व्रत द्विदिवसीय व्रत करें। दो दिन व्रत करने में समर्थ न हो तो ऐसीं स्थिति में एकादशी व्रत का त्याग किया जा सकता है किन्तु महाद्वादशी व्रत को अवश्य ही करे, इसका त्याग कदापि न हो, यही शास्त्रीय विधान है, यथा--

एकादशी भवेत्पूर्णा परतो द्वादशी भवेत्।
तदा ह्येकादशीं त्यक्त्वा द्वादशीं समुपोषयेत्।।
पर्वाच्युत जयावृद्धौ ईश दुर्गान्तकक्षये।
शुद्धाप्येकादशी त्याज्या द्वादश्यां समुपोषणम्।।

(ब्रह्मवैवर्त पुराण)

यदि एकादशी पूर्ण है शुद्ध है पूर्व तिथि से विद्धा नहीं है किन्तु यदि महाद्वादशी योग आजाय तब शुद्ध एकादशी को छोड़कर महाद्वादशी में ही व्रत करें।

पर्व (पूर्णिमा-अमावस्या) अच्युत (द्वादशी) जया (त्रयोदशी) इन तिथियों की जब वृद्धि हो जाय तथा ईश (अष्टमी) दुर्गा (नवमी) अन्तक (दशमी) इनमें से किसी भी तिथि का क्षय होने पर शुद्धा-एकादशी के व्रत का त्याग कर द्वादशी के व्रत का पालन करे।

अष्टविध महाद्वादशी का शास्त्रों में एवं प्रकार वर्णन उपदिष्ट है-- जया, विजया, जयन्ती, पापनाशिनी, उन्मीलिनी, वंजुलिनी, त्रिस्पृशा, पक्षवर्धिनी। द्वादश मास में किसी भी मास की शुक्ल पक्षीय द्वादशी पुनर्वसु नक्षत्र समन्वित होने पर जया रोहिणी नक्षत्र पर जयन्ती पुष्य नक्षत्र के योग से पापनाशिनी एवं श्रवण नक्षत्र यदि हो तब शुक्ल या कृष्ण पक्ष की महाद्वादशी विजया कहाती है। ऐसे ही एकादशी पूर्ण हो तथा अग्रिम दिवस भी घटियों में एकादशी यदि हो तब वह उन्मीलिनी महाद्वादशी कही जाती है, इसी प्रकार एकादशी एवं द्वादशी पूर्ण हो और यदि त्रयोदशी भी कुछ अंशों में शेष हो उसे वंजुलिनी महाद्वादशी कहते हैं। द्वादशी के क्षय होने पर रात्रि अन्त में त्रयोदशी यदि हो, वह त्रिस्पृशा महाद्वादशी प्रसिद्ध है। ऐसे

ही अमावस्या एवं पूर्णिमा की वृद्धि हो जाय उसे पक्षवर्धिनी महाद्वादशी कहा जाता है। इन उपर्युक्त विवरणानुसार इनके योग आने पर शुद्ध एकादशी का व्रत महाद्वादशी में व्रत करें। यही शास्त्रीय विवेचन श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यश्री द्वारा प्रतिपादित है।

पूर्वोक्त कपालवेध सिद्धान्त विषयक जिसे श्रीनिम्बार्क भगवान् ने प्रतिपादित किया तत्परक कतिपय अवधेय वचन अवधारणीय है,--

यथा--अष्टाध्यायी सूत्रकार महर्षि पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी के **अनद्यतने लुट्** इस सूत्र में गत रात्रि के द्वादश वादन काल से आगामी रात्रि के द्वादश वादन काल को अद्यतन काल (वर्तमान काल) अर्थात् आज का दिवस निर्दिष्ट किया है। इससे पूर्व एवं पर काल को अनद्यतन बताया है।

रात्रि द्वादश वादनानन्तर किसी के अवसान पर उसे द्वितीय दिवस माना है, ऐसा शास्त्रानुसार व्यवहार जगत् में यही अभिमत है।

ईस्वी सन् रात्रि के अर्द्धभाग द्वादश वादन पश्चात् ही पर दिनाङ्क मानते हैं।

अतः कपालवेध सिद्धान्त के विविध दृष्टियों से नितान्तरूपेण परम ग्राह्य है। एतत्परक पुराणादि शास्त्रों के बहुविध वचन हैं। यहाँ विस्तारभय से अत्यन्त संक्षेप में सार स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। श्रीभगवज्जयन्तियों, आचार्य-पाटोत्सवादि में प्रस्तुत कपालवेध सिद्धान्त ही अभीष्ट है।

उत्सव वर्णन--

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य सिद्धान्तानुसार विद्वन्मूर्द्धन्य पं० श्रीशुकसुधी संकलित ''श्रीस्वधर्मामृतसिन्धु'' ग्रन्थ से उद्धृत शास्त्रीय विधि प्रतिपादित वर्षभर के उत्सवों का यहाँ संक्षेप में दिग्दर्शन मात्र है,--यथा--

श्रीहंसं सनत्कुमारं च देवर्षिन्तदनुव्रतम् ।
श्रीनिम्बार्कं नमस्कृत्य मासकृत्यं प्रतन्यते ।।

श्रीहंस भगवान्, महर्षिवर्य श्रीसनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार, देवर्षिप्रवर श्रीनारदजी, श्रीनिम्बार्क भगवान् को प्रणति समर्पण करके मासकृत्य अर्थात् प्रतिमास के द्वादश मासीय (एक वर्षीय) विभिन्न उत्सव-महोत्सवों का निरूपण किया जा रहा है।

चैत्रमासीयोत्सव--

चैत्र मास के प्रारम्भ में प्रतिपदा को किंवा चैत्र कृष्ण में किसी भी तिथि को दोलोत्सव का शास्त्रीय विधान है। इसका सुन्दर विवरण मननीय है--**दोलासंस्थं तु ये कृष्णं पश्यन्ति मधुमाधवे, प्रवृत्ते मधुमासे तु प्रतिपद्युदिते रवौ,** इस दोलोत्सव में श्रीवृन्दावननिकुञ्जविहारी युगलकिशोर भगवान् श्रीराधामाधव को सुरभित विविध कुसुममाल्य सुशोभित मणि-मुक्ता जटित कनकमय परम मनोज्ञ दोल (अर्थात् सुसज्जित झूला) पर विराजित करके स्वर्ण छत्र-चँवर-मोर्छल-हेम मण्डित छड़ी आदि नानाविध उपकरणों के साथ झुलावें, अबीर-गुलाल-पुष्प-गुच्छों एवं सुगन्धित रंगभरी पिचकारी फुवारों से श्रीयुगल प्रियालाल को जय जय ध्वनि पूर्वक सरावोर करते हुए इस मङ्गल वासन्ती दोलोत्सव का अनुपम रसास्वादन करें। मृदङ्ग-वीणा-मंजीरादि मङ्गल मधुर वाद्यों के साथ लयपूर्वक कलकण्ठ से अपने आराध्य के इस दोलोत्सव का कमनीय वर्णन कर परमानन्द का अनुभव ही जीवन की सार्थकता है।

दोलोत्सव सम्पन्नानन्तर चैत्र कृष्णपक्ष के ही प्रपादान अर्थात् पिपासु को जलदान का बड़ा महत्व है, इसी आशय का श्रीनिम्बार्क सिद्धान्त पथानुयायी पं० श्रीशुकसुधी संग्रहीत स्वधर्मामृतसिन्धु ग्रन्थ में भविष्य पुराण का यह वचन उद्धृत है--

अतीते फाल्गुने मासि प्राप्ते चैत्रमहोत्सवे।
पुण्येऽह्नि विप्रकथिते प्रपादानं समारभेत्॥

फाल्गुन मास के पूर्ण होने पर और चैत्र मासीय महोत्सव के पवित्र अवसर पर शास्त्रवेत्ता उत्तमश्लोक धीर पुरुषों ने यह निर्णय दिया है कि इस अवसर पर प्रपादान अर्थात् प्याऊ द्वारा आगन्तुकों की जल से सेवा करें, जिसकी महिमा शास्त्रों में सम्यक् रूप से परिवर्णित हुई है।

चैत्र मास के शुक्ल पक्ष में श्रीराम प्राकट्योत्सव का (श्रीराम नवमी महोत्सव का) सुन्दर वर्णन श्रीनिम्बार्क सिद्धान्त में एवं प्रकार प्रदर्शित है-

चैत्रमासे नवम्यां तु जातो रामः स्वयं हरिः।
पुनर्वस्वृक्षसंयुक्ता सा तिथिः सर्वकामदा॥

(अगस्त्यसंहिता)

चैत्रशुक्लनवम्यां तु जातो रामः स्वयं हरिः ।
पुनर्वस्वृक्षयुक्तायां मध्याह्ने कौशले भृगौ ।।
(महाभारत-वनपर्व)

चैत्र सुदी नवमी तिथि को सर्वेश्वर स्वयं भगवान् श्रीहरि ही श्रीराम रूप में अवतरित हुए, अतएव पुनर्वसु नक्षत्र युक्त यह तिथि समस्त अभिलषित पवित्र मनोरथों को पूर्ण करने वाली है।

चैत्र शुक्ल नवमी भृगुवार को अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक श्रीहरि ही भगवान् श्रीराम के दिव्य स्वरूप से पुनर्वसु नक्षत्र परिपूर्ण मध्याह्न काल के पावन अवसर पर कौशल क्षेत्र में अवतीर्ण हुए।

भगवान् श्रीराम का प्राकट्य काल मध्याह्न का है। श्रीराम जयन्ती महोत्सव पर भगवान् का पञ्चामृताभिषेक, पीतपोशाक धारण, पुष्पहार, दुर्वांकुर, तुलसीदल समर्पण, पञ्जीरी, विशेष मधुर पदार्थ समर्पण, साष्टाङ्ग प्रणति, पञ्चामृत-प्रसाद वितरण यथाविधि व्रत पालन आदि-आदि विधि पूर्वक इस महोत्सव को सोल्लास सम्पन्न करें।

पुष्पदोलोत्सव--

चैत्र शुक्ल एकादशी तिथि को निम्बार्क सिद्धान्तानुसार सुगन्धित पुष्पों द्वारा सुसज्जित (झूला) में युगलकिशोर श्यामाश्याम भगवान् श्रीराधा-कृष्ण को विराजित करके भावपूर्वक झुलावें, इसी आशय के ये शास्त्रीय वचन अवधेय हैं,--

चैत्रमासस्य शुक्लायामेकादश्यां तु वैष्णवैः ।
आन्दोलनीयो देवेशः सलक्ष्मीको महोत्सवैः ।।
सर्वपुण्यफलावाप्ति र्निमेषैकेन जायते ।
दोलासंस्थं तु ये कृष्णं पश्यन्ति मधुमाधवे ।।

चैत्र मास की शुक्लपक्षीय एकादशी को सलक्ष्मी अर्थात् श्रीराधा-प्रियाजी सहित सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को सुन्दर महोत्सव पूर्वक झुलावें। यह वैष्णव भगवदुपासक भक्तों का परम कर्तव्य है।

चैत्र मास की पूर्व कथित तिथि के दिन दोला (झूला) पर विराजमान भगवान् श्रीराधाकृष्ण के जो मनोहर दर्शन करते हैं, उन्हें क्षणमात्र में अनन्त पुण्यों की दिव्य फल प्राप्ति होती है।

वैशाखमासीय विविधोत्सव--

वैशाख मास की बड़ी महिमा है। इस मास को माधव मास भी कहा जाता है। वैशाख मास में अनेक उत्सव भगवज्जयन्तियाँ एवं पुनीत पर्व आते हैं। वैशाख के प्रारम्भ में चैत्र पूर्णिमा से वैशाख पूर्णिमा पर्यन्त विधि पूर्वक किसी पवित्र तीर्थ स्थान पर किंवा पवित्र नदी, सरोवर या कूप पर ही नियमित रूप से सूर्योदय से पूर्व नक्षत्र मण्डल की साक्षी में स्नान, आचमन, मार्जन करना अत्यन्त पुण्यप्रद है। वैशाख के पावन मास में जलदान, अन्नदान, वस्त्रदान, छत्रदान, घटदान, व्यंजनादि आदि का विशेष महत्व है। इसी मास में अक्षय तृतीया महोत्सव आता है, यह युगादि तिथि है यह परम पर्व के रूप में मान्य है। भगवान् श्रीपरशुराम जयन्ती का यह मङ्गल दिवस है। इस दिन देव मन्दिरों में श्रीप्रभु के शीतलोपचार, शीतल भोग, शीतल मधुर जल, सुगन्धित पुष्पार्पण, शीतल फल समर्पण, सतुवा समर्पण, व्यंजन सेवा, खश-खश केशर-केवड़ा-कर्पूर मिश्रित शीतल चन्दन श्रीहरि के सर्वाङ्ग में कलाकृति पूर्ण चर्चित हो। श्रीप्रभु के मुकुट-कुण्डल, कङ्कण, हार प्रभृति सभी चन्दन ही के उपर्युक्त विधि से समस्त आभूषण विविध अलङ्कार समर्पित करके शीतल सुरभित सुन्दर मधुर पदार्थ मधुर शीतल फल सितायुत दधि-दुग्ध आदि पेय द्रव्य निवेदित करें। भगवान् के सन्मुख हरित नव नव तरु पल्लवों से मण्डप सिंहासन को सजावे, फुवारों की मञ्जुल फुवार से समस्त मन्दिर परिसर को सुवासित कर महोत्सव मनावें। वैशाख शुक्ल पक्ष में ही अक्षय तृतीया के अनन्तर वैशाख शुक्ल चतुर्दशी को श्रीनृसिंह जयन्ती महोत्सव को बड़े ही उत्साह-उल्लास पूर्वक सम्पन्न करना एवं इसी दिन व्रत पालन का शास्त्रीय विधान भी है। मन्दिर में श्रीभगवद्विग्रह स्वरूप का पञ्चामृताभिषेक मधुर पदार्थ निवेदन करके मंगल बधाई पद गाान हो। भगवान् श्रीनृसिंह-भक्त प्रह्लाद के लीलाभिनय भी किये जाने की प्राचीन परम्परा है। उपर्युक्त सभी महोत्सवों में मङ्गल मधुर सरस वाद्यों के साथ कलित कण्ठ से इन महोत्सवों का सुभग वर्णन अति आह्लादकारी होता है। संक्षेपतः वैशाख मासीय उत्सवों के ये शास्त्रीय वचन मननीय है--

वैशाखं सकलं मासं मेषसङ्क्रमणे रवौ ।

प्रातः सनियमः स्नास्ये प्रीयतां मधुसूदनः ।।

(विष्णुस्मृति एवं पद्मपुराण)

वैशाखे विधिना स्नानं दानं नद्यादिके बहिः ।
हविष्यं ब्रह्मचर्यं च भूशय्यानियमस्थितिः ।।
व्रतं दानं दमं देवमधुसूदनपूजनम् ।
अपि जन्मसहस्रोत्थं पापं हरति दारुणम् ।।
त्रिसन्ध्यं पूजयेदीशं भक्तितो मधुसूदनम् ।
साक्षाद्विमलया लक्ष्म्या समुपेतं समाहितः ।।
न माधवसमो मासो न माधवसमो विभुः ।
पोतो विदुरिवाम्भोधिमज्ञमानजनस्य यः ।।
दत्तं जप्तं हुतं स्नातं यद्भक्त्या मासि माधवे ।
तदक्षयं भवेद् भूप ! पुण्यं माधववल्लभे ।।

(पद्मपुराण)

''त्रेतायुगं तृतीयायां शुक्लायां मासि माधवे ।
अक्षया सोच्यते लोके तृतीया हरिवल्लभा ।।''
वैशाखस्य सिते पक्षे तृतीयायां पुनर्वसौ ।
निशायां प्रथमे यामे रामाख्यः समये हरिः ।।
स्वोच्चगैः षड्ग्रहैर्युक्ते मिथुने राहुसंस्थिते ।
रेणुकायास्तु यो गर्भादवतीर्णो हरिः स्वयम् ।।
वैशाखस्य सिते पक्षे तृतीयाऽक्षयसंज्ञका ।
तत्र मां लेपयेद्भक्तो लेपनैरपि शोभनैः ।।

मेष राशि पर सूर्य के आने पर सम्पूर्ण वैशाख मास में प्रभात काल में नियम पूर्वक नित्य स्नान का संकल्प करे और मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण से प्रसन्नार्थ प्रार्थना करे।

वैशाख मास में पवित्र पुण्य सलिला उत्तम नदियों के किंवा सरोवर, कूप आदि बहिर्भाग में विधि पूर्वक स्नान, दान, हवन और भूशयन, ब्रह्मचर्य व्रतादि नियमों का परिपालन हो।

व्रत, दान, इन्द्रिय निग्रह पूर्वक मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण का पूजन करें, जिससे सहस्रजन्मार्जित अति दारुण पाप भी इस मास में परिशमन

हो जाता है।

इस मास में त्रिसन्ध्य अर्थात् प्रातः, मध्याह्न, सायं वेला में भक्ति पूर्वक लक्ष्मी अर्थात् श्रीराधा सहित भगवान् मधुसूदन सर्वेश्वर श्रीकृष्ण का ध्यान युक्त होकर अर्चना वन्दना करे।

परम पवित्र वैशाख मास जैसा अन्य मास नहीं, इसके जैसा कोई अन्य मास व्यापक नहीं। भवार्णव पार के लिये यह मास नौका रूप है। हे राजन् ! श्रीहरि के प्रिय वैशाख मास में भक्ति के साथ दान, जप, हवन, स्नान किया हुआ अक्षय हो जाता है।

वैशाख शुक्ल की तृतीया अक्षयतृतीया नाम से त्रेतायुगादि तिथि सुप्रसिद्ध है, यह अक्षय तृतीया इस लोक में सर्वेश्वर श्रीहरि को अत्यन्त प्रिय है।

वैशाख शुक्ल पक्ष की अक्षयतृतीया को पुनर्वसु नक्षत्र में रात्रि के प्रथम भाग के समय में भगवान् श्रीपरशुराम का अवतार हुआ। छ ग्रह उच्च के एवं मिथुन राशि में राहु जिनके स्थित है। माता श्रीरेणुका के पवित्र गर्भ से साक्षात् श्रीहरि ने ही श्रीपरशुराम रूप में अवतार धारण किया।

वैशाख शुक्ल तृतीया अक्षय तृतीया नाम से व्यवहृत है। इस महान् पर्व के दिन भावुक भक्त मुझ हरि के मङ्गल विग्रह के सुन्दर चन्दन लेपन करे।

वस्तुतः माधव अर्थात् यह वैशाख मास अतिशय पावन है। इस मास में विविध उत्सव, पर्व, भगवद्भागवत जयन्तियाँ आती हैं। इस पुण्य मास में श्रीशुकदेव मुनि जो श्रीमद्भागवत के प्रथम प्रवक्ता हैं उनकी पवित्र जयन्ती एवं श्रीगंगा सप्तमी, श्रीजानकी नवमी, श्रीनृसिंह जयन्ती, वैशाखी अमावस्या, वैशाख पूर्णिमा आदि-आदि विशिष्ट उत्सव, जयन्तियाँ, पर्व भी बड़े उत्साह के साथ सम्पन्न होते हैं।

वैशाख शुक्ल चतुर्दशी को भगवान् श्रीनृसिंह ने अपने अनन्य भक्तराज श्रीप्रह्लाद पर अनुग्रह करके अवतार धारण किया और दुर्दान्त दैत्यराज हिरण्यकशिपु का संहार किया। इसी चतुर्दशी को भगवान् श्रीनृसिंह जयन्ती का महोत्सव बड़े समारोह पूर्वक मनाया जाता है, श्रीनिम्बार्क सिद्धान्तानुसार इसके शास्त्रीय अनेक वचन प्रसिद्ध हैं,--यहाँ केवल एक

ही वचन समुद्धृत है,--

श्रीनृसिंह ! महोग्रस्त्वं दयां कुरु ममोपरि ।
अद्याहं ते विधास्यामि व्रतं निर्विघ्नतां नय ।।

भगवान् श्रीनृसिंह के अवतार का वर्णन श्रीनृसिंह पुराण में एवंविध रूप से मिलता है--

वैशाखस्य चतुर्दश्यां सोमवारेऽनिलर्क्षके ।
अवतारो नृसिंहस्य प्रदोषसमये द्विजाः ।।

हे विप्रो ! वैशाख शुक्ल चतुर्दशी सोमवार स्वाति नक्षत्र में प्रदोष काल में भगवान् श्रीनृसिंह का अवतार हुआ।

वैशाख मास के माहात्म्य निरूपण के अनन्तर अग्रिम मास ज्येष्ठ का अति संक्षेप में वर्णन निम्न पंक्तियों में है--

ज्येष्ठमासीय उत्सव-पर्व--

ज्येष्ठ मास में सूर्य का तीव्र ताप रहता है ऐसे अवसर पर भगवान् की शीतलोपचार पूर्वक अर्चना का विधान श्रीनिम्बार्कमतानुसार यहाँ विस्तारभय से परम संक्षेपात्मक है--

ज्येष्ठे मासि तु सम्पूर्णे जलमध्ये हरिं श्रिया ।
सेवयोपचरेन्नित्यमुपचारैरुपार्जितम् ।।

(श्रीसनत्कुमार संहिता)

स्वर्णपात्रेऽथवा रौप्ये ताम्रे वा मृण्मयेऽपि वा ।
तोयस्थं योऽर्चयेद्देवं शालग्रामसमुद्भवम् ।।
शुक्रशुचिगतेकाले येऽर्चयिष्यन्ति केशवम् ।
जलस्थं विविधैः पुष्पैर्मुच्यन्ते यमयातनात् ।।

(श्रीगरुड पुराण)

पूरे ज्येष्ठ मास में भगवान् श्रीराधाकृष्ण को जल में विराजित कर विविधोपचार पूर्वक उन श्रीयुगल की नियमित रूप अर्चा करे।

स्वर्णपात्र में किंवा रजत (चाँदी) के पात्र में या ताम्रपात्र में अथवा मृत्तिका के पात्र में जल मध्यस्थ भगवान् को जो शालग्राम स्वरूप में सुशोभित है, उनकी भावना के साथ अर्चना करे।

ज्येष्ठ मास के अवसर पर जो भक्त भगवान् श्रीकेशव की जल

मध्यस्थ विविध सुगन्धित पुष्पों से अर्चना करते हैं, वे यमराज की यातना से सर्वथा मुक्ति पाते हैं।

ज्येष्ठ मास में गङ्गादशमी का महान् पर्व परम गरिमामय है। इस पावन पर्व विषयक श्रीनिम्बार्क शास्त्र सम्मत वचन मननीय है।

दशम्यां शुक्लपक्षे तु ज्येष्ठे मासि कुजेऽहनि ।
अवतीर्णा ह्यधः स्वर्गाद्धस्तर्क्षे च सरिद्वरा ।।

(वाराह पुराण)

ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे दशमी हस्तसंयुता ।
हरते दशपापानि तेन दशहरा स्मृता ।।
ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे दशम्यां बुधहस्तयोः ।
गरानन्दे व्यतीपाते कन्याचन्द्रे वृषे रवौ ।।
दशयोगे नरः स्नात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।

(ब्रह्मपुराण)

ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की पावन दशमी तिथि को पुण्यसलिला भगवती भागीरथी श्रीगङ्गाजी का हस्त नक्षत्र में स्वर्ग से इस भारत की पवित्र धरा पर अवतार हुआ।

ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष में हस्त नक्षत्र युक्त दशमी दशविध पापों का संहरण करती है, इसीलिये इसे गङ्गा दशहरा के नाम से सम्बोधित करते हैं।

ज्येष्ठ मासीय सुदी पक्ष की दशमी को बुध, हस्त, गर (करण) आनन्द (योग) व्यतीपात, कन्या में, चन्द्र, वृष में, रवि आदि दश प्रकार के योग वर्तमान हो ऐसे पवित्र काल में श्रीगंगाजी में स्नान करें तो सम्पूर्ण पापराशि से स्नानार्थी पूर्णतः मुक्त हो जाता है।

ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष में ही निर्जला एकादशी जो भीमसेनी एकादशी नाम से परम विख्यात है। इस महनीय एकादशी के पुनीत अवसर पर विधि पूर्वक निर्जल व्रत के साथ इन शास्त्रीय वचनानुसार शर्करामिश्रित निर्मल पवित्र जल प्रपूरित सुन्दर घट का विप्रश्रेष्ठ को दान करने का परम पुण्य विहित है--

ज्येष्ठे मासि नृपश्रेष्ठ ! या शुक्लैकादशी भवेत् ।

निर्जलां तामुपोष्यात्र जलकुम्भान् सशर्करान् ।।
प्रदाय विप्रमुख्येभ्यो मोदते विष्णुसन्निधौ ।।

(श्रीस्कन्द पुराण)

हे नृप श्रेष्ठ ! जो मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी वह निर्जला एकादशी नाम से प्रसिद्ध इस एकादशी को निर्जल व्रत करे एवं शक्कर युत मधुर शीतल जल से भरे हुए सुन्दर कलश कर्मनिष्ठ उत्तम ब्राह्मण को दान करे। ऐसे दान को करने से भावुक भक्त भगवान् श्रीराधाकृष्ण की दिव्य सन्निधि को प्राप्त कर परमानन्द परिपूर्ण होता है।

आषाढ़ मास वर्णित उत्सव-पर्व--

आषाढ़ मास के पवित्र अवसर पर प्रारम्भ काल में कदम्ब पुष्पार्चना का बड़ा ही महत्व है। भगवान् श्रीराधाकृष्ण की सुरभि परिपूर्ण-कदम्बादि पुष्पों द्वारा अर्चना का अनुपम असीम फल प्राप्ति का सुन्दरतम वर्णन श्रीभगवन्निम्बार्क सिद्धान्त परक स्वधर्मामृतसिन्धु, औदुम्बर संहिता, श्रीनिम्बार्क व्रत निर्णय आदि ग्रन्थों में विस्तृत रूप से हुआ है, जिसका यहाँ संक्षेप में उद्धरण अवलोकनीय है--

कदम्बकुसुमैर्हृद्यै येऽर्चयन्ति जनार्दनम् ।
तेषां यमालयो नैव न जायन्ते कुयोनिषु ।।

(व्रतपञ्चक)

कदम्ब तरु के मञ्जुल मधुर सुगन्धित पुष्पों से जो अनन्य भावुकों द्वारा जनार्दन युगलकिशोर भगवान् श्रीराधाकृष्ण का सुन्दर पूजन करते हैं वे यमालय तथा कुत्सित योनियों से सर्वथा दूर रहते हैं, अर्थात् श्रीहरि की दिव्य कृपा के भाजन होते हैं।

आषाढ़ शुक्ल द्वितीया के शुभ दिवस रथयात्रा महोत्सव का परम आनन्दप्रद पर्व शास्त्रों में परिवर्णित हुआ है जो सर्वदा अपने हृदय में अवधारणीय है,--इसी प्रकार शुक्ल एकादशी देवशयनी व्रत का भी विधान तथा आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा को गुरु पूर्णिमा (व्यास पूर्णिमा) महापर्व के शास्त्रीय वचन भी द्रष्टव्य है--

आषाढस्य सिते पक्षे द्वितीया पुष्यसंयुता ।

तस्या रथे समारोप्य रामं मां भद्रया सह ।।
यात्रोत्सवं प्रवर्त्याथ प्रीणयेत द्विजान् बहून् ।।

(स्कन्दपुराण)

एकादश्यां तु शुक्लायामाषाढे भगवान्हरिः ।
भुजङ्गशयने शेते क्षीरार्णवजले सदा ।।

(ब्रह्मपुराण)

द्वादश्यामेव क्षीराब्धि-शयनोत्सव ईर्यते ।
राधाकृष्णौ तदा सम्यक् सम्पूज्याहूय वैष्णवान् ।।

(श्रीवायुपुराण)

श्रीभविष्योत्तरपुराण में भगवान् व्यास की उक्ति--

मम जन्मदिने सम्यक् पूजनीयः प्रयत्नतः ।
आषाढशुक्लपक्षे तु पूर्णिमायां गुरौ तथा ।।
पुजनीयो विशेषेण वस्त्राभरणधेनुभिः ।
फल पुष्पादिना सम्यक् रत्नकाञ्चनभोजनैः ।।
दक्षिणाभिः सुपुष्टाभि-र्मत्स्वरूपं प्रपूजयेत् ।
एवं कृते त्वया विप्र ! मत्स्वरूपस्य दर्शनम् ।।

(श्रीभविष्योत्तर पुराण)

आषाढ़ शुक्ल पक्ष की पुष्य नक्षत्र युक्त द्वितीया को भगवान् श्रीहरि को सुन्दर सुसज्जित रथ पर विराजमान करके रथयात्रा महोत्सव सम्पन्न करें, एवं इस अवसर पर विप्रों को भी भगवत्प्रसाद, दक्षिणा आदि से परितृप्त करना आवश्यक है।

आषाढ़ शुक्ल एकादशी से भगवान् श्रीहरि क्षीर सागर के अगाध जल में शेषशायी के रूप में सदा शयन करते हैं।

द्वादशी के दिन से क्षीर समुद्र में वैष्णवजन सम्पूजित भगवान् श्री राधाकृष्ण शयन करते हैं। यह शयनोत्सव सम्यक् रूप से सम्पन्न होता है।

आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा को भगवान् वेदव्यासजी की जन्म तिथि है, अतएव इसे व्यास पूर्णिमा एवं गुरु पूर्णिमा कहते हैं। उस परम पावन दिवस को अतीव श्रद्धा भाव पूर्वक श्रीगुरु चरणाम्बुजों की अर्चना की जानी चाहिये।

सुन्दर वस्त्र-आभूषण-गोदान-फल-पुष्प-विविध-रत्न स्वर्णमुद्रादि समर्पण पूर्वक श्रीगुरु पूजन का मङ्गल विधान श्रीगुरु पूर्णिमा पर्व पर करना शिष्यवर्ग का परम धर्म है।

भगवान् व्यास स्वयं संकेत कर रहे हैं श्रीगुरु पूर्णिमा को उत्तमोत्तम दक्षिणा से मेरे स्वरूप में ही श्रीगुरुचरणों का पूजन करना अभीष्ट है ऐसा करने पर श्रीगुरुदेव में मेरे ही स्वरूप का सुभग दर्शन समझो।

चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ इन चार मासों में होने वाले उत्सव-महोत्सवों का संक्षिप्त वर्णन संस्कृत वाङ्मय उद्धरणों के साथ किया गया। अब अग्रिम मासों के प्रसङ्ग में अत्यन्त संक्षेप में केवल सूत्रात्मक संकेत मात्र ही प्रस्तुत करना समुचित होगा।

श्रावण मास में--प्रथम वर्षा का शुभागमन, जिसमें शुक-पिक-सारिका-चातक-मयूर-मण्डूक-भ्रमरादिकों का निनाद-गुञ्जार प्रभृति अतीव मनोहरी स्वरूप अभिव्यक्त होता है। नव नीरद श्यामल घटाओं से समस्त गगन परम कमनीयता को धारण किये हुए विलक्षण चित्ताकर्षक है। विद्युत् चमत्कृति अपनी दिव्य प्रभा से अद्‌भुत्ता प्रकट करती है। शस्य श्यामला वसुन्धरा की कमनीयता अवर्णनीय है, प्रपातों, निर्झरों, सरिताओं, की मङ्गल ध्वनि समस्त दिक् प्रान्त को आह्लादकारी बना रही है। विशाल सरोवरों की शोभा अवलोकनीय है। लता-तरुवरों की सुरभित सुमन राशि सर्वत्र सुन्दर मधुर सुगन्ध परिव्याप्त है। बहुविध चित्रित तितलियों का समवेत दृश्य सभी के चित्त को लुभाता है। वस्तुतः प्रावृट्-ऋतु अनुपम है, अद्‌भुत है, विचित्र है।

श्रावण-भाद्र मासीय पावस ऋतु में अनेक उत्सव, महोत्सव, व्रत, पर्व आजाते हैं जिनका दिव्यातिदिव्य माहात्म्य संस्कृत वाङ्मय शास्त्रों, हिन्दी, व्रज भाषा वाणी साहित्य में विपुल रूप से अभिवर्णित है। नागपञ्चमी, हरियाली अमावस्या, हरियाली तीज, पवित्रा एकादशी, रक्षाबन्धन, श्रावणी उपाकर्म, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी महोत्सव, नन्द महोत्सव, कुशाग्रहणी अमावस्या, श्रीगणेश जयन्ती, ऋषि पञ्चमी, श्रीबलदेव जयन्ती, श्रीराधाष्टमी महोत्सव, श्रीमद्भागवत जयन्ती, जलझूलनी एकादशी व्रत महोत्सव, श्रीवामन जयन्ती, अनन्त चतुर्दशी, पूर्णिमा व्रतादि विविध रूपात्मक समाविष्ट है।

तस्या रथे समारोप्य रामं मां भद्रया सह ।।
यात्रोत्सवं प्रवर्त्याथ प्रीणयेत द्विजान् बहून् ।।
(स्कन्दपुराण)

एकादश्यां तु शुक्लायामाषाढे भगवान्हरिः ।
भुजङ्गशयने शेते क्षीरार्णवजले सदा ।।
(ब्रह्मपुराण)

द्वादश्यामेव क्षीराब्धि-शयनोत्सव ईर्यते ।
राधाकृष्णौ तदा सम्यक् सम्पूज्याहूय वैष्णवान् ।।
(श्रीवायुपुराण)

श्रीभविष्योत्तरपुराण में भगवान् व्यास की उक्ति--

मम जन्मदिने सम्यक् पूजनीयः प्रयत्नतः ।
आषाढशुक्लपक्षे तु पूर्णिमायां गुरौ तथा ।।
पुजनीयो विशेषेण वस्त्राभरणधेनुभिः ।
फल पुष्पादिना सम्यक् रत्नकाञ्चनभोजनैः ।।
दक्षिणाभिः सुपुष्टाभि-र्मत्स्वरूपं प्रपूजयेत् ।
एवं कृते त्वया विप्र ! मत्स्वरूपस्य दर्शनम् ।।
(श्रीभविष्योत्तर पुराण)

आषाढ़ शुक्ल पक्ष की पुष्य नक्षत्र युक्त द्वितीया को भगवान् श्रीहरि को सुन्दर सुसज्जित रथ पर विराजमान करके रथयात्रा महोत्सव सम्पन्न करें, एवं इस अवसर पर विप्रों को भी भगवत्प्रसाद, दक्षिणा आदि से परितृप्त करना आवश्यक है।

आषाढ़ शुक्ल एकादशी से भगवान् श्रीहरि क्षीर सागर के अगाध जल में शेषशायी के रूप में सदा शयन करते हैं।

द्वादशी के दिन से क्षीर समुद्र में वैष्णवजन सम्पूजित भगवान् श्री राधाकृष्ण शयन करते हैं। यह शयनोत्सव सम्यक् रूप से सम्पन्न होता है।

आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा को भगवान् वेदव्यासजी की जन्म तिथि है, अतएव इसे व्यास पूर्णिमा एवं गुरु पूर्णिमा कहते हैं। उस परम पावन दिवस को अतीव श्रद्धा भाव पूर्वक श्रीगुरु चरणाम्बुजों की अर्चना की जानी चाहिये।

सुन्दर वस्त्र-आभूषण-गोदान-फल-पुष्प-विविध-रत्न स्वर्णमुद्रादि समर्पण पूर्वक श्रीगुरु पूजन का मङ्गल विधान श्रीगुरु पूर्णिमा पर्व पर करना शिष्यवर्ग का परम धर्म है।

भगवान् व्यास स्वयं संकेत कर रहे हैं श्रीगुरु पूर्णिमा को उत्तमोत्तम दक्षिणा से मेरे स्वरूप में ही श्रीगुरुचरणों का पूजन करना अभीष्ट है ऐसा करने पर श्रीगुरुदेव में मेरे ही स्वरूप का सुभग दर्शन समझो।

चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ इन चार मासों में होने वाले उत्सव-महोत्सवों का संक्षिप्त वर्णन संस्कृत वाङ्मय उद्धरणों के साथ किया गया। अब अग्रिम मासों के प्रसङ्ग में अत्यन्त संक्षेप में केवल सूत्रात्मक संकेत मात्र ही प्रस्तुत करना समुचित होगा।

श्रावण मास में--प्रथम वर्षा का शुभागमन, जिसमें शुक-पिक-सारिका-चातक-मयूर-मण्डूक-भ्रमरादिकों का निनाद-गुञ्जार प्रभृति अतीव मनोहरी स्वरूप अभिव्यक्त होता है। नव नीरद श्यामल घटाओं से समस्त गगन परम कमनीयता को धारण किये हुए विलक्षण चित्ताकर्षक है। विद्युत् चमत्कृति अपनी दिव्य प्रभा से अद्भुत्ता प्रकट करती है। शस्य श्यामला वसुन्धरा की कमनीयता अवर्णनीय है, प्रपातों, निर्झरों, सरिताओं, की मङ्गल ध्वनि समस्त दिक् प्रान्त को आह्लादकारी बना रही है। विशाल सरोवरों की शोभा अवलोकनीय है। लता-तरुवरों की सुरभित सुमन राशि सर्वत्र सुन्दर मधुर सुगन्ध परिव्याप्त है। बहुविध चित्रित तितलियों का समवेत दृश्य सभी के चित्त को लुभाता है। वस्तुतः प्रावृट्-ऋतु अनुपम है, अद्भुत है, विचित्र है।

श्रावण-भाद्र मासीय पावस ऋतु में अनेक उत्सव, महोत्सव, व्रत, पर्व आजाते हैं जिनका दिव्यातिदिव्य माहात्म्य संस्कृत वाङ्मय शास्त्रों, हिन्दी, व्रज भाषा वाणी साहित्य में विपुल रूप से अभिवर्णित है। नागपञ्चमी, हरियाली अमावस्या, हरियाली तीज, पवित्रा एकादशी, रक्षाबन्धन, श्रावणी उपाकर्म, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी महोत्सव, नन्द महोत्सव, कुशाग्रहणी अमावस्या, श्रीगणेश जयन्ती, ऋषि पञ्चमी, श्रीबलदेव जयन्ती, श्रीराधाष्टमी महोत्सव, श्रीमद्भागवत जयन्ती, जलझूलनी एकादशी व्रत महोत्सव, श्रीवामन जयन्ती, अनन्त चतुर्दशी, पूर्णिमा व्रतादि विविध रूपात्मक समाविष्ट है।

इनमें श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, नन्द महोत्सव, श्रीराधाष्टमी महोत्सव की सुन्दर छवि अन्तःकरण में विशेष अवधारणीय है--

य एव भगवान् विष्णुर्देवक्यां वसुदेवतः।
जातः कंसबधार्थं हि तद्दिनं मङ्गलायनम्।।
यस्यां सनातनः साक्षात्पुराणः पुरुषोत्तमः।
अवतीर्णः क्षितौ सैषा मुक्तदेति किमद्भुतम्।।
अष्टमी रोहिणी युक्ता चार्धरात्रे यदा भवेत्।
उपोष्य तां तिथिं विद्वान् कोटियज्ञफलं लभेत्।।

(श्रीभविष्य विष्णु धर्मोत्तर)

जगन्नियन्ता जगत्पालक भगवान् विष्णु ही श्रीकृष्ण रूप से श्रीवसुदेव के यहाँ कंसकारा गृह में माता श्रीदेवकी के उदरदरी से कंसादि असुरों के संहार हेतु इस भूतल पर अवतीर्ण हुए। यह प्राकट्य दिवस परम मङ्गल स्वरूप है।

इसी पावन भाद्रपद कृष्ण अष्टमी को परम सनातन स्वरूप साक्षात् पुराण पुरुषोत्तम स्वयं श्रीहरि ही इस परम पवित्र तिथि को अवतीर्ण हुए अतः यह तिथि मुक्ति प्रदायक है जो अति विलक्षण है।

रोहणी नक्षत्र युक्त अष्टमी तिथि अर्धरात्र में हो इस तिथि को शास्त्रविद् विद्वानों को भगवद्भक्तों को व्रत अर्थात् उपवास अवश्य ही करना चाहिये। यह व्रत करोड़ों यज्ञो के समान फल प्रदाता है।

श्रीकृष्ण जयन्ती महोत्सव के दिवस किया गया व्रत महापापों का विनाश कर देता है, अतः भक्ति और श्रद्धा पूर्वक सभी को इस व्रत का पालन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण का विविधोपचार पूर्वक पूजन करना चाहिये।

भाद्रे मासि सिते पक्षे या पवित्राऽष्टमी तिथिः।
राधाजन्मोत्सवं तत्र कारयेतकृष्णसेवकः।।
मध्याह्ने वृश्चिके लग्ने ज्येष्ठाया सप्तमे पदे।
मुहूर्तेऽभिजितिके विप्राः ! जाता राधा हरिप्रिया।।

(भविष्योत्तर पुराण)

भाद्र मास के शुक्ल पक्ष की जो परम पवित्र तिथि अष्टमी को

श्रीराधा जयन्ती महोत्सव श्रीराधाकृष्ण के अनन्य उपासक रसिक भगवज्जनों को बड़े उल्लास पूर्वक सम्पन्न करना चाहिये।

हे विप्रो ! मध्याह्न के वृश्चिक लग्न में ज्येष्ठा नक्षत्र अभिजित् मुहूर्त में हरिप्रिया श्रीराधा सर्वेश्वरी का आविर्भाव हुआ।

आश्विन मास के पूरे कृष्ण पक्ष में श्राद्ध कर्म का विधान है और उसी के शुक्ल पक्ष में श्रीसरस्वती शयन, विजयादशमी, शरत्-पूर्णिमा को महारासोत्सव और इसी मास में सांझी-महोत्सव जिसका उल्लेख वाणी ग्रन्थों में विस्तृत रूप से है।

भगवानपि ता रात्रिः शरदोत्फुल्लमल्लिका।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।

परात्पर परब्रह्म रसब्रह्म वृन्दावनविहारी निकुञ्जेश्वर सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने कोटि-कोटि व्रजाङ्गनाओं के मङ्गल-मनोरथ को पूर्ण करने हेतु शरदोत्फुल्लमल्लिका दिव्य रात्रि में अपनी योगमाया अर्थात् परमाह्लादिनी सर्वेश्वरी श्रीराधा प्रिया का समाश्रय लेकर वेणु निनाद से समस्त व्रजबालाओं को स्मरण करके उनके साथ महारास रस का उपक्रम किया जिसका श्रीमद्भागवतादि शास्त्रों में विपुल रूप से वर्णन हुआ है।

कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष एवं शुक्ल पक्ष में विविध रूप से उत्सव-व्रत-पर्व आदिकों का अद्भुत सङ्गम है। पूरे कार्तिक मास में कार्तिक-स्नान की बड़ी महिमा है। भगवान् श्रीधन्वन्तरि का जयन्ती महोत्सव, दीपावली के मङ्गलमय अवसर पर दीपदान, (दीपज्योति) श्रीमहालक्ष्मी पूजन, श्रीगोवर्धन पूजा, अन्नकूट-महोत्सव, श्रीगोपाष्टमी महापर्व, देवप्रबोधिनी एकादशी, श्रीतुलसी विवाह, कार्तिक पूर्णिमा को पुष्करादि तीर्थों में स्नान-पर्व, श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य जयन्ती महोत्सव आदि का अनिर्वचनीय आनन्दोल्लास रहता है।

मार्गशीर्ष मास का माहात्म्य भी विलक्षण है **मासानां मार्गशीर्षोऽहम्** इस श्रीमद्भगवद्गीतोक्त श्रीभगवद्वचनानुसार इसकी महत्ता स्पष्ट है। श्रीनिम्बार्क सिद्धान्तानुसार--

तत्रादौ मार्गशीर्षे तु प्रभातस्नानपूर्वकम् ।
पूजयेद्राधिकाकृष्णौ भक्त्या परमया सुधीः ।।
(श्रीवराह पुराण)

मार्गशीर्ष मास में प्रभात काल में स्नानादि पूर्वक शास्त्रज्ञ मनीषी-जनों का आवश्यक कर्तव्य है वे परम अनन्य भक्ति के साथ भगवान् श्रीराधाकृष्ण की समर्चना करें।

इस अत्यन्त पवित्र मास में अपने आराध्य भगवान् श्रीराधासर्वेश्वर का नानोपचार पूर्वक उत्सव सम्पन्न करें, श्रीप्रभु का निष्ठा और अतीव श्रद्धा भाव पूर्वक विविधोपचार से पूजन करें। इस मास में श्रीरामजानकी विवाहोत्सव का महान् पर्व है। इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता जयन्ती महोत्सव का महान् अवसर है। वस्तुतः समग्र दृष्टया इस मास की अनुपम महिमा है।

पौष मास में--

त्रिकालं पूजयेत्कृष्णं त्यक्तभोगो जितेन्द्रियः ।
पौषस्य द्वादशी शुक्ला यावत्पुण्यफलप्रदा ।।
(श्रीनारदपञ्चरात्र)

जागतिक भोग्य कर्मों से रहित होकर, अपने समस्त इन्द्रियों के दमन पूर्वक मुख्यतः पौषमासीय शुक्ल-द्वादशी पर्यन्त जो परम पुण्य फलदायी है, उस अवसर पर भगवान् श्रीकृष्ण का विधि विधान के साथ अर्चन वन्दन करना अत्यन्त अभीष्ट कर्तव्य है।

माघ मास अतीव श्रेष्ठ और परम पावनतम है। माघ स्नान का माहात्म्य शास्त्रों में विस्तृत रूप से वर्णित है। इस मास में भी अनेक उत्सव-पर्व आते हैं। मकर संक्रान्ति, वसन्त पञ्चमी, षट्तिला एकादशी आदि अनेक विध पर्वोत्सवों का अनुपम आनन्द है। वसन्त पंचमी को अपने आराध्य वृन्दावन निकुञ्जविहारी युगलकिशोर श्यामाश्याम भगवान् श्रीराधामाधव के वसन्त वस्त्रालङ्कार, वसन्त अबीर, गुलाल आदि समर्पण एवं इसी पावन अवसर पर श्रीसरस्वती समर्चना, संस्कृत रससिद्धकवि श्रीजयदेव जयन्ती तथा श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यश्री के पट्टशिष्य पाञ्चजन्य शंखावतार श्री श्रीनिवासाचार्यजी महाराज का पाटोत्सव आदि नाना महोत्सवों की अनिर्वचनीय रसानुभूति होती है। वस्तुतः इस मास का स्वरूप ही ऐसा

अनुपम है जिसका वर्णन ही अशक्य है--इन निम्न वचन से माघ मास का स्वरूप अपने अन्तःकरण में अवधारणीय है। यथा--

स्नानं दानं जपो होमः समुद्दिश्य जनार्दनम् ।
नरै र्यत्क्रियते माघे तदनन्तफलं लभेत् ।।

(श्रीस्कन्दपुराण)

सर्वपापविनाशाय कृष्णसन्तोषणाय च ।
माघस्नानं सदा कार्यं वर्षे वर्षे च नारद ! ।।

(श्रीस्कन्दपुराण)

भगवान् श्रीकृष्ण का हृदय में चिन्तन पूर्वक माघ मास में जो मानव नित्य नियमित रूप से स्नान, दान, जप, हवनादि इन सत्कर्मों का सम्पादन करते हैं वे निश्चय ही अनन्त सुखद फल प्राप्त करते हैं।

हे देवर्षे ! नारद ! प्रतिवर्ष--

अनन्त कोटिब्रह्माण्डनायक सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के प्रसन्नार्थ और समस्त पापों के परिहार हेतु माघ स्नान सदा सर्वदा अत्यन्त आवश्यक है।

जिस प्रकार माघ मास में विविध व्रतोत्सवादि आते हैं ऐसे ही **फाल्गुन मास** में भी अनेक उत्तमोत्तम व्रतोत्सवपर्वों का महत्व है। श्रीसीताष्टमी, श्रीमहाशिवरात्रि एवं श्रीशिवार्चना, होलिकोत्सव आदि प्रमुख हैं। श्रीशिव चतुर्दशी के सम्बन्ध में श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यवर्य के परम शिष्यों में श्रीऔदुम्बराचार्यकृत श्रीऔदुम्बर संहिता ग्रन्थ में निरूपित इस निम्न वचन से श्रीशिवाराधना का भाव स्पष्ट है--

फाल्गुने शिवरात्रं तु कुर्वतस्त्वनुमोदयेत् ।
कृष्णपक्षचतुर्दश्यां सशल्यश्चेत् स्वयं चरेत् ।।

फाल्गुन मास की कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को महाशिवरात्री को शिवार्चना का निर्देश कर रहे हैं। यदि शल्य बेध का अवसर हो तो स्वयं ही उस तिथि को समर्चना करे।

फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को होलिकोत्सव समारोह सम्पन्न होता है। वाणी साहित्य में श्रीभगवन्निम्बार्क परवर्ती पूर्वाचार्यों ने बड़े ही विस्तार पूर्वक होली महोत्सव, फूलडोल महोत्सव अतिशय अनुपम अनिर्वचनीय

परिवर्णन किया है, इस प्रस्तुत आलेख में केवल संस्कृत वाङ्मय उद्धरण ही अभिप्रेत है एतावता इस अधोलिखित एक ही उद्धरण से विराम किया जा रहा है--

फाल्गुनस्य तु राकायां मण्डयेद्दोलमण्डपम् ।
पश्चात्सिंहासनं पुष्पैर्नूतनैर्वस्त्रचित्रकैः ।।

फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा की रात्रि को सुरभित सुन्दर पुष्पों से नवीन चित्रित मञ्जुल वस्त्रों से सुसज्जित मण्डप में परम कमनीय झूला के सिंहासन पर परमाराध्य श्रीराधाकृष्ण भगवान् को विराजमान करके महोत्सव उल्लास पूर्वक सम्पन्न करें।

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्योपदिष्ट-

जीवनचर्या में मनोनिग्रह परमावश्यक

प्रत्येक मानवमात्र की दैनन्दिन जीवनचर्या में मनोनिग्रह नितान्त-रूपेण अनिवार्य है। जिसका स्वकीय मन पर नियन्त्रण नहीं है समग्र जीवनचर्या निष्फल है अतः सर्वविधरूप से सर्वप्रथम अपने अन्तर्मन को सर्वात्मना सुनियन्त्रित रखना अत्यन्त अपेक्षित है। ''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'' यह शास्त्रीय वचन सर्वदा स्मरणीय है।

श्रीमद्भगवद्गीता में अखिलान्तरात्मा सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से वीर शिरोमणि अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के रणाङ्गण क्षेत्र में यही जिज्ञासा उपस्थित की थी--

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता अ० ६ श्लो. ३४)

हे सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ! इस मन की चञ्चलता और विनाश परायण अवस्था तथा अतीव बलवान् एवं तीव्र स्वभावशीलता है। अतः इसका निग्रह (निरोध) करना नितान्त कठिन है उत्कट वायु के वेग के समान इसे नियन्त्रित कर पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।

इसी जिज्ञासा का समाधान करते हुए परम कृपार्णव सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इङ्गित करते हुए निर्देश किया कि हे महाबाहो अर्जुन। निश्चय ही यह अतीव चञ्चल मन बड़ी दुष्करता से अधीन होता है तथापि हे कौन्तेय अर्जुन! यह मन अनवरत अभ्यास एवं वैराग्य वृत्ति के धारण करने पर स्वाधीन हो जाता है।

सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य ने अपने स्वप्रणीत ''प्रातःस्तवराज'' में ''मनसा'' इस प्रयुक्त वचन से मन का ही प्राधान्य व्यक्त किया है--

सञ्चिन्तनीयमनुमृग्यमभीष्टदोऽहं
संसारतापशमनं चरणं महार्हम् ।
नन्दात्मजस्य सततं मनसा गिरा च
संसेवयामि वपुषा प्रणयेन रम्यम् ।।

(प्रातःस्तवराज-श्लो० सं० ९)

श्रीब्रह्मादिक देववृन्दों द्वारा जिनके सुन्दर स्वरूप दर्शनार्थ अन्वेषण किया जाता है एवं अभिवांछित मनोरथ को प्रदान परायण और जागतिक त्रिविध तापों का निराकरण करने वाले तथा अतीव उत्कृष्ट परम मनोहर अपने अन्तःकरण से ध्यान किये जाने वाले परमानन्दकन्द नन्दनन्दन सर्वेश्वर श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीयुगलचरणारविन्दों को मन और वाणी से प्रेमानुराग पूर्वक शरीर से सेवा परायण रहता हूँ।

आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् की आचार्य-परम्परा में परमाचार्यवर्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने अपने स्वप्रणीत ''श्रीपरशुराम सागर'' ग्रन्थ में मानव की जीवनचर्या में मन के सम्बन्ध में जो भाव व्यक्त किये हैं वे सर्वदा साधकजनों के लिये अपने जीवन में अनुकरणीय है--

मन चंचल मन चपल, मन राजा मन रंक ।
''परसा'' मन हरि सौं मिलै, तौ हरि मिलै निसंक ।।१ ।।
आवणजाणा तब लगै, जब लग मन थिर नांहिं ।

परिवर्णन किया है, इस प्रस्तुत आलेख में केवल संस्कृत वाङ्मय उद्धरण ही अभिप्रेत है एतावता इस अधोलिखित एक ही उद्धरण से विराम किया जा रहा है--

फाल्गुनस्य तु राकायां मण्डयेद्दोलमण्डपम् ।
पश्चात्सिंहासनं पुष्पैर्नूतनैर्वस्त्रचित्रकैः ।।

फालगुन शुक्ल पूर्णिमा की रात्रि को सुरभित सुन्दर पुष्पों से नवीन चित्रित मञ्जुल वस्त्रों से सुसज्जित मण्डप में परम कमनीय झूला के सिंहासन पर परमाराध्य श्रीराधाकृष्ण भगवान् को विराजमान करके महोत्सव उल्लास पूर्वक सम्पन्न करें।

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्योपदिष्ट-

जीवनचर्या में मनोनिग्रह परमावश्यक

प्रत्येक मानवमात्र की दैनन्दिन जीवनचर्या में मनोनिग्रह नितान्त-रूपेण अनिवार्य है। जिसका स्वकीय मन पर नियन्त्रण नहीं है समग्र जीवनचर्या निष्फल है अतः सर्वविधरूप से सर्वप्रथम अपने अन्तर्मन को सर्वात्मना सुनियन्त्रित रखना अत्यन्त अपेक्षित है। ''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'' यह शास्त्रीय वचन सर्वदा स्मरणीय है।

श्रीमद्भगवद्गीता में अखिलान्तरात्मा सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से वीर शिरोमणि अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के रणाङ्गण क्षेत्र में यही जिज्ञासा उपस्थित की थी--

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता अ० ६ श्लो. ३४)

हे सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ! इस मन की चञ्चलता और विनाश परायण अवस्था तथा अतीव बलवान् एवं तीव्र स्वभावशीलता है। अतः इसका निग्रह (निरोध) करना नितान्त कठिन है उत्कट वायु के वेग के समान इसे नियन्त्रित कर पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।

इसी जिज्ञासा का समाधान करते हुए परम कृपार्णव सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इङ्गित करते हुए निर्देश किया कि हे महाबाहो अर्जुन। निश्चय ही यह अतीव चञ्चल मन बड़ी दुष्करता से अधीन होता है तथापि हे कौन्तेय अर्जुन! यह मन अनवरत अभ्यास एवं वैराग्य वृत्ति के धारण करने पर स्वाधीन हो जाता है।

सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य ने अपने स्वप्रणीत ''प्रातःस्तवराज'' में ''मनसा'' इस प्रयुक्त वचन से मन का ही प्राधान्य व्यक्त किया है--

सञ्चिन्तनीयमनुमृग्यमभीष्टदोऽहं
संसारतापशमनं चरणं महार्हम्।
नन्दात्मजस्य सततं मनसा गिरा च
संसेवयामि वपुषा प्रणयेन रम्यम्।।

(प्रातःस्तवराज-श्लो० सं० ९)

श्रीब्रह्मादिक देववृन्दों द्वारा जिनके सुन्दर स्वरूप दर्शनार्थ अन्वेषण किया जाता है एवं अभिवांछित मनोरथ को प्रदान परायण और जागतिक त्रिविध तापों का निराकरण करने वाले तथा अतीव उत्कृष्ट परम मनोहर अपने अन्तःकरण से ध्यान किये जाने वाले परमानन्दकन्द नन्दनन्दन सर्वेश्वर श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीयुगलचरणारविन्दों को मन और वाणी से प्रेमानुराग पूर्वक शरीर से सेवा परायण रहता हूँ।

आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् की आचार्य-परम्परा में परमाचार्यवर्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने अपने स्वप्रणीत ''श्रीपरशुराम सागर'' ग्रन्थ में मानव की जीवनचर्या में मन के सम्बन्ध में जो भाव व्यक्त किये हैं वे सर्वदा साधकजनों के लिये अपने जीवन में अनुकरणीय है--

मन चंचल मन चपल, मन राजा मन रंक।
''परसा'' मन हरि सौं मिलै, तौ हरि मिलै निसंक।।१।।
आवणजाणा तब लगै, जब लग मन थिर नांहिं।

मन थिर राखै "प्रसराम", रहे सदा सुख माहि ।।२ ।।
सो मन थिर जो हरि भजै, हरि भजि अनत न जाय ।
"परसराम" ता दास कौ, आवागवण विलाय ।।३।।

उपर्युक्त इसी आचार्य - परम्परा में आचार्यप्रवर श्रीवृन्दावन-देवाचार्यजी महासज ने स्वकीय प्रणीत "श्रीगीतामृत- गंगा" वाणी साहित्य में मन विषयक यह निम्नाङ्कित पद पठनीय एवं साधक समुदाय को सदा स्मरणीय और ज्ञातव्य है-

प्रस्तुत पदों में व्रजाङ्गनाओं का अपने अन्तर्मानस का अनुपम भाव परिलक्षित है--

मदनगोपाल तेरे हित, मैं गृह वित तजि दीन ।
बिन देखें तेरी मूरति तलफौं, ज्यौं जल बिनु छिन मीन ।।
अलबेली तेरी बंक विलोकनि, मो मन तो हरि लीन ।
"वृन्दावन प्रभु" सुध्यो बिसारी, महाकठिन हिय कीन ।।१।।

अहो पिय महाकठिन मन कीनौं ।
जबते सिधारे यहां ते लालन, कबहुं पत्र नहीं दीनौं ।।
जो तुम्हें ऐसी करनी ही बलि, क्यौं चितवित हरि लीनौं ।
"वृन्दावन प्रभु" हम तन तुम, बिन होत दिनैं दिन छीनौं ।।२।।

(श्रीगीतामृत गंगा - पृ० १०६, पद सं० ५२, ५३)

इसी प्रसङ्ग पर पूवाचार्य श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज के वाणी-साहित्य के इन मधुर पदों से मन का स्वरूप चित्रण अतीव मननीय है-

अरे मनवा हरि भजिये तो भली ।
श्रीव्रजराज कुँवर पद अंबुज, पी मकरंद अली ।।
भूत पितर अरु देव सबन के, घर घर रंगरली ।
भूरि भाग हरि-हरिजन जन की, बिगसत चित्त कली ।।
यह औसर दुल्लभ पुनि पैहौ, नर तन मुक्ति गली ।
"गोविन्दसरन" सलिता के जल ज्यौं बय बिति जात चली ।।१।।
मनुवाँ मेरे करि माधौ सौं प्रीति ।
विषै विषम विष ज्यौं तजि भाई, छांडि सकल विपरीति ।।

जगत मोह कैं जाल परै जिन, करि हरि चरन प्रतीति।
"गोविन्दसरन" तजि के कुकरम, गति गहि हंसन की रीति।।२।।

(श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्य-वाणी-पृ १६,१७, पद सं०-५६, ६१)

परिवर्णित इन सभी वचनों से यह सुस्पष्ट है कि इस मानव के मन को नियन्त्रित रखना अत्यन्त आवश्यक है जिससे मानव मात्र की दैनान्दिन जीवनचर्या अबाधगति से सुव्यवस्थित रहे। संसार के समस्त कार्य मन पर ही आधारित है। जीवन के यावन्मात्र जितने भी कर्म सम्पादनजन्य सत्कार्य किंवा असत्कार्य ये सभी मन के संकल्पानुसार ही निष्पन्न होते हैं अतः यदि मानव की मनोवृत्ति सात्विक है उच्चतम है उत्तमोत्तम कर्म-सम्पादन में प्रवृत है तो वह निस्सन्देह श्रीभगवत्कृपाभाजन हो जाता है और इस भवाटवी के आत्यन्तिक दुःख द्वन्द्वों से निवृत्त होकर श्रीभगवद्भावापत्तिरूप मोक्ष को सुलभता से प्राप्त कर सकता है, अतएव सभी शास्त्रों ने यही इङ्गित किया है कि समग्रविधा इस मन को उत्तमोत्तम कार्यों में श्रीहरि चिन्तन में संलग्न करे। जिससे इस मानव जीवन की चरितार्थता सार्थक हो।

श्रीसुदर्शनचक्रावतार परमाद्याचार्य श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य ने एवं तत्परम्परानुवर्ती आचार्यप्रवरों ने इस मानव के मन को ही प्रमुख रूप से प्रतिपादित किया है। "केनोपनिषत्" के इस वचन से मन का ही सर्व प्रथम संकेत हुआ है "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः" अर्थात् किस दिव्य शक्ति से यह मन अपने कर्म में प्रवृत्त होता है इत्यादि बहुविध वचन चित्तपरक हैं।

अपने सर्वाराध्य अखिलब्रह्माण्डाधीश्वर वृन्दावनविहारी नित्यनिकुञ्जविहारी सर्वेश्वर युगलकियोर श्यामाश्याम श्रीराधामाधव प्रभु के श्रीपदाम्बुजों में मन को अभिरत करना ही मानव जीवन का सार सर्वस्व है और यही श्रीभगवन्निम्बार्काचार्योपदिष्ट अपनी जीवनचर्या में मनोनिग्रह का सर्वोत्कृष्ट सदुपदेश निरूपित हुआ है जो सर्वदा अपने मानस में अवधारणीय है।

पर्यावरण निवारणार्थ वृक्षारोपण नितान्त आवश्यक है

वर्तमान समय में चतुर्दिक् पर्यावरण की स्थिति परम चिन्तनीय एवं अतिशय संक्रामक है। प्रशासक वर्ग तथा समस्त जन-मानस को इस दिशा की और दृष्टिपात नितान्त रूपेण किया जाना अत्यन्त अनिवार्य है।

यह प्रस्तुत प्रसङ्ग केवल कथन लेखन तक ही सिमित न रहे, वस्तुतः इसे कार्यान्वित किया जाना सर्वरीत्या अपेक्षित है। हमारे पुराणादि शास्त्रों संस्कृत वाङ्मय महाकाव्यों में ऋषि-मुनियों द्वारा उनके आश्रम एवं आश्रम के निकटवर्ती क्षेत्रों परिसरों में वृक्षारोपण का प्रसङ्ग ब्रह्मचारी वटुकों द्वारा उनकी जल सेचनादि कार्यों का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन है। उनके आश्रमों में स्थित तरु-लताओं का इतना मनोहारी चित्रण है जिसे मनन करने पर हृदय में असीम आनन्दानुभूति होती है जिसका निरूपण अशक्य है। उन आश्रमों के सन्निकट पर्वतमालाओं उपत्यकाओं निर्झर-प्रपातों गभीरधारा परिपूर्ण पुण्यसलिला सरिताओं का मञ्जुल वर्णन अन्तर्मानस को आकृष्ट करता है।

अतः वृक्षारोपण का कार्य समग्रदृष्टि से अत्यन्त आवश्यक एवं परम धर्म और महान् कार्य है। इसी प्रकार इस साम्प्रतिक समय में श्रीगंगा-यमुना प्रभृति इन पुण्यतोया सरिताओं में जो प्रदूषण की अवस्था चल रही है वह भी अतीव घातक है। इनमें हो रहे प्रदूषण के निरोधार्थ स्वयं भारत सरकार तत्काल इस कार्य को प्राथमिकता दें जिसे उस परम पवित्र वारिधारा में पूर्णतः निर्मलता स्वच्छता सुभगता अवस्थित रहे। इसमें विलम्ब करना अहितकर है। अतः भारतदेश के प्रशासक वर्ग इन उभयविध कार्यों का पूर्णतः परिपालन कर इस सर्वोच्च कार्य को सम्पादित करे। प्रत्येक भारतवासियों का भी यह परमधर्म है कि वे मनसा-वाचा-कर्मणा इस महनीय कार्य में तत्पर हो जाँय।

*

अनन्त विभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर



श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधा-सर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री श्रीजी महाराज का जन्म विक्रम संवत 1986 वैशाख शुक्ल 1 शुक्रवार तदनुसार दिनांक 10 मई, 1929 को निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) में हुआ। अपकी माताश्री का नाम स्वर्णलता (सोनीबाई) एवं पिताश्री का नाम श्रीरामनाथजी शर्मा गौड़ इन्दोरिया था। आप जैसे नक्षत्रधारी महापुरुष के जन्म से यह विप्र वंश धन्य हुआ है। आपश्री 11 वर्ष की अल्पावस्था में वि.सं. 1997 आषाढ़ शुक्ल 2 रविवार (रथयात्रा) के शुभावसर पर अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीबालकृष्णशरणदेवाचार्य श्री श्रीजी महाराज से वैष्णवी दीक्षा से दीक्षित होकर पीठ के उत्तराधिकारी नियुक्त हुए। वि.सं. 2000 में पूज्य गुरुदेव के गोलोकवास होने पर 14 वर्ष की अवस्था में ज्येष्ठ शुक्ल 2 शनिवार दिनांक 5 जून 1943 को आचार्यपीठ पर आसीन हुए। तदनन्तर 4 वर्ष तक श्रीधाम वृन्दावन में न्याय-व्याकरण-वेदान्त आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। वज्रविदेही चतु:सम्प्रदाय श्रीमहन्त श्री धनञ्जयदासजी काठिया बाबा महाराज तर्क-तर्कतीर्थ जैसे महानुभावों का आपको संरक्षण प्राप्त हुआ। आपश्री के आचार्यत्वकाल में वैष्णव चतु:सम्प्रदायों के आचार्यों, श्रीमहन्तों, सन्त महात्माओं, समस्त शंकराचार्यों श्रीकरपात्रीजी महाराज, महामण्डलेश्वरों, देश के मूर्धन्य मनीषियों, राजा-महाराजाओं, राजनेताओं के साथ निकटतम घनिष्ठ सम्पर्क बढ़ा। श्री निम्बार्क सम्प्रदाय का चतुर्दिक् विस्तार हुआ। वि.सं. 2001 में आपश्री ने 15 वर्ष की अवस्था में कुरुक्षेत्र के विराट् साधु सम्मेलन में जगद्गुरु पुरीपीठाधीश्वर श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज के तत्त्वावधान में अध्यक्ष पद को अलंकृत किया।

आपश्री के कार्यकाल में तीनधाम सप्तपुरी की यात्रा सम्पन्न हुई। प्रयाग, हरिद्वार (वृन्दावन), उज्जैन, नासिक इन चारों स्थानों के कुम्भ पर्वों पर अनेकश: श्रीनिम्बार्कनगर में समायोजित धार्मिक अनुष्ठानों, धर्माचार्यों के सदुपदेशों, विविध सम्मेलनों द्वारा समग्र जन समुदाया को सन्मार्ग की ओर प्रेरित किया जाता है। इसी प्रकार सं. 2026 में वज्रयात्रा, 2031 में विराट् सनातन धर्म सम्मेलन, 2047 में श्रीमुरारी बापू की रामकथा, 2050 में स्वर्ण जयन्ती समारोह के अवसर पर अ.भा. विराट् सनातन धर्म सम्मेलन, 2061 में श्री भगवन्निम्बार्काचार्य 5100वां जयन्ती महोत्सव पर विराट् सनातनधर्म सम्मेलन, 2062 में युगसन्त श्रीमुरारीबापू द्वारा श्रीरामकथा, 2063 में श्रीरमेश भाई ओझा द्वारा श्रीमद्भागवत कथा आदि आयोजनों द्वारा जो धार्मिक चेतना जन-जन में स्फुरित करायी गयी वह सदा स्मरणीय है। प्रत्येक अधिकमास में आचार्यपीठ पर आयोजित होने वाले अष्टोत्तरशतभागवत, यज्ञानुष्ठान, प्रवचन श्रीरासलीलानुकरण आदि कार्यक्रम भी सदा प्रेरणाप्रद रहते हैं। आप द्वारा प्रतिदिन किया जाने वाला श्रीयुगलनाम-संकीर्तन भी श्रवणीय होता है। सन् 1966 में दिल्ली के विराट् गो-रक्षा सम्मेलन में आपश्री का सपरिकर पादार्पण हुआ था। इस अवसर पर स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज एवं अन्य धर्माचार्यों से जो महनीय विचार विमर्श हुआ वह परम ऐतिहासिक है।

आपश्री ने अपने आचार्यत्व काल में जितना देश-देशान्तरों में सम्प्रदाय का वर्चस्व बढ़ाया है उतना ही देवालयों के निर्माण, जीर्णोद्धार, शैक्षणिक संस्थाओं का निर्माण-संचालन, साहित्य प्रकाशन, नूतन ग्रन्थ रचना, गोशाला, मुद्रणालय आदि संस्थाओं द्वारा आचार्यपीठ का सर्वतोभावेन विकास किया है। आपश्री द्वारा रचित भारत-कल्पतरु ग्रन्थ का विमोचन भारत के उपराष्ट्रपति श्रीशंकरदयालजी शर्मा ने दिल्ली में किया। इसी प्रकार आपके अन्य ग्रन्थों का मूर्द्धन्य राजनेताओं, शीर्षस्थ महापुरुषों, जगद्गुरुओं द्वारा विमोचन समारोह सम्पन्न हुये हैं। एवं आप द्वारा प्रणीत रचनाओं पर तीन-चार शोधप्रबन्ध भी प्रस्तुत हुए हैं जो मननीय हैं। अस्वस्थ अवस्था में भी आप निरन्तर क्रियाशील रहते है। आपश्री का संरक्षण पाकर और आपश्री के महान् व्यक्तित्व व कृतित्व से श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय किंवा सनातन धर्म जगत् विशेषत: उपकृत हुआ है। आपके मधुर दर्शन की एक झलक पाने और आपश्री के वचनामृत सुनने के लिए धार्मिक जन सदा समुत्सुक रहते हैं।